

द्वैत-वेदान्त का तात्विक अनुशीलन

(जबलपुर विश्वविद्यालय की पी एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबंध)

लेखक

डॉ० कृष्णकांत चतुर्वेदी

एम ए० पी एच० डी०

विभागाध्यक्ष—संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर

प्रकाशक

विद्या प्रकाशन मन्दिर

२६ दिल्ली-११०००२

© लेखक

मूल्य	र० पतालीस मात्र
संस्करण	1980
प्रकाशक	विद्या प्रकाशन मंदिर, 1681 दरियागज दिल्ली 110002
मुद्रक	हरिहर प्रेस चावडी बाजार, दिल्ली 6

Dwait Vedant Ka Tatvik Anushilan
by Dr Krishnakant Chaturvedi

Rs 45 00

गमपंगु

वत्स अद्वैत आत्मनीय श्री तारिणी प्रसन्न नामक
स्वात्मसूत्रि मन्त्रार्थ उक्त स्वात्मपत्र, ब्रह्मपुर—

स्वात्तु सुखम् । सुखानन्दम् । आत्मम् ।
स्वात्मस्वम् । सुखानन्दम् । प्रसन्नम् ।
स्वात्मम् । स्वस्वम् । स्वस्वम् ।
स्वात्मम् । स्वस्वम् । स्वस्वम् ॥

ब्रह्मपुरी ब्रह्मपुरम्

प्रतिकथन

भारतीय दान की श्रुति मूलक एवं उससे भिन्न चिंतन परम्पराओं में बदलते सम्प्रदाय की महती प्रतिष्ठा है। दान की अथ सरणिया की अपेक्षा इसमें विपुल ग्रथ सम्पत्ति, कालक्षय व उपरांत भी अद्यावधि प्रतिष्ठा एवं अनेक अवान्तर मत प्राप्त होते हैं। इन विशेषताओं के कारण भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अत्यन्त उत्साह पूर्वक इनका अध्ययन किया। प्रस्थान ग्रंथों पर आधारित बदांत सम्प्रदाय के धारक, भास्कर रामानुज, निम्बाक, बल्लभ मध्व आदि आचार्यों द्वारा स्थापित ज्ञानमत प्राप्त होते हैं। इसमें भी गुरु के गुणार्थ एवं रामानुज के विविष्टा द्वैत का आधुनिक विद्वानों के द्वारा भी अत्यन्त विवाद अध्ययन किया गया। निम्बाक, बल्लभ एवं मध्व आदि आचार्यों के साहित्य का मूल्यांकन एवं प्रस्तुतीकरण सत्तापवाद शैलियों से अभी तक नहीं हो पाया है। रामानुज के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कर, निम्बाक एवं बल्लभ मूलतः रामानुज से भिन्न दृष्टि नहीं रखते। ये सभी आचार्य अद्वैत एवं द्वैत मान्यताओं के मध्य वग का अन्वेषण करके समन्वय स्थापित करना चाहते हैं। आधुनिक रूप में उनकी आस्था अद्वैतयोगी ही है। समान सत्ता पर आधारित होत हुए भी मध्व की दृष्टि आचार्यों से सर्वथा भिन्न भेद प्रतिपादिका है। परिणामतः निम्बाक, बल्लभ आदि की अज्ञान मध्व के अध्ययन की विषय आवश्यकता है। ईश्वर जीव एवं जड़ तत्त्व की परस्पर भिन्न सत्ता मानना चाहते, श्रुति-ममान्ताय में प्रतिपादित विचार-क्रम की शुद्धिपूर्वक दान-सम्प्रदाय के रूप में मध्व द्वारा की गई प्रतिष्ठा का अखण्ड विवेचन ही अत्यन्त आवश्यक है। डा० एम० एन० दासगुप्ता के अतिरिक्त किसी भी अन्य दान के दृष्टिगतकारक न इसके विषय में तटस्थता ही विस्तृत विवेचन नहीं किया। इसीलिए वेदान्त सम्प्रदाय के प्रथम आचार्यों के विशद सीमान्त स्वर का प्रतिष्ठा करने वाले द्वैत मत के साहित्यिक अनुशीलन की प्रस्तुत ग्रथ का विवेचन बनाना गया है।

मध्व भेद की पूर्ण प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। द्वैत मत की स्थापना में मूलतः तत्त्व त्रितय-ईश्वर, जीव एवं जड़ की परस्पर भिन्न स्थिति ही स्वीकृत है। पञ्चभेद का इसीलिए इस मत में सर्वाधिक महत्त्व है।

प्रस्तुत ग्रथ में उक्त दृष्टि से ही तार्किक मान्यताओं का प्रतिपादन है। अतः

के वर्गीकरण के प्रसंग में मध्व ने स्वयं स्वतन्त्र एवं अस्वतन्त्र तत्वों को स्वीकार किया है। स्वतन्त्र तत्व ईश्वर एवं उससे भिन्न, अस्वतन्त्र तत्व जीव और जड़ हैं। इन्हीं तत्वों का स्वरूपगत उपयोग, मूल सस्कृत ग्रंथों के आधार पर किया गया है। तत्व के अभिप्राय मध्व की सम्पूर्ण दशन-मीमांसा से नहीं, अपितु पराधीन एवं स्वाधीन मूल तत्वों से हैं। इन तत्वों के पारस्परिक संबंधों का विवेचन भी प्रसंग प्राप्त है। इसलिए भेद के स्वरूप एवं प्रकार को भी ग्रंथ की सीमा रेखा के अंतर्गत ही स्वीकार किया गया है। स्वभावतः प्रमाण मीमांसा मोक्ष साधन विचार, मोक्षावस्था आदि विषय मुख्य रूप से प्रतिपाद्य न होकर गौणरूप में ही विवक्षित हैं। अन्य वेदांत सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवेचन तुलना के हेतु तथा इतिहास परक भाग पृच्छभूमि की स्पष्टता के लिए उपनिबद्ध किया गया है।

प्रस्तुत ग्रंथ में तटस्थ बर्तन की यत्न पूर्वक रक्षा करते हुए तत्व त्रय के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत है। मूल सस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त सामग्री की अत्यन्त अनुपलब्धि के कारण प्रायः उन्हीं का उपयोग हुआ है। अप्रत्यात किन्तु विद्वान् टीकाकारों की सहायता विषय प्रतिपादन के हेतु ली गई है। मध्व स्वीकृत भेद का स्वरूप एवं समीक्षा, अन्य सम्प्रदाय से संबंध सम्प्रदाय का दान एवं साहित्य के इतिहास संबंधी समीक्षात्मक विवेचन आदि, कदाचित् प्रथम बार इसी ग्रंथ में उद्भावित हुए हैं।

प्रथम अध्याय में वेदान्त अभिपान का हेतु वेद उपनिषद् गीता, योगशाशिष्ठ, गौडपाद एवं ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित तत्व चिन्ता का यादयान किया गया है। इसके अतिरिक्त शंकर, मास्कर रामानुज एवं जड़ संबंधी विवेचन को समाहित किया गया है।

दूसरे अध्याय में द्वैतात्मक दृष्टि से प्राचीन साहित्य का सर्वोत्तम मध्व के पूर्व बर्ती आचार्य एवं मध्व के विषय में विवरण दिया गया है। मध्व के उपरान्त प्राचीन टीकाकारों के नाम से प्रसिद्ध पद्मनामतीर्थ आदि आचार्यों का उल्लेख है। तदुपरान्त जयतीर्थ, यासतीर्थ तथा अन्य परवर्ती प्रमुख लेखकों के साहित्य एवं काल-क्रम को इतिहासानुबन्धि दृष्टि से निरूपित करने का प्रयास है। अन्त में वर्तमान युग में आधुनिक भाषाओं में निमित्त साहित्य एवं संस्थाओं द्वारा किया जा रहा प्रचार कार्य का उल्लेख है।

तीसरे अध्याय में मध्व की तत्व मीमांसा एवं वर्गीकरण का उल्लेख है। इस प्रकार के पदार्थों का स्वरूप विभाग आदि का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय इसलिए पर्याप्त महत्त्व का है कि वह भेद का स्वरूपादि से संबंधित है। प्रारंभ में मध्व मत में भेद की महत्ता के प्रतिपादन के उपरान्त इस

सम्प्रदाय में स्वीकृत स्वरूपभेद का अद्वैत दृष्टि से खण्डन प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर द्वैत सम्प्रदाय के विद्वान् जयतीर्थ एवं व्यासतीर्थीदि के प्रत्युत्तरों को विवेचित किया गया है। अतः मधुसूदन की मध्व विरोधी युक्तियाँ उपस्थित करते हुए भेद-स्वरूप की भीमासा की गई है। मध्व-सम्मत पाँच प्रकार के भेद भी इसी में वर्णित हैं।

पाचवें अध्याय में ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित है। ईश्वर को मानने में प्रभावी मनोवृत्ति का उल्लेख प्रारम्भ में किया गया है। प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य में मध्व के द्वारा ईश्वर के रूप में व्याख्यात विष्णु तत्त्व के स्वरूप की विवेचना, विभिन्न दशान सम्प्रदायों की ईश्वर विषयक मायनाएँ पृष्ठभूमि के रूप में समझी हैं। तदुपरांत मध्व सम्मत ईश्वर के स्वरूप का सुबिस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

छठवें अध्याय में जीव सबन्धी विवेचना है। पृष्ठभूमि के स्पष्टीकरण के हेतु ईश्वरतत्त्व के व्याख्यान में स्वीकृत पद्धति को अपनाया गया है। जीव के स्वरूप के विविध पक्षा पर जमे चैतन्यात्मकता, नेयत्व सविनेयत्व, ईश्वराधीनत्व, नित्यत्व आदि पर विशद व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। जीव का बन्ध, मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में भक्ति की प्रतिष्ठा आदि भी इसी अध्याय में सर्वमिन है।

सातवें अध्याय में मध्व की जगत् सबन्धी मायताओं का आकलन किया गया है। जगत् की वान्तविकता का खण्डन मण्डन परक विवेचन सृष्टि प्रक्रिया, कारणकाय के विषय में मध्व की दृष्टि ईश्वर की निमित्त कारणता आदि विषयों पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

आठवें अध्याय में मध्व ने पूववर्ती चिन्तन परम्परा में से किन किन तत्वों का ग्रहण अपने सम्प्रदाय के निर्माण हेतु किया था ? पूववर्ती दशान सम्प्रदायों में किन तत्त्वों की अपेक्षा का अनुभव करते हुए प्रतिक्रिया स्वरूप मध्व ने अपने मत की स्थापना की ? उन प्रश्नों पर विचार करते हुए तत्त्व भीमासा में अथ दशान सम्प्रदायों से समझी मायनाओं का उल्लेख भी इस अध्याय में किया गया है। मन्वन्तर-काल के अनेक मतों और सम्प्रदायों को इस मत ने प्रभावित किया, जिनका उल्लेख यथावसर हुआ है।

उपसंहार में वैष्णव मत की मायता एवं दशान की तत्त्वज्ञान विषयिणी विवक्षा का सम्यक् समन्वय, अनुपलब्ध सम्मों का समस्या, यथायवादी परम्परा में मध्व का स्थान, एवं भिन्न प्रतिष्ठा आदि विषयों का विवेचन है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में द्वैत वान्त का सात्विक परिचय एवं अनुशीलन ही है। इसका उद्देश्य ही यह रहा है कि मध्व की मूल दृष्टि एवं तदन्तवर्ती अपेक्षित

विवेचन इतम सम्यक् रीति से आ जावे । लक्ष्य की सफलता का निणय मुधीजन ही करेंगे ।

इस गोध प्रवच पर मेरे स्वाध्याय और प्रवचन के आधय जबलपुर विश्व विद्यालय द्वारा पी एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है ।

इस काय को पूण करने में मेरे निर्णेक श्रद्धेय डा० हीराताल जन, भूतपूव आचाय एव अध्यक्ष—संस्कृत पालि एव प्राकृत विभाग जबलपुर विश्वविद्यालय की सजग दष्टि एव प्रेरक कृपा कारण रही है । दगन के प्रफाण्ड पण्डित डा० चन्द्रधर गर्मा आचाय एव अध्यक्ष—दगनशास्त्र विभाग जबलपुर विश्वविद्यालय के ही माग दशन में यह गोध विषय निश्चित हुआ था ।

श्रद्धेय गुरुवय डा० प्रभुत्माल अग्निहोत्री सचातक मध्यप्रदेश हिंदी ग्रथ अकादमी भापाल बा बत्सल एव प्रेरक स्नेह विद्यार्थी जीवन से ही मुझे निरंतर प्राप्त हुआ है । वे मेरी प्ररणा के स्थायी उत्स है । इस ग्रथ की भूमिका लिखकर उहोने मुझ पर विनेय कृपा की है ।

सम्माय डा० श्रीनाथ श्रीपाद हसूरकर प्राचाय गसकीय महाविद्यालय शहडोल म० प्र० ने मेरे मन म दगन क प्रति रचि एव प्रवृत्ति उत्पन की है । स्वर्गीय श्रद्धेय डा० रामबली पाण्डेय ने अत्यन्त कृपापूवक निरंतर प्रोत्साहन एव मागदशन मुझे प्रदान किया है । आचाय बलदेव उपाध्याय वाराणसी, डा० हरिमोहन झा अध्यक्ष—दगन शास्त्र विभाग पटना विश्वविद्यालय डा० न० कि० देवराज आचाय एव अध्यक्ष दगन शास्त्र विभाग वाराणसी विश्वविद्यालय न गोध प्रवच का परीक्षण करके आवश्यक िर्णेक प्रदान किये हैं । इन सभी पूज्य जना के प्रति अपनी हादिक कृतज्ञा व्यक्त करना मेरा पुनीत दायित्व है ।

यह काय प्रकाग म न जा पाता यकि बंधुवर श्री अमरनाथ गुबल स्वत्वाधिकारी विद्या प्रकागन मदिर इसके प्रकागन मे रचि न लर । उन समस्त ग्रथकारो के प्रति अपने अतस की सम्पूण श्रद्धा यक्त करना मेरा सुखद कतय है जिनके वचन इस ग्रथ म जनिवाय अवयव है ।

आपाठ गुबल १५ सबत् २०२८

कृष्णशान्त चतुर्वेदी

गुरुवार गुरुपूणिमा ८ जुलाई १९७१

भूमिका

भारत की सर्वोत्कृष्ट निधि उसका दशन है। सत्यता के उपकाल में ही उसने सोचना प्रारम्भ कर दिया था—

‘कुत आजाता कुत इय तिमृष्टि ?’ १

किमा वगोय कुह कस्य शम नम किमामोद् गहृ गमोरम् ? २
कस्म देवाय हविषा विधेम ? ३

और इन प्रश्नों का उत्तर भी अपने ढंग से द लिमा था—

‘कामस्तदग्र समवतत १ । मद् तमजासोन् तमसागुडमग्रे २।’

“यो अस्याप्यक्ष परमेव्योमन्सो अङ्ग वेद यश्चि वा न वे” ३।’

यह सारा चिन्ता इस बात को मानकर चला कि प्रतीयमान सृष्टि का मूल इससे व्यतिरिक्त कोई सूत्र तत्त्व है और जिनासु स्वयं दृश्यमान नाम रूपमय आर्ति से भिन्न है। आर्ति आत्मा (स्वयम्) या अहम् नहीं है। प्रतीयमान जगत् और भावमान ‘अहम्’ से व्यतिरिक्त कोई तृतीय तत्त्व भी है जो इन दोनों का नियन्ता है। सम्भव है, वह ही दोनों का उपादान है। उपादान न हो तो भा निमित्त ता है ही। उसकी सत्ता में मनीषी को सन्देह नहीं था। कम से कम वैदिक साहित्य में तो कहा सदेह की गद्य नहीं है। यह निश्चित रूप से मान लिया गया कि प्रकृति, आत्मा और हिरण्यगर्भ ये तीन मूल तत्त्व हैं, जिनमें अन्तिम, जिसे अनेक नामों से अभिहित किया जा सकता है, इस सब का आधार है। उसी पर पृथ्वी, अंतरिक्ष और दिव टिके हुए हैं—‘येन द्यौरथा पृथिवी चदृढा यत स्व स्तमित येन नाक ।’

नसृष्टि का बारंबार जैसे-जैसे आगे बढ़ा इन विषयों का ऊहापोह पुष्ट से पुष्टतर और सूत्र से सूत्रतर होना गया—यहाँ तक कि बुद्ध समय के लिये उसने समग्र भारतीय चिन्ता को आत्मसात् कर लिया है। खोज की यह प्रक्रिया बुद्ध गिन चुने प्रबुद्ध लोगों तक सीमित न रहकर जन सामान्य की चिन्ता का विषय बन गई।

प्रत्येक समाज की जीवन-व्यवस्था में लौकिक और अलौकिक अंश पाये जाते हैं। यह अंश सभ्य और असभ्य दोनों समाजों पर लागू होनी है। दिन प्रतिदिन की

उवा देने वाली चर्चा व बीच मनुष्य अलौकिक व सहारे कुछ धना व लिय विश्वास लाभ करता है। इस अलौकिक चर्चा के दो अङ्ग हैं—धार्मिक विधियाँ और दार्शनिक चिन्ता। धार्मिक विधियाँ व्यवहार की वस्तु होती हैं किन्तु दार्शनिक चिन्ता का विषय होता है। काफी दूर तक य दाना साथ चलत है कि तु कभी कभी और एक सीमा व बाद तो निश्चित ही उनके माग पृथक हो जात हैं। कई बार य जापस म टकरा भी जात है और जब एसा हुआ तब-तब दार्शनिक को दण्डित होना पडा। विश्व व कई बड़े बड़े धर्मों का इतिहास साम्प्रदायिक रूढ़ियाँ और दार्शनिक चिन्तन व मध्य सघप की कहानी है। इनम कई व हाथा तो दार्शनिक को इतनी कराल यातनायें भागना पडी कि उनकी कल्पनामात्र से मानवता सिहर उठती है।

सोभाग्यवश भारत म एसा नहीं हुआ। यहाँ साम्प्रदायिक जाचार दार्शनिक को आच्छादित नहीं कर सका। आचार अपनी जगह पर रहा और दार्शनिक अपने स्थान पर। साम्प्रदायिक प्रचार पद्धतियाँ म विभिन्ता रही विरोध नहीं और सघप तो कल्पि नहीं। दार्शनिक क्षेत्र म हर पक्षी को स्वच्छन्द उड़ान भरने का अवसर मिला। पतन वन्दुमुखी दार्शनिक विचारधाराओं का प्रवर्तन हुआ। य विचारधारायें एक ही सत्य व अवेपण म विभिन्न और कभी कभी अत्यन्त विपरीत दिशाओं में चली। इनम विरोध भी हुआ और मध्य भी। फिर भी यह सघप सत्य के सच्च जिज्ञासु को अकुलाहट थी। एक दूसरे पर भयकर प्रहार करते हुए भी य चिन्तक जीवन पद्धति की दृष्टि से एक ही धरातल पर खड़े थे। अपरिग्रह आहंसा ब्रह्मचर्य सत्य य इन सबके आधार स्तम्भ थे। भारत म धर्म और दार्शनिक का विकास साथ साथ हुआ। व एक दूसरे क पूरक बनकर बढ़े। यहाँ धर्म के बिना दर्शन और दर्शन के बिना धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती। अस्तिकता नास्तिकता आत्मवाद अनात्मवाद एकत्व द्वित्व त्रित्व और अनेकत्व सब एक साथ अकुरित पलनवित पुष्पिन और फलित होन रहे।

भारतीय धर्म और दर्शन के इस पक्ष से अपरिचित होने व कारण पाश्चात्य समीक्षकों एव इतिहास लेखकों न इस विषय में बड़ी भान्त बातें कही हैं। योरोप म होने वाले धार्मिक सघपों की पृष्ठभूमि में पनपा हुआ पाश्चात्य समीक्षक बौद्ध और जन धर्मों के प्रवर्तन म क्षत्रिय ब्राह्मण विरोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पाया। उसकी दृष्टि म भारतीय ब्राह्मण और ईसाई पालरी एक है और ब्राह्मणों के कमकाण्ठ के विरोध म क्षत्रियों का उठ खडा होना ही इन धर्मों क उत्थान का कारण है। इन आलोचकों ने ब्राह्मण विरोध के बीच उपनिषदाँ म भी देख और स्पष्ट धोपणा कर दी कि भारत म दर्शन धर्म की प्रतिक्रिया में खडा हुआ जिसका स्पष्ट परिणाम हुआ ब्राह्मण क्षत्रिय सघप। इसी कौटिक के समीक्षकों ने आय अनाद सघप का नारा उचा

किया था जिसका राजनीतिक फल हम दीर्घकाल से भोग रहे हैं। दुर्भाग्य से भारतीय विश्वविद्यालयों में जहाँ हर योरोपीय लेखक की बात बंदबाक्य मानी जाती है आज भी उन भ्रातृपूण और घातक निष्कर्षों पर विश्वास करने के लिये विद्यार्थियों को प्रेरित किया जाता है। ये बातें इस धारणा पर आधारित हैं कि भारत में जो कुछ घटित हुआ उसे योरोपीय इतिहास के किसी पृष्ठ से सम्बद्ध होना ही चाहिये।

किन्तु भारत योरोप नहीं है और न बर्दिक धम या औपनिषदिक चिन्तन ईसाई सम्प्रदाय का जेबी सस्करण। यहाँ क्षत्रिय और ब्राह्मण कभी विरोधी बनकर नहीं रहे। यन् यागो में ब्राह्मणों को कभी इतनी दरिणा नहीं मिली कि वे उससे बड़े प्रासाद खन कर सकने। बर्दिक युगीन ब्राह्मणों ने अपने लिये यदि किसी वस्तु का वरण किया तो वह था—दारिद्र्य। कुम्भीघाय' रहता ब्राह्मण का आश्रय था। क्षत्रिय बंद और ग्रास्य-ममन होत थे अपठ नहीं कि कोई ब्राह्मण उन्हें जाल में फसाकर मनमानी दक्षिणा प्राप्त कर लेता। बौद्ध धम के प्रवक्तक अवश्य क्षत्रिय थे, किन्तु जैन धम के नहीं। महावीर भूमिहार ब्राह्मण थे। इन दोनों के प्रमुख शिष्य ब्राह्मण थे और ब्राह्मणों ने उन धर्मों के दर्शन काय एव कला की लोक विश्रुत बनाया। योरोपीय संस्कृति में प्रभावित बीसवीं शताब्दी में भी इस देश में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच परम्परा से चला आता हुआ यह पूम पूरक भाव तथा सीहाद प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

इस तरह स्नेहमय सख्य तथा आरमीयता भरे मत वैमिथ्य के आलवाल में भारतीय दर्शन की विंगोना वनरी' पल्लवित हुई और जो जिनासा, उक्णामात्र में प्रेरित थी, वह आग चलकर प्रयोजनवती बन गई। जिनासु के मन में प्रदन उठने लगा येनाहममृत स्या किमह तेन कुयाम्। बात जान से आगे प्रयत्न तक पहुँच गई। उपनिषद काल में भारतीय चिंतक बहुमुखी खोज में प्रवृत्त हुए। उन्होंने मन हृदय वाच आत्मा ब्रह्म पंचतत्व, सृष्टि प्रलय बंध मोक्ष सभी पर पुथक्-पुथक् अतिक्रोणा से विचार किया और स्वतंत्र निष्कष प्रस्तुत किये। इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात थी ब्रह्म की सर्वोपरिता की स्वीकृति। बहुदारण्यक के निम्न कथन में इस बात का मार आ गया है —

म यथा सद्यधिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायथ स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत सवणमेवं वा अर इद महद्ब्रून मनःतमपार विज्ञानधन एवतेभ्यो भूतम्य समुत्पाद्य तापेजानु विन यति न प्रेपसज्ञा म्नीति।

स्वभावतः यह भाष्यता पुरुष एवद सब यद्भूत पृथक् भव्यम् न परिणत हुई और इनने जिम आस्था को न म दिया उसे अज्ञतवा' के नाम से अभिहित किया गया।

आगे चलकर शंकराचार्य ने इसी भित्ति पर महान् प्रासाद सजा किया । उपनिषद् का यह वाक्य उनका आधार बना—

यत्र हि द्वतमिव भवति तदितर इतर जिप्रति, तदितर इतर पश्यति । यत्र वा अस्म्य सवमात्मवा भूस्तत्वेन क पश्येद् येनेद सय विजानाति त केन विजानीयादिव ज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।

अद्वत वेदान्त के वाक्य पञ्चक का मूल यही है । शंकर का अद्वत पूर्ववर्ती समस्त आस्तिक नास्तिक ब्रह्मिक अवैकिक मायताआ को अपने साथ बहा ले गया । शंकर न प्रस्थान त्रयी म वेदा के जय का उद्घोष करके भी सहिताआ को पीछे छोड़ दिया । लोकायता और आजीवको से लेकर बौद्धों और जैना तक की अपन समय तक प्रचलित दार्शनिक मायताआ को मा तो उहान आत्मस्य कर लिया या तीक्ष्ण तक प्रहारा से विक्षत कर छोड़ दिया । दशन के क्षेत्र मे उनस पहल या बाद म कभी इतनी बड़ी प्राप्ति देसन मे नही जायी । शंकर ने वदान्त शान्त को नया अर्थ दिया । उहाने अनको नयी परिभाषायें कयी । बहुत से शब्दा का अर्थ बदला न जाने कितनी ऋचाआ को नय अर्थ के परिधान से अलङ्कृत किया । और तब दशन का एक ही अर्थ हुआ अद्वैत । अद्वत का तात्पय बना आत्म पान । जात्मा जो नित्य, शुद्ध बुद्ध मुक्त, प्रकाश स्वरूप है उसका सत्य पान ।

जब आत्मा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है ता कय कसा ? इम मायता न नवीन आशावाद को ज म दिया—एक ऐसा आशावाद, जिसके प्रकाश म सारे भेदभाव विनष्ट हो जाते हैं —

नाह मनुष्यो न च देवपक्षो न ब्राह्मण क्षत्रियवश्यसूद ।

न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुनचाह निज बोध रूप ॥

शंकर के विगुद्ध अद्वतवाद के प्रायगोशुहात हो जान पर भी कुछ परवर्ती आचार्यों ने उसम आगिक विप्रतिपत्ति प्रकट की । इनम रामानुज और मध्व का नाम प्रमुख है । आचार्य मध्व ने उसम कई सशोधन कर द्रत वेदान्त की प्रतिष्ठा की । डा० चतुर्वेदी का प्रस्तुत प्राय मध्वाचार्य के द्रत वेदान्त पर प्रकाश डालता है ।

मध्वाचार्य का जन्म ईसा की तरहवा शताब्दी म मसूर रा य क उडिपी गाँव म हुआ था । उनका बचपन का नाम वामुदेव था । शंकर के समान ये भी बाल्यावस्था म ही अध्ययन पूण कर १६ वष की आयु म श्री अच्युतप्रेक्ष स सत्यास ग्रहण कर देश भ्रमण के लिये निकल गय । गुरु न उह पूण प्रन नाम दिया था । भारत भर का भ्रमण कर उ हान प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा । इनकी लगभग सतीस रचनाआ म शीता भाष्य अणु वार्यान जणभाष्य और भागवत तात्पय जादि प्रमुख हैं । मन्व

की विशेषता है, उनकी सामासिक शैली। मध्व के प्रमुख व्याख्याकार जयतीय एवं व्यासतीय हैं जिनके प्रमुख ग्रंथ हैं—न्यायमुद्रा एवं पापामृत।

मध्व और रामानुज दोनों न ही शंकर के समान प्रत्यानवयी को प्रमाण माना। दोनों ने ब्रह्म के सगुण रूप को स्वीकार किया। उसे विष्णु, नारायण और वामुदेव के रूप में अभिहित किया एवं अवतारवाद पर आस्था प्रकट की। अन्तर केवल इतना कि रामानुज ने अवतारों में ईश्वर के 'सूतगुणा' का आविर्भाव माना जबकि मध्व ने उन्हें ईश्वर के समान गुणा से युक्त स्वीकार किया। सापक्ष होने के कारण शंकर का अद्वैत बड़ा ही मन्द प्रत्यय अग्राह्य है। उसमें भेद रहित निगुण ब्रह्म की सत्ता स्वीकृत की गयी है। रामानुज ने ब्रह्म को जीव और जगत् से विगिष्ट माना किन्तु ब्रह्म से उनकी अपृथक्ता होने के कारण उनका अभेद प्रतिपादित किया। मध्व ने ब्रह्म का जीव और जड से स्पष्ट भेद सिद्ध किया। मध्व ने शंकर के सापेक्ष सिद्धान्त के विरुद्ध यह तक दिया कि भेद प्रत्यय स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं, क्योंकि वह धर्म स्वरूप होता है। 'मीलिय' म मत में न केवल ईश्वर जीव, जीव-जीव, ईश्वर जड एवं जीव जड का बीच में की स्वीकार किया गया है, अपितु जड और जड के बीच भी भेद माना गया है।

पूणार्थों को भिन्न स्वरूप मान लेने से मध्व का मत अनेकत्ववादी हो गया है। यद्यपि यह अनेकत्ववाद 'याप' विशेष एवं द्वैतवादी साध्य से सवधा भिन्न है। यायात् में एक से अधिक सत्ता की सत्ता स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है, किन्तु मध्व के अनुसार द्रव्यादि की विश्रमानता ईश्वर का अनुग्रह के कारण ही है। उनके मत में एक ब्रह्म ही स्वभाव प्रमिति प्रवृत्ति और सत्ता की दृष्टि से पूणत आत्मनिभर एवं स्वतंत्र है। यह मत ब्रह्म और जीव एवं जगत् के बीच न तो शंकर के अधिष्ठान आरोप्यवाद को और न रामानुज के 'शरीर' शरीर माव को स्वीकार करता है। अपितु यह उसमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव को निदिष्ट करता है। त्रिम प्रकार प्रतिबिम्ब की सत्ता, प्रतीति एवं प्रवृत्ति बिम्ब पर आश्रित होती है। उमी प्रकार जीव एवं जगत् की सत्तादि भी ब्रह्म पर निभर है। पूणग्रन्थ दान में कहा है —

द्रव्य कृतिश्च कालस्य स्वभावो जीव एव च ।
यदनुग्रहत सति न सति यदुपशया ॥

रामानुज ब्रह्म के ही विशिष्ट जगत् से जीव और जगत् की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु मध्व नहीं। मध्व के मत में ईश्वर निमित्त कारण है, उपादान नहीं। यद्यपि ब्रह्म का अथ द्रव्यों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण एक प्रकार से ब्रह्म को उनका उपादान माना जा सकता है। इसीलिये यह मत द्वैतवादी होकर भी वस्तुतः वेदान्त की एकत्ववादी विचारधारा में ही पयवसित होता है।

मध्व के अनुसार जिससे उत्पत्ति स्थिति सहार, नियमन पान आवरण, बन्ध और मोक्ष होते हैं वह ब्रह्म है। पूणप्रज्ञ दशन म इसका सविस्तार निरूपण है। ब्रह्म सत्, चित एव आनन्द रूप है। वह सबगुण पूण एव सबदोष गन्ध विधुर है। 'यायनुधा म कहा गया है —

सर्वाण्यपिहिवेदान्तवाक्यानि असह्यकल्पान गुणाकर सकल-दोष-गन्ध विधुर मेकर प्रमेव परब्रह्म प्रतिपादयति ।

इस मन म जीव कृतृत्व भोक्तृत्व से युक्त देहादि से यतिरिक्त अणु परिमाण एव सद्व्य अहं पान से युक्त है। वृद्धावस्था मे वह अज्ञान मोह दुःखादि दोषा से युक्त है। जीव परस्पर भिन्न हैं और परमात्मा से भी पूणत भिन्न है। गुणा क तारतम्य भेद से वे तीन प्रकार के हैं — मुक्ति योग्य, तमोयोग्य और नित्य ससारी। मुक्तावस्था म भी गुणा के परिमाण की दृष्टि से उनम भेद रहता है। जीव पान स्वरूप ही नहीं अपितु पानमय भी है। वह विषय और विषयी दोनों है। वह अहं पान का विषय है स्वसत्ता का नाता एव पदाथ का प्रकाशक है। यहा मध्व शरर स सबथा भिन्न हैं। शरर आत्मा को विषय एव विषयी से परे मानते हैं।

मध्व ने जीव को प्रत्येक अवस्था म परतन्न माना है। सत्ता प्रवृत्ति एव प्रतीति के लिये तो वह परमात्मा के अधीन है ही—उसका कृतृत्व एव नातृत्वादि भी परमात्मा का ही है। जिस प्रकार गो दुग्ध देती हुई दिखती है कि तु दुग्ध का मुख्य कारण उसका प्राण है उसी प्रकार जीव काय का प्रारम्भ और उपसहार करता दिखाई देता है। वस्तुतः कर्ता परमात्मा ही है। गीता भाष्य म मध्व ने इसे स्पष्ट किया है।

मध्व मत की एक विशेषता यह भी है कि इसमे इन्द्रिया के अतिरिक्त साक्षी को भी पानोपलक्षि का उपकरण माना गया है। यो तो गकर ने भी साक्षी की धारणा को स्वीकार किया है किंतु उनके मत म साक्षी अतः करण वृत्ति के बिना बाह्य विषया की पानोपलक्षियों म असमय है। इस प्रकार मन्व दशन जगत की वास्तविकता को असदिग्ध एव युक्ति सगत बना देता है। इन्द्रिय ज्ञाय पान सदोष हो सकता है किंतु साक्षी जो बिना वृत्तिया के पान प्राप्त करता है कभी सदोष उपलक्षि नहा करता। अणुभाष्य म कहा है— मानसे दग्ने दोषा म्युन वसानि दग्नि ।

द्रव्य और गुण के सम्बन्ध के विषय म भी मध्व के विचार मौनिक हैं। उनके मत से कुछ वस्तु के साथ अनिवाय रूप स रहत हैं जैसे गुह्यत्व उनका वस्तु के साथ सविशेषाभेद सम्बन्ध होता है। किन्तु कुछ गुण परिवर्तनीय होते हैं—यथा

वस्तु का रग । इनका वस्तु के माध्य भेदाभेद सम्बन्ध होता है । जबतक गुण वस्तु में रहता है तब तक अभेद और नष्ट हो जाने पर भेद । रामानुज द्रव्य गुण में अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध मानते हैं । मध्य का सादात्म्य सिद्धान्त भी उनकी मौलिक देन है । द्रव्य और गुण अभिन्न हैं किन्तु व्यवहार में जो उनमें भेद प्रतीत होता है वह विद्यमान कारण ही होता है । भेद के अभाव में भी भेद के निवाहक पदार्थ को विनोप कहते हैं । माध्य सिद्धान्त सार में इसे परिभाषित किया है —

भेदाभावेऽपि भेद व्यवहार निर्वाहका अनन्ता एव विनोपा ।

विनोप पदार्थनिष्ठ है और अनन्त है । वह स्व निर्वाहक है । उनमें लिये आचार विनोप की आवश्यकता नहीं । इमोलिय अवस्था दाय नहीं होता । अभेद ही ईश्वर की उत्पादन एवं संहारक शक्ति का बीच सामंजस्य बनाये रखता है ।

सत्य के सम्बन्ध में भी मध्य और गहर में भेद है । गहर में देगाल से सम्बन्धित वस्तु को मन् मानते हैं किन्तु मध्य किञ्चिन् काल और दंग से सम्बन्धित को भी । उनमें मन् में रज्जु में प्रतीयमान मप अमन् है क्योंकि वह कभी और कहा भी दंगवान में सम्बन्धित नहीं है । चक्षुष्योप के कारण ही उनकी प्रतीति मद्बन्धु होनी है । असत् में मन् ग्रहण करना ही भ्रम है । शून्यत्व स्वप्न भी सत्य है । जय जाग्रत अवस्था में पदार्थों में उसकी तुलना की जाती है तभी वह मिथ्या होता है । मन् पदार्थ में वाप्यगारिता का होना भा आस्पृश्य है । आरोपित रजन स पायादि का निमाण सम्भव नहीं । अतः वद् अमन् है ।

मध्य के मत में अविद्या एवं कर्मों का मशोय ही जीव के बन्धन का कारण है । जीव अविद्यावशान् रज्जु स्वर को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है । यही उसकी वृद्धता का प्रमुख कारण है । स्वयं की मत्ता एवं गत के तात्र के रूप में ईश्वर का अपरोप अनुभव कर लेना ही मोक्ष है । अविद्या ही जीव एवं ईश्वर के स्वप्न का आच्छादन करती है । वह मन् पदार्थ है । अतः उक्त वस्तुओं का अमार और जनित्य मानकर उनके प्रति विरक्ति साधना की प्रारम्भिक अवस्था में अनिवाप है । 'सम भक्ति का साहाय्य अर्पित है । रामानुज के समान माध्य भी भक्ति का केवल भाव नाशों का प्रवाहमात्र नहीं मानते थे । वे उसमें पान को भी समाविष्ट करते हैं । भक्ति का पयवसान ईश्वर के प्रपण पान में होता है । पूज्य प्रण पान में कहा गया है — 'प्रधान साधनापाद्भक्ति करणवेनोत्पत्त ज्ञानादेऽप्यस्य — नारायण प्रसाद मूर्ते ग मोक्ष' । मध्य के अनुसार सुकनादस्या म ही जीव क्व परिमारापुत्र रहता है और उसका तय द्यम में नहीं होता । यह दुःखा को मन् में रहित एवं पूज्य जानने की अवस्था है । इस अवस्था में जीव उन सब भोगों को प्राप्त करता है, जो परमात्मा

को प्राप्त हैं— य भोगा परमात्मना भुज्यन्त त एव मुक्तैर्भुज्यन्ते !” मध्व मोक्षावस्था म भी जीवा की समान अवस्था नहीं मानते । वहाँ भी आन दादि की अवस्था व भेद को स्वीकार करते हैं । मध्व गीता भाष्य म उल्लिखित है

मुक्ता प्राप्य पर विष्णु तद्देह सश्रिता अपि ।

भारतम्पेन तिष्ठन्ति गुणरानन्द पूवक ।

इस प्रकार मध्व का दान वदात्त म पयवसित होकर भी द्वन है । वह रामा नुज के अधिक समीप जीर शकर स ज्येष्ठाकृत भिन है । म व न प्रत्येक सम्बन्धित पध पर मौलिक उद्भावनाय की है । भारतीय दान को उनकी दन अत्यन्त महत्व पूण है ।

दुर्भाग्यवश मध्वाशय की ओर समीपको न पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है । शकर और रामानुज की तुलना म द्वत वगत पर प्रस्तुत साहित्य का परिणाम वही कम है । ऐसी स्थिति म डा० कृष्णकान चतुर्वेदी न अत्यन्त परिधमपूवक आठ जग्यामा म वदात्त के उद्गम से नकर वण्यत्र सम्प्रदाय की अन्तिम गला तव का सप्रमाण सरम एव वन्यपूण विवचन दिया है जिसम अनक स्वाना पर उनकी अत भेदिनी मौलिक प्रविभा का दशन हाता है । दी साहित्य म इस विषय पर यह सप्रथम जाधिकारिक ग्र य है जिसम द्वत वगत के सहार प्राय समग्र आस्तिक दान निक चिन्तन का सार आ गया है ।

मेरा विश्वास है कि डा चतुर्वेदी की प्रस्तुत कृति दान क क्षेत्र म प्रविष्ट होने वाल सुधी शोध कर्ताका के लिये भी मागर्शिका का काम दगी ।

—(डा०) प्रभुदयालु अग्निहोत्री,

सबालक

भोपाल

दिनांक— २८ जुलाई १९७१

मध्यप्रदेश हिंदी ग्र य अकादमी

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

वेदान्त का उद्भव विकास
तथा विविध वेदान्त-सम्प्रदाय

पृष्ठ—१३ १८

भारतीय दर्शन की समृद्धि, वेदान्त पद का अभिधान, वेदान्त की एक ही दर्शन सम्प्रदाय मानन का हस्तु ईश्वर जीव एक जड़ ब्रह्म चिन्तन तत्त्व का स्वरूप उपनिषद् साहित्य सत्या अभिधान एक चिन्तन ब्रह्म सम्बन्धी विचार गीता की महत्त्वपूर्ण भूमिका यागवाग्विष्ठ गौडपाद एक उनकी भाष्यनाय ब्रह्मसूत्र विषयक सामग्री, अस्पष्टता अर्थ सूत्रकार राकर पूर्ववर्ती विचारक राकर प्रमुख अनुवर्ती तैत्तिरीय विवरण एक मामती प्रस्थान ज्ञान ब्रह्म ईश्वर जीवात्मा अज्ञान विवतवाद जगत् भेदाभेदवाद इतिहास के क्रम में महत्व काय साहित्य ब्रह्म जीव जड़ जगत्, मोक्ष, साधन रामानुजाचार्य अन्वयार सत्ता का ध्यान पूज आवाय समय साहित्य एक बडगन सम्प्रदाय, ब्रह्म जीव जड़तत्त्व, इगान्दनमत, समय पूर्ववर्ती जाचार्य साहित्य, द्वैताद्वैत मध्वकी निम्बाक पूज कतिपय मत ब्रह्म जीव जगत् गुड्डाद्वैतवाद, समय, जीवनी, साहित्य, विष्णु परम्परा, ब्रह्म जीव, जगत् भक्ति अचि त्त्वभगभेद, पृष्ठभूमि उगारता अभिधान समय साहित्य एक विष्णु परम्परा, ब्रह्म जीव जगत् भक्ति ।

द्वितीय अध्याय

द्वैत वेदान्त का उद्भव तथा विकास

पृष्ठ—१९-८

द्वैत मत भेदवाद का समयक सम्प्रदाय प्राचीन साहित्य का उपयोग, ब्रह्म विष्णु की मूर्त्ता ब्राह्मण ग्रन्थों में इनात्मक-तत्त्वा की स्थिति उपनिषद् का द्वैत अद्वैतपरक उपपत्तिय विवरण श्वेताश्वतार की द्वैत परकता, महाभारत की दार्शनिक श्रौत वेदपरक मन्त्र, कृतस्यापना गीता में द्वैत तत्त्व, पाचरात्र साहित्य, ब्रह्म सूत्र की पृष्ठभूमि, ब्रह्म, सूत्र की द्वैत परकता, आदावाद के प्रारम्भिक प्रतिक्रियाएँ मध्व की जावनी मध्व की रचनाएँ, भाषा मध्वोत्तर विचारक ऋषिकेशजीय विष्णुतोष, कल्याणदेवी त्रिप्रसन्न पण्डित जीवनी रचनाएँ नारायण पण्डित पद्मनाभतोष, नरहरितीथ, अण्णोम्पतीथ, प्राचीन

श्रीरुद्र, माध्वमत श्रीमाता, स्वप्न एव अन्वतत्र तत्त्वा का वर्गीकरण, जगत् की अर्पणता ईश्वर में विरुद्ध गुणा की स्थिति जीव की जिज्ञासा का आश्रयत्व, सत्ता प्रवृत्ति एव प्रमिति प्रत्यायन, ईश्वर का स्वरूप मविशेष है ईश्वर म विशेषण की अलौकिकता आकार की चिन्तन-सम्बन्धिता, गुणा के कारण ही जीव स भिन्नता मव्यक्तिमत्ता जीवा का प्रभु ईश्वर का जयता, प्रलय-यन्त्रा में आनन्दभाव-विनि घतु-युक्त मगुणता प्रतिपादन म ध्यामतीथ की युक्तिमत्ता अद्वैत मत का सपन्न त्रिगुणपद का जय, उपाधि की अप्राप्तता क मून में ईश्वर के स्वरूप का मायता मधुसूदन द्वारा मध्वमत का खण्डन सगुण त्रिगुण श्रुतिया का बतावत ।

षष्ठ अध्याय जीव-तत्त्व

पृष्ठ—११० १८१

जीवात्मा की मायना की प्राप्ति-तत्त्व विभिन्न विचारका द्वारा स्वरूप विवेचन चावाक, जैन बौद्ध उपनिषद् सत्य पूर्वमोक्षमा जीव विषय महा भारत की विविध कल्पना, गहर विज्ञानमिश्रु ब्रह्मम चतय भास्कर स चतय तत्र के विचारका की दृष्टि मध्व मत म जीव की सत्ता विषयक युक्तिमत्ता चतया-मरुता पान-विषयत्व जीवा का मविशेषत्व स्थिति की ईश्वर-धीनता, जीवकी निरपेक्षा देह की अनिवार्यता देहात्मवाद स भिन्नता प्रकार स्वरूप तारतम्य मोक्ष उपाधित्वादन उपाधि उपहित सम्बन्ध जीव के प्रतिविम्ब का व्याख्यान मोक्ष ईशाधीनता बय की सत्यता, एव ईशाधीनत्व परिभाषा मृष्टि म सम्बन्ध ईश्वर की जीव के प्रति कारणता भविन ।

सप्तम अध्याय जगत्-तत्त्व

पृष्ठ—१८२ २०३

जगत् के मून कारण के अवपण म द्वितीय प्रवृत्ति उपनिषद् का दृष्टिकोण, सत्य वायव्योपिक चावाक जैन, बौद्ध अवा नरमत गहर एव ग्यवादी विचारका की दृष्टि मृष्टि ईश्वर की लीला क हेतु जगत् की वास्तविकता अद्वैतमत का सत्यत्व क विरुद्ध तत्र गहर का अनुमान मध्व सम्मत खण्डन आश्रयामिदन्तैव असिद्ध विरुद्ध अनध्यवसित कालात्ययाप ष्टि मत्यत्व के आधार सानि प्रत्यक्ष श्रुति के व्याख्यान का आधार माक्षि स्वप्न के व्यापार पर प्रमाणित जगत् मिथ्यात्व का विरोध स्वप्न का सत्यत्व ध्रम के आधारत्व का भी निराकरण, मृष्टि का आधार ईश्वर मृष्टि म परिवर्तन के प्रकार, पगाधीनविशेषाप्ति मृष्टि प्रक्रिया मूल कारण के रूप म सत्य प्रवृत्ति स भिन्नता ब्रह्मपरिणामवाद अन्ननिमित्तोपादान विवर्तनवाद का खण्डन ईश्वर की निमित्त, कारणता ।

अष्टम अध्याय द्वैत सम्प्रदाय तथा अयं मत पृष्ठ—२०४ २१५

बौद्ध मत के विरोध में शंकर की प्रतिष्ठा, शंकराचार्य के विरुद्ध अनेक प्रतिक्रियाएँ उनके मूल में वज्रमत, विष्णु की प्राचीनता विष्णु एवं वासुदेव की अभिन्नता वज्रमत एवं पाचरात्र दक्षिण भारत में विष्णुभक्ति का प्रचार, रस सम्प्रदाय में श्रुति भिन्न साहित्य की भी मायता नवीन मतों की सृष्टि के कारण—शंकर द्वारा सम्प्रदाय की उपेक्षा सगुणता के प्रति मोह का प्राबल्य पर एवं अपर ब्रह्म की मायता रामानुज की दुबलता भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा का अभाव शंकर मत की अवस्थिति, भद की मूलतः ग्राह्यता मध्व का पूर्ववर्ती आचार्यों से विचार ग्रहण विभिन्न मतों का प्रभाव चाचाक मामासा जन बौद्ध यायवगैपिक परवर्ती काल में द्वैत मत का प्रभाव बंगाल में भक्ति का प्रसार रूपगोस्वामी जीवगोस्वामी बल्लभ विद्याभूषण आदि पर प्रभाव महाराष्ट्र बिहार बंगाल गुजरात में प्रसार ।

उपसंहार पृष्ठ—२१६ २२५

शंकर के द्वारा नानपरक चिन्तन एवं वैष्णव सम्प्रदाय का समकालीन जयमत्त का प्रभाव आधारभूत पापक साहित्य का उपाय श्रुति एवं साक्षि चरित्र का बलाबल अनुपलब्ध सत्त्वों की समस्या विष्णु की सर्वोत्कृष्टता की समाक्षा पन्था विवेचन पारमार्थिक सत्ता की दृष्टि से मध्व में विचार का अभाव यथ धर्माती चिन्तन एवं वज्रमत को शंकर की दान ।

अथ सूची

२२६ २३०

प्रथम अध्याय

वेदान्त का उद्भव विकास तथा विविध वेदान्त सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन के विकास का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है। अतः प्राचीन काल से तत्काल विज्ञान के प्रति प्रवृत्ति प्राप्त होती है। वैदिक मंत्र भाग से प्रारम्भ करके अज्ञान चिन्तन मनन की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। काल के क्रम की इतनी व्यापक अवस्थिति में यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि असत्य परम्परा विरोधी विचार सर्गियाएँ एवं तदीय विपुल साहित्य प्राप्त हो। साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि विभिन्न मतों के समूहक साहित्यों के विपुल भंडार काल-वर्धित भी हुआ है। अनेक आचार्यों के मात्र नामोत्प्रेय इसी तथ्य के प्रमाण हैं।

उक्त उल्लेख वेदान्त साहित्य के विषय में भी चरिताय है। वेदान्त पद में वेद साहित्य मूलतः उपनिषद् साहित्य है। उपनिषद् साहित्य वेदान्तियों होने के कारण उसमें प्रतिपाद्य तथ्यों का अनुसंधान मात्र साहित्य ब्राह्मणों के भाग में किया जाता है। अतः वेद के रहस्य का प्रतिपादक एवं वैदिक साहित्य का अंतिम प्रतिनिधि होने से वेदान्त अभिधान प्रस्तुत विचार-क्रम को प्राप्त हुआ।^१

पद प्रयोग से सामान्यतः ग्रहण किया जाता है कि यह एक ही प्रकार की चिन्तनधारा है। पंडितान (आस्तिक) विवेचन के भी एक दर्शन प्रस्थान की दृष्टि से इस पद का व्यवहार किया गया है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन के इतिहास ग्रन्थ वेदान्त का एक ही क्रम या परम्परा में अध्ययन का विषय मानकर विवेचन करते हैं। किन्तु इस दृष्टि का आधार क्या है?

वेदान्त एक ही प्रस्थान के रूप में ग्रहात क्या है? क्या ये दर्शन के वर्गीकरण में किन्तु जादवावाद के समकक्ष ग्रन्थ समुदाय हैं? तब मध्य ही उपसर्गवाद है वस्तुवादी है। चाँकि भी इस वर्ग में कैसे रखा जा सकेगा? भेदाभेदवादी तथा वाग्वृत्तन आदि आचार्यों के मत के साथ-साथ इन सभी परस्पर विरुद्ध प्रतिपादक आचार्यों का एक ही दर्शन सम्प्रदाय के अन्तर्गत ग्रहण करने का आधार क्या है? उपनिषद्वाक्या

१ श्वनाचार्योपनिषद्, ६।२२

महानारायणोपनिषद्, १०।८

अष्टम अध्याय द्वैत-सम्प्रदाय तथा अयं मत पृष्ठ—२०४ २१५

बौद्ध मत के विरोध में दाकर की प्रतिष्ठा, दाकराचार्य के विरुद्ध अनङ्ग प्रतिश्रियाएँ उनके मूल में वष्पत्र मत विष्णु की प्राचीनता, विष्णु एवं वागुदेव की अभिन्नता वष्पत्रमत एवं पाचशास्त्र दक्षिण भारत में विष्णुभक्ति का प्रचार, रस सम्प्रदाय में ध्रुति भिन्न साहित्य की भी मायता नवीन मतों की गृष्टि के कारण—गङ्गा द्वारा सम्प्रदाय की उपयोगिता सगुणता के प्रति मोह का प्राबल्य पर एवं अन्तर ग्रहण की मायता रामानुज की सुबलता भक्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा का अभाव मध्व मत की अवस्थिति भद की मूलतः साह्यता मध्व का पूर्ववर्ती आचार्यों से विचार ग्रहण विभिन्न मतों का प्रभाव चार्वाक भीमामा जन बौद्ध वायव्यपिक्क परवर्ती काल में द्वैत मत का प्रभाव बंगाल में नरिन का प्रचार स्वामीजी जीवगोस्वामी वंश विद्याभूषण आदि पर प्रभाव महाराष्ट्र विहार बंगाल गुजरात में प्रचार ।

उपसंहार पृष्ठ—२१६ २२५

मध्व के द्वारा नानपरक विचार एवं वष्पत्र सम्प्रदाय का समर्थन जयमता का प्रभाव आधारभूत वाचक साहित्य का उपयोग ध्रुति एवं साक्षि चरक का बनावल अनुपलब्ध सत्त्वों की समस्या विष्णु की सर्वोत्कृष्टता की समाप्ता पन्थ विवेचन पारमाथिक सत्ता की शक्ति से मध्व में विचार का अभाव यथार्थवादी विचार एवं वष्पत्रमत को मध्य की देन ।

अथ सूचा

२२६ २२०

प्रथम अध्याय

वेदान्त का उद्भव विकास तथा विविध वेदान्त सम्प्रदाय

भारतीय ज्ञान के विकास का क्षेत्र ब्रह्म अधिव्यापक है। अत्यन्त प्राचीन मानस तत्त्व चिन्तन के प्रति प्रवृत्ति प्राप्त होती है। बौद्ध मत भाग में प्रारम्भ करके अत्यन्त चिन्तन मानस की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। काल के क्रम की इतनी व्यापक अवस्थिति में यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि अत्यन्त परम्परा विरोधी विचार सरगिया एवं तत्तीय विपुल साहित्य प्राप्त हो। साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि विभिन्न मतों व समूहों साहित्य के विपुल भंडार काल-व्यवहित भी हो गए हैं। अनेक आचार्यों के मात्र नामाल्लय इन्हीं तथ्यों के प्रमाण हैं।

उक्त उल्लेख वेदान्त साहित्य के विषय में भी चरितार्थ है। वेदान्त पद में नैय साहित्य मूलतः उपनिषद् साहित्य है। उपनिषद् साहित्य वृद्धाश्रमी होने के कारण उसमें प्रतिपाद्य तथ्यों का अनुसंधान मात्र साहित्य ग्रन्थगादि भागों में किया जाता है। अतः बौद्ध दर्शन का प्रतिपाद्य एवं बौद्ध साहित्य का अन्तिम प्रतिनिधि ज्ञान के ब्रह्म अन्तर्धान प्रस्तुत विचार-क्रम को प्राप्त हुआ।

पद प्रयोग से सामान्यतः ग्रहण किया जाता है कि यह एक ही प्रकार की चिन्तनपात्र है। पञ्चदश (आस्तिक) विद्वान् के भी एक दर्शन प्रस्थान को दृष्टि में इस पद का व्यवहार किया गया है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन के इतिहास में ब्रह्म अन्तर्धान या एक ही क्रम या परम्परा में अध्ययन का विषय मानकर विवचन करत हैं। किन्तु इस दृष्टि का आधार क्या है?

ब्रह्म अन्तर्धान के रूप में ग्रहीत क्या है? क्या यह दर्शन के दृष्टि में विपुल आदर्शवाद के समर्थक प्रथम समुदाय हैं? जब मध्यमता मयापुत्रा है वादी हैं। उनको भी इस दर्शन में कैसे रखा जा सकेगा? नैय साहित्य के आदि आचार्यों के मत व साधनाय इन सभी परम्पर विरुद्ध प्रवृत्तियों का एक ही ज्ञान सम्प्रदाय के अन्तर्गत ग्रहण करने का आधार क्या है?

१ स्वतन्त्रतरोपनिषद् ६।२२

महानारायणोपनिषद्, १०।८

पर आधारित हान के कारण इस यदि वदान माना जाय जसा कि विद्वज्जन मानते हैं^१ तो साध्य भी उपनिषद वाक्या का हा अनुसरण करने वाला ऋशन-सम्प्रदाय है वह वनात क्या नहा ? सम्भवत ब्रह्म जीव एव जड इस त्रिक के समूह पर आधारित चिन्तन म प्रवृत्त उपनिषद्वाक्या की अत्यन्त प्रतिष्ठा के समर्थक सृष्टि के कारणभूत तत्त्व के अनुरोधक होने के कारण परस्पर भिन्न निष्कर्ष ग्रहणकर्ता हान पर भी य जाचाय एव ही चिन्तन षण म जाते हैं ।

वत् का चिन्तन बाह्याधपेक्षी एव तदा मुक्त तो है ही साथ ही जनक प्रकार के क्रमिक विकास निर्देशक पालक्षेपा का भी चोतन है । प्राकृतिक गतिव्या की दव रूप म मानन वाल जाचार्यों ने बहुदववाद से एकत्ववात् तथा इसके उपरान्त सर्वेश्वरवात् को ग्रहण किया । आर्यय की दृश्यमान नानात्मकता के मूल म एक हा तत्व की कल्पना भी ऋषिया न का ।^२ काल की सावधिक्तता के पर इमी तत्व की स्थिति है ।^३ इसका ज्ञान ही मृत्युञ्ज भय से मुक्त करता है ।^४ सभी जान जड इसी के जाधान ह तथा जमर तत्व भी यही है ।^५

सृष्टि की प्रक्रिया क मदभ म भी पर्याप्त विचिक्त्सापूर्ण विचार प्राप्त हान ह । मत्सत् मृत्यु जमरता एव कान आत्ति म विलक्षण तथा पृथक् तत्व ही उसके मूल म रहा होगा । अय सभी दव उसके अग्रभूत है । ऋमी प्रकार के तथा अजाय जनक विचार महिता वाङ्मय म प्राप्त हात है जो जिज्ञासा की समूचक ह । बर्त्तिक विचार त्रम दार्शनिक तत्वा क स्वरूप निर्धारण म असमर्थ ह । विविधा सृष्टि अनन कोटिया की सम्पक साधना म यापृत है । किन्तु बाह्य पदार्थों के प्रति सहज रूप से

१ मकम हटरहैरीसन हिन्दू मोनिम एण् प्नूरलिज्म पृ० २५

२ ऋग्वेद १।१६४।४६

एक सद्धिप्रा बहुधा वदति ।

३ वही १०।६०

पुष्प एवद मव यद्भूत यच्च भायम् ।

४ अथर्ववेद १०।८।४४

तमव विद्वान न विभाय मृत्योरात्मान धारमज्ज युवानम् ।

५ ऋग्वेद १०।६।३

पादाभ्य विश्वा भूतानि त्रिपादम्यामृतं त्वि ।

६ वही १ । १२६।१

नासत्सामाना सत्सामीन् हन्तरी ऋजे ना यामा परो यन् ।

न मृत्युरामीन्मृतं तर्हि न रात्या जहन आमीन् प्रकेत ।

आनीत्वान स्वधमा तत्क तस्माद्वायनं त्रिचनास ॥

सत्व का ग्रहण करने के उपरांत भी त्रिमी मूल त्रिविनामी तत्व के आरतन म प्रमृत उसनी प्रयत्न-परम्परा अविश्रांत रूप म उपलभ्य है।

वृत्त का पारम्परिक एवं मायता प्राप्त अभिप्राय 'उपनिषद् साहित्य' ही है। ब्राह्मण मिथ्य इत्यमान पदाय जगन् अत्यंत व्यापार तत्त्व ब्रह्म एवं जीवात्माक सम्बन्ध म पूर्ववर्ती साहित्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विचार मरणि उपनिषद् साहित्य म उपलब्ध है। जाना रूपा म त्रिसित विचार क्रमा का यह साहित्य प्रतिनिधि है। अतः जब जीवात्म एवं परमात्म तत्व के स्वरूप विवेचन म जनक परस्पर भिन्न एवं विरुद्ध आशय भी तस साहित्य म हैं। उपनिषद् साहित्य की बहुत ही विस्तृत प्रथ-परम्परा है। मुक्तिउपनिषद् एक ही आठ उपनिषद् की सूचना देता है।^१ उपनिषद् ग्रन्थ की नामावली प्राप्य है।^२ त्रि तु प्रमृत उपनिषद् इति, वन षष्ठ, प्रसन्न मुण्डक माहृण्य, तत्तरीय, पतरेय छात्राग्य बृहदारण्यक कोपीतनी एत श्वनादखतर हैं। उपनिषद् पद क अभिधेय अथ से यही ज्ञात जाता है कि व गुहान्ता द्वारा गिण्या का एकांत म दिए गए उपनिषद् क सप्र है।^३ परम्परा के अनुसार प्रनादगुणयुक्त यह साहित्य श्रुति क मन्त्र-संहितादि भाग के ज्ञान-मक्ष का मवधन है। इसम प्राप्त मत भेद के कारण ही उत्तरकाल म अनन्य दार्शनिक मतों का विकास हुआ।

वदिक साहित्य के मन्त्र एवं महिता भाग म विचार-क्रम की दृष्टि सामान्यत बहिर्मुखी है। ब्राह्मण ग्रन्थों क प्रमुखत कमकाण्डपरक होने क कारण यज्ञीय प्रक्रिया की मर्यादाओं म आबद्ध है, किंतु उपनिषद् साहित्य म वह अन्तर्मुखी होकर सब व्यापक तत्व का मत्ता एक स्वरूप का, विवेचन का विषय बनाती है। सभी ज्ञान की श्रेष्ठ त मान कर उद्देश्य अवका प्रयाजन क आधार पर उसका विभाजन किया गया है। आत्म-साक्षात्कार रूप मोक्षकारक ज्ञान उच्चस्तरीय है। नारद त सनत्कुमार से सभी प्रकार की शास्त्रीय विद्या के प्रति अपनी विनता सूचित करने के उपरांत भी आत्मज्ञानविषयक अनभिज्ञता स्वीकार की।^४ मुष्क त भी उक्त स्तरों की मायता ग्रहण की है।^५ गीता म भी अज्ञान की त्रिगुणात्मक ज्ञान से ऊपर उठने की प्रेरणा दी गई है।^६ इस प्रकार यत् साहित्य श्रुति-समाप्ताय के ज्ञान-मक्ष का अधिक महत्व प्रदान करना है।

१ ला० सी० डा० गर्मा इडियन कितासफी, पृ० ७

२ वाचस्पति गरीला, भारतीय दर्शन, पृ० ३८

३ डा० एम० रावात्रणन इडियन कितासफी भाग १, पृ० ५६

४ छांदोग्य उपनिषद् २।४।१०

५ मुण्डकोपनिषद् १।२।४५

६ गीता २।४५ ४६

उपनिषद् म प्रमुखत आत्म तत्व का ही व्याख्यान है। रथ रूप के द्वारा उसकी नियामक शक्ति की ओर सकेत किया गया है।^१ शंकर ने उपनिषद् के भाष्य म प्रवृत्त हान हुए अनक प्रकार के अथ इस पद क प्रस्तुत किए हैं।^२ इन सभी अर्थों म विभिन्न श्रुतिया स उसकी महत्ता ही प्रमाणित हानी है। वह स्वय प्रकाश है उसी के आलोक स य समस्त पन्था आलोकित हैं।^३ इमरा जानन क लिए किसी अथ प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं है।^४

उपनिषद् म ब्रह्म के स्वरूप का भी विवचन है। वृह' धातु स निष्पन्न यह पत्र मात्र अथवा यन के अथ म नी प्रयुक्त हुआ है। यह परम व्यापक एव गवाश्रयी तत्त्व है। तत्तिरीय ब्राह्मण जीव के उत्पन्न एव विलीन हान के आश्रय को ब्रह्म प्रति-पादित करता है।^५ स्थूल जगत् की मृष्टि इसी तत्व स दृढ़ है। ब्रह्म क समुष्ण एव निगुण दोना ही प्रकार के रूपों क निर्देगन उपनिषद्-वाक्य प्राप्त होते हैं। टीकाकारा ने सविषय एव निविशेषलिंग श्रुतिवाक्या की स्थिति ग्रहण की है।^६ इस अन्तर की स्पष्टता के लिए परब्रह्म निविकल्प का तथा अपरब्रह्म मत्रिकल्प को कहा गया। कभी कभी एव ही वाक्य म उभयत्रिध ब्रह्म का वणन भी प्राप्त होना है। इमसे यही निष्कथ ग्रहण किया जा सकता है कि उपनिषद् साहित्य म जनक वधारित कौटिया प्राप्य हैं। किंतु वे सभी उसकी नियामकता स्वतंत्रता स्थिरता आदि को एक स्वर ने प्रतिपादित करती हैं। वनात क सम्पूर्ण उपमता क आचार्यों न प्रमुखतया उपनिषद् म ही अपनी तात्विक भाष्यता क आधार के अवपण का उद्योग किया है।

१ कठोपनिषद् १।३।३

जात्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव च ।

बुद्धि शु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥

२ शंकर कठोपनिषद् भाष्य २।१।१

‘यत्प्राप्नाति यदात्ते यच्छात्ति विषयानिह ।

यच्छास्य सततो भावमन्स्मादात्मेनि कीर्तित ॥

३ छान्दोग्य उप० ६।२, कठोपनिषद् २।२।१५ मुण्डकोपनिषद् २।२।१

४ बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।६

विनातारमने वेन विजानीयात् ।

५ तत्तिरीय ब्राह्मण, ३।१

६ शंकराचार्य श्वेताश्वतरापनिषद् भाष्य, १।१ ३

मति उभयलिंगा श्रनयो ब्रह्मविषय । सबकर्मत्याद्या सविशेषलिंगा ।

अस्थूलमनस्त्रित्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिंगा ।’

७ रानाड, ए कास्ट्रिकिन्व सर्वे आफ उपनिषदिव फिनामफी, पृ० १७२

प्रस्थान श्रौतों में, जिस पर सभी वेदान्तमत आश्रित हैं, गीता का भी ग्रहण किया गया है। वैसे तो यह भी उपनिषद् ही है, किन्तु भाषा, विषयसम्बन्धी प्रतिपादन एवं महाभारत के भाग के रूप में परिगणन के कारण स्वतंत्र रूप से इसका उल्लेख आवश्यक है। सभी आचार्यों ने इस पर भाष्य लिखे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड एवं भीतिर आस्था के प्रतीक स्मृतत्व की आत्यंतिक प्रवृत्ति का विरोध इसमें प्राप्त होता है। जगत् की श्रद्धा एवं धार्मिक प्रक्रिया के विषय में उपनिषद् में भी विरोध मिलता है, किन्तु उसका रूप उतना प्रखर नहीं है जितना कि गीता में। गीता के दशाने में अपने आन्तरिक विरोध का समाहार तो किया ही, साथ ही, समूचे रूप में वैदिक धर्म एवं दशान के विरोधी आन्दोलन को भी शिथिल किया। जैन, बौद्ध तथा अन्य अनेक निपिश्यतावादी मता के विरुद्ध भारतीय-वैश्वानर की स्थापना की। तत्कालीन उपलब्ध धार्मिक मायतावा के समन्वय का श्रेय भी गीता को है, किन्तु यह समन्वय इतना अस्पष्ट है कि शंकर को भी इसकी दुर्बलता स्वीकार करनी पड़ी।^१

पिछले कतिपय वर्षों में अद्भुत मत प्रतिपादक योगवासिष्ठ का अध्ययन विस्तार में हुआ है। धार्मिक चिंतन विपुल मात्रा में इस दृष्टि में प्राप्य है। यह परम तत्त्व के स्वरूप को द्रष्टा एवं दृश्य के चिन्तन में परे मानता है।^२ जीव के विषय में लोक प्रचलित अनेक धारणाओं का उल्लेख किया है।^३ योगवासिष्ठ के निष्कर्षक अद्भुत वेदान्त के बहुत समीप हैं।

वस्तुतः अद्भुत वेदान्त की सुस्पष्ट एवं अपगाहृत व्यवस्थित प्रतिष्ठा गौडपाद में है। शंकराचार्य ने भी परमगुरु के रूप में इका स्मरण किया है।^४ अजातिवाद के प्रतिष्ठापक गौडपाद ने शंकर की सभी प्रतिपादनाओं को पूर्वरूप दे दिया था। जगत् एवं द्वैत की प्रतीति अतात्त्विक है, परमात्मत अद्वैत ही है।^५ स्वप्न में दिखाई देने वाला

१ शंकराचार्य, गीता भाष्य भूमिका, पृ० २

‘तदिदं गीतागारम समस्तवेद्याय सारसग्रहभूतं दुर्विज्ञेयायम्।’

२ योगवासिष्ठ, ३।४।७०

‘न दृश्यमस्ति सद्रूपं न द्रष्टा न च दशनम् ।

न चोयं न जडं नीचिच्छान्तमेवेदमानतम् ॥’

३ वही, ३।६६।३४

‘जीव, इत्युच्यते लोके मन इत्यपि कथ्यते ।

चित्तमित्युच्यते सर्वं बुद्धितित्युच्यते तथा ॥

४ शंकराचार्य, माण्डूक्य-कारिका भाष्य समाप्त

‘यस्तं पूजयान्निपूज्य परमगुरुममुं पादपान्तताऽस्मि ।’

५ गौडपाद, माण्डूक्य-कारिका, १।१२

‘मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमात्मतः ।’

उपनिषद् म प्रमुखत आत्म तत्व का ही व्याख्यान है। रथ रूप के द्वारा उसकी नियामक शक्ति की जोर सकेत किया गया है।^१ शरर ने उपनिषद् के भाष्य म प्रवृत्त होत हुए अनेक प्रकार के जय, इस पत्र के प्रस्तुत किए हैं।^२ इन सभी अर्थों म विभिन्न दृष्टिया से उसकी महत्ता ही प्रमाणित होती है। वह स्वयं प्रकाश है उसी के जालोक स य समस्त पन्थ जालोकित हैं।^३ हमको जानने के लिए किसी अन्य प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं है।^४

उपनिषद् म ब्रह्म के स्वरूप का भी विवेचन है। 'वृह धातु स निष्पन्न यद् पद मात्र अथवा यन के जय म भी प्रयुक्त हुआ है। यह परम व्यापक एवं सवाश्रयी तत्व है। तत्तिरीय ब्राह्मण जीव के उत्पन्न एवं विलीन होने के आश्रय को ब्रह्म प्रतिपादित करता है।^५ स्थूल जगद् की सृष्टि इसी तत्व स हुआ है। ब्रह्म के सगुण एवं निगुण दोनों ही प्रकार के रूप के निर्देश उपनिषद्-वाक्य प्राप्त होते हैं। टीकाकारों न सविशेष एवं निविशेषलिङ्ग श्रुतिवाक्या की स्थिति ग्रहण की है।^६ इस जतर का स्पष्टता के लिए परब्रह्म निर्विकल्प का तथा अपरब्रह्म सविकल्प को कहा गया। कभी कभी एक ही वाक्य म उभयविध ब्रह्म का बणन भी प्राप्त होता है।^७ इससे यही निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि उपनिषद् साहित्य म अनक वैचारिक कौटिया प्राप्य हैं। कि तु वे सभी उसकी नियामकता स्वतंत्रता स्थिरता जति को एक स्वर से प्रतिपादित करती हैं। धदात के सम्पूर्ण उपमता के जाचार्यों न प्रमुखतया उपनिषद् न ही अपनी तात्विक मा यता के आधारों के अवेपण का उद्योग किया है।

१ कठोपनिषद् १।३।३

आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव च ।

बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥

२ शरर, कठोपनिषद् भाष्य २।१।१

यत्प्रणाति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।

यच्चास्य सततो भावस्तस्मान्मात्मेनि कीर्तित ॥

३ छान्दोग्य उप० ८।१२ कठोपनिषद् २।२।१५, मुण्डकोपनिषद् २।२।१

४ बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।६

विष्णुतारमने केन विनानीयान् ।

५ तत्तिरीय ब्राह्मण ३।१

६ शरराज्ञाय श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य, १।१३

सति उभयलिङ्गा श्रुतयो ब्रह्मविषय । सवर्कमौल्याद्या सविशेषलिङ्गा ।

जस्थूलमनष्वित्येवमाद्याश्च निविशेषलिङ्गा ।'

७ शानाड, ए वास्ट्रकृत्व सर्वे आफ उपनिषदिक फिनासफी पृ० १७२

प्रस्थान ग्रन्थों में, जिस पर सभी वेदान्तमत आश्रित हैं, गीता का भी ग्रहण किया गया है। वैसे तो यह भी उपनिषद् ही है, किन्तु भाषा, विषयसम्बन्धी प्रतिपादन एवं महाभारत के भाग के रूप में परिमाण के कारण स्वतंत्र रूप से इसका उल्लेख आवश्यक है। सभी आचार्यों ने इस पर भाष्य लिखे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड एवं मौक्तिक आख्या के प्रतीक स्थूलतत्त्व की आत्यंतिक प्रवृत्ति का विरोध इसमें प्राप्त होता है। जगत् की श्रेष्ठता एवं याज्ञिक प्रक्रिया के विषय में उपनिषद् में भी विरोध मिलता है, किन्तु उसका रूप उल्टा प्रखर नहीं है जितना कि गीता में। गीता के दशन ने अपने आन्तरिक विरोध का समाहार तो किया ही, साथ ही समूचे रूप में वैदिक धर्म एवं दान के विरोधी आन्दोलन को भी स्थिर किया। जैन, बौद्ध तथा अन्य अनेक निष्क्रियतावादी मतों के विरुद्ध भारतीय-वैश्वानर की स्थापना की। तत्कालीन उपलब्ध दार्शनिक मान्यताओं के समन्वय का श्रेय भी गीता का है, किन्तु यह समन्वय इतना अस्पष्ट है कि गुरु को भी इसकी दुविधा स्वीकार करनी पड़ी।^१

पिछले कतिपय वर्षों में भद्रत-मत प्रतिपादक योगवासिष्ठ का अध्ययन विस्तार में हुआ है। दार्शनिक चिन्तन विपुल मात्रा में इस कृति में प्राप्य है। यह परम तत्त्व के स्वरूप को दृष्टा एवं दम्प के विकल्प से परे मानता है।^२ जीव के विषय में लोक प्रचलित अनेक धारणाओं का उल्लेख किया है।^३ योगवासिष्ठ के निष्कर्षक अद्वैत वेदान्त के बद्धत समीप है।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त की सुस्पष्ट एवं अपेक्षाकृत व्यवस्थित प्रतिष्ठा गौडपाद में है। शंकराचार्य ने भी परमगुरु के रूप में इनका स्मरण किया है।^४ अजातिवाद के प्रतिष्ठापक गौडपाद ने शंकर की सभी प्रतिपादनाओं को पूर्वरूप दे दिया था। जगत् एवं द्रव्य की प्रतीति अनात्मिक है, परमात्मत अद्वैत ही है।^५ स्वप्न में दिखाई देने वाला

१ शंकराचार्य, गीता भाष्य भूमिका, पृ० २

'तदिदं गीताशारत्र समस्तवेदाय शारत्रग्रहभूतं दुर्विनेयायम्।'

२ योगवासिष्ठ ३।४।७०

'न ददमस्ति सद्वृत्तं न दृष्टा न च दानम्।

न नूय न जडं नोच्छिद्यन्तमेवेदमाततम् ॥'

३ वही, ३।६६।३४

'जीव, इत्युच्यते लोके मन इत्यपि वक्ष्यते।

चित्तमित्युच्यते सव बुद्धिरित्युच्यते तथा ॥'

४ शंकराचार्य, भाष्य-व्याख्यान भाष्य समापन

'यस्तं पूज्याभिपूज्य परमगुरुममुं पादपादनताऽस्मि।'

५ गौडपाद, भाष्य-व्याख्यान, १।१२

'मायामात्रमिदं द्वयमद्वयं परमात्मतः।'

गणवदनगरादि दृश्य जिस प्रकार स अप्रामाणिक होता है, उसी प्रकार यह जगत् भी है यह मत वेदांतविद् लोगों का है ।^१ जगत् जिसका न आत्ति है न अत वह वत मान में भी वसा ही होगा ।^२ इस प्रकार बुद्धा के द्वारा सस्थापित अजातिवाद का अनुमोदन गौडपाद न किया है ।^३ जीव अनात्ति माया क वशीभूत होकर ही आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ रहता है । जैसे ही वह स्वप्न एव निद्रा से मुक्त हुआ वस ही उस अद्वयता का बोध हो जाता है ।^४ गौडपाद गूयवाद के अनेक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं । स्थान स्थान पर बुद्ध का नाम लेकर उद्दिष्टि बंदना की है । बौद्ध दर्शन से गौडपाद दर्शन की प्रवृत्ति चित्त है तथापि गूयवाद के समीप उपनिषद् दर्शन को लेकर दृष्टि शकर का माग प्रशस्त किया ।

‘ब्रह्मसूत्र’ वेदांत दर्शन का सर्वाधिक चर्चित एव महनीय ग्रंथ है । यह साडे पाच सौ सूत्रों का ग्रंथ सम्पूर्ण वेदांत उपमतों का आश्रय ग्रंथ तो है ही साथ ही उपनिषद्-साहित्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों का सन्निपत्त सक्लन भी है । सत्यासिया के लिए उपयोगी होने कारण भिक्षु सूत्र भी इसकी सना है ।^५

चार अध्याय के इस ग्रंथ का प्रथम अध्याय समव्याध्याय है । इसमें सम्पूर्ण उपनिषद्वाक्यों का साक्षात् जयवा परम्परया ब्रह्म में ही तात्पर्य निरूपित किया गया है । दूसरा अविरोधाध्याय है । इसमें श्रुति स्मृति आदि के विरोध का परिहार करके ‘ब्रह्म से उनकी अनुकूलता प्रतिपादित है । तृतीय अध्याय साधनपरक है । इसमें परलाकगमन तत्त्वपदाय विवचन, सगुणनिगुणसाधन का निरूपण है । चत्वार्याय नामक चतुर्थ अध्याय है । सगुण एव निगुण विद्या के फलों का पूण विवेचन है ।

ब्रह्म-सूत्र की आध्यात्मिक मायता के विषय में कुछ भी कहना अत्यन्त कठिन है । सूत्रों का स्वरूप समासशाली के कारण अस्पष्ट है कि सूत्रकार का अभीष्ट क्या स्थान क्या है, यह निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है । इस अस्पष्टता दुम्हता एव विविधायता के कारण ही तो विविध मतों के व्याख्यान प्रवृत्त हो सके ।

१ गौडपाद माद्रक्य कारिका २।३।३

‘स्वप्नप्रमाणे यथा दष्टे गणवदनगर यथा ।

तथा विश्वमिदं दष्टं वेदातेषु विचक्षण ॥

२ वही, ४।१६— आदावन्त यनास्ति वत्त मान पि तत्तथा ।

३ वही ४।५— श्याप्यमानामजातिं तरनुमोदामहे वयम् ।’

४ वही, १।१६

अनादिमायया सुप्तो यदा जीव प्रबुध्यते ।

अजमनिद्रमस्वप्नमद्वत बुध्यते तदा ॥’

५ आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, प० ६०२

ब्रह्मसूत्र के सूत्रकार बादरायण न वादरि,^१ आश्वरथ्य,^२ आश्वेय,^३ कामवृरत्न,^४ जीहुनामि^५ काष्णजिन,^६ तथा जैमिनि^७ आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में वाश्यप के मत का उल्लेख है। उपरोक्त सभी आचार्य सम्भवतः मूत्रकार के रूप में ही प्रतिष्ठित रहे होंगे।^८

शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों में भर्तृहरि, उपवध^९ बोधायन, सुन्दरपाण्ड्य^{१०} तथा ब्रह्मदत्त हैं। इन सभी आचार्यों का विवेच्य यद्यपि बदान्त या, तो भी इनमें परस्पर अत्यन्त मत विभिन्नता थी।

ब्रह्मसूत्रकार एवं शंकर के पूर्व जिन आचार्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं उनकी रचनाएँ यद्यपि अप्राप्त हैं, तथापि उद्धरणमात्र से यह निष्कर्ष ग्रहण करना सहज प्रतीत होता है कि अनेक प्रकार के मत एवं उपमत प्रचलित थे जिनका विनाश अध्ययन आज भी अपेक्षित है।

भारतीय दर्शन की आदशवादी परम्परा को गौडवादी के उपरान्त शंकर ने और अधिक शक्ति प्रदान की। वस्तुतः आस्तिक एवं नास्तिक दशानों की प्रसारण विवेचना में यही माँ सवश्रेष्ठ है। अनेक श्रेष्ठ विद्वान् इस परम्परा को समृद्ध करत रहे हैं। शंकर का व्यक्तित्व बदाचित् इतना प्रखर था कि उसके प्रभाव से ही इस मत का इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

शंकर अद्वितीय प्रतिभा का धनी है। कोई भी विचारक बिना उनके प्रभावित हुए नहीं रह सकता। प्रसन्न भाषा, गम्भीर तथा मुक्तियुक्त स्थापना, शंकर को अत्यंत लोकप्रिय अधिक उच्च रूप में प्रमाणित करती है। भाष्य रचनाओं के अतिरिक्त पद्यात्मक स्तुतिपरक ग्रन्थ उनकी काव्य शक्ति के परिचायक हैं। उन्होंने ब्रह्म के सुवापहारी, निरंकुश, सर्वातिशायी स्वरूप का अत्यधिक तर्क-मग्न प्रतिपादन किया है। इसी को मण्डन मिश्र सुरेन्द्र, पद्मपादाचार्य, प्रकाशात्मजति, सवनात्ममुनि,

१ ब्रह्मसूत्र, १।२।३०

२ वही, १।२।२६, १।४।२०

३ वही, ३।४।४४

४ वही, १।४।२२

५ वही, १।४।२१, ४।४।६

६ वही ४।४।१०

७ वही, १।४।१६

८ आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४०७

९ शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य, ३।३।५३

१० वही, १।१।४

वाचस्पति मिश्र, चित्तुखाचाय, मधुसूदन सरस्वती, अप्पयदोक्षित आदि विद्वानों ने अपनी विलक्षण विद्वत्तापूर्ण कृतियों से निरन्तर उपवृंहित किया। परवर्ती विचारका में ब्रह्म का स्वरूप, जीव के साथ सम्बन्ध तथा उसकी सर्वातिशयता पर आधारित अनेक उपमत्त बन गए। प्रकाशात्मयति के अपेक्षाकृत कम निरनुगत तथा उदार दृष्टिकोण से विरचित विवरण पर आधारित विवरण प्रस्थान' बना। दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र की रचना 'भामती' पर आधारित 'भामती प्रस्थान' प्रवर्तित हुआ।

शांकर वेदान्त के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान उसका घन नहीं है। अतः ज्ञाता ज्ञान एव ज्ञेय के भेद को स्वीकार करना अनुचित है।^१ ज्ञाता का स्वरूप ही जब ज्ञान है तो फिर भिन्नता कसी? यही कारण है कि वह निरपेक्ष है। निरपेक्ष वस्तु की सत्ता स्वतः सिद्ध होती है।^२ सत्ता और बोध में कोई अन्तर नहीं है।^३ अतः आत्मा की सत्ता ज्ञाता ज्ञेय की अभेद प्रतिपत्ति के साथ उसके स्वप्रकाशकत्व को भी प्रमाणित करती है।^४ अनुभूति को अपना बोध कराने के लिए किसी अर्थ तत्त्व की आवश्यकता नहीं है।^५ सामान्य जब पदार्थ तो बिना किसी के सहारे के बोध्य नहीं होते, यह स्थिति आत्मा के साथ नहीं है।^६ जो स्वयं ज्ञाता है उसे किसी के द्वारा ज्ञात होने की अपेक्षा नहीं है। दीपशिखा अर्थ प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करती है, किन्तु उसे प्रकाशित करने के लिए अर्थ किसी प्रकाशक तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान दो प्रकार का माना गया है। एक नित्य, दूसरा अनित्य अनित्य क्षणावस्थायी है नित्य चिरन्तन होने से आत्मा का स्वरूप है।

ब्रह्म—जिस प्रकार शून्यवादी बौद्ध ने शून्य को चतुष्कोटि विनिमुक्त माना है, वैसे ही शांकर ने ब्रह्म को एकमात्र अन्तिम सत्य माना है। परमायत सत्ता केवल ब्रह्म की ही है।

१ गकराचाय, केनोपनिषद्भाष्य, १।३

'यो हि ज्ञाता स एव स सर्वात्मकत्वात्'

२ वही १।३

यद्वयनपेश तत्सर्वत एव सिद्धम्।'

३ शांकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य ३।२।२१

'सत्तत्र बोधो बोध एव च सत्ता।'

४ वही १।१।१

'सर्वो हि आत्मास्तित्व प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धि स्यात् सर्वो चोको नाहमस्मीति प्रतीयान्।'

५ तत्वदीपिका, पृ० ११

'अनुभूति स्वयंप्रकाश, अनुभूतित्वात् यन्नव त नैव यथा घट इत्यनुमानम्।

६ शांकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य २।२।२६, 'स्वयसिद्धस्य साक्षिणी प्रत्यारवयत्वात्।

सारा जगत् इसी पर आधारित है। शंकर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषद्-प्रतिपाद्य है। 'आचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक रूप को समझने के लिए दो प्रकार के लक्षण माने हैं। स्वरूप-लक्षण एवं तदस्य-लक्षण। यदि किसी वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को समझना हो, तो उसके अनवच्छिन्न एवं अविभाज्य रूप को चोखित करने वाले प्रयोग उस वस्तु के स्वरूप विदलेपण सकेत हैं। जो आगन्तुक गुणा को समूचित करते हैं, व तदस्य लक्षण हैं। इस प्रकार उभयविध लक्षण स्वीकार करके शंकर ने उन समस्त श्रुति वाक्या का समाधान खोज लिया है जो प्रयत्न करने पर भी ब्रह्म की अनन्य स्थिति का प्रतिपादन नहीं कर पाते। 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म।' यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।^१

ब्रह्म की सत्ता अखण्ड है। मन, वाणी आदि इन्द्रिया म, यह तत्त्व दस, बाल आदि मर्यादाया से अमर्यादित है।^२ उसका सही व्याख्यान 'नेति', 'नेति' ही हो सकता है। वह सच्चिदानन्द है। अपने मूल रूप से कभी भी व्यभिचरित न होने के कारण मत् है चैतन्यात्मक है। उसी के आभास से सभी कुछ आभासित होता है।

ईश्वर—माया के द्वारा आवृत्त होने पर उक्त ब्रह्म ईश्वर या सविदेय रूप प्राप्त करता है। उपनिषद् का अनुसरण करते हुए ब्रह्म और ईश्वर का यही भेद स्वीकार किया गया है। अपर ब्रह्म भी इसी को कहा गया है।^३ विश्व का आधार यही तत्त्व है। यद्यपि यह तत्त्व आत्यन्तिक नहीं है। पारमार्थिक भी नहीं है। किन्तु उसकी अवास्तविकता भी तभी समझी जा सकती है जबकि प्रातिभासिक स्तर से मुक्त होकर साधक तुरीयावस्था की ओर उमुख हो सके। मृष्टि का हेतु भी यही है। भक्ति एवं उपासना ईश्वर को ही उद्दिष्ट करके होती है। ब्रह्म का भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान-समष्टि से उपहित-चैतन्य को, इस मत में, ईश्वर माना है। चैतन्यात्मक होने के कारण इसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है। अतः उसकी निद्रि के लिए न्याय के समान किसी अनुमान का उपयोग अनावश्यक है। श्रुतियों में उसके यथाय रूप का उल्लेख प्राप्त होता है। न्याय ईश्वर को जगत का केवल निमित्त कारण कहता है जबकि अद्वैत वेदान्त ने निमित्त और उपादान दाना कारण के रूप में स्वीकार किया है। भोक्ता और भोग्य के ऐक्य होने पर भी प्रतीपमान भेद व्यावहारिक मात्र है। जाग्रत स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं की मान्यता इन तीनों स्थिति में स्वीकृत

१ आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन पृ० ४२०

२ सत्त्वानन्द, वेदान्तसार, १।१

'अखण्ड सच्चिदानन्दमवाऽमनसगोचरम्।'

३ छन्दोग्य उपनिषद्, ६।१।२, मुण्डक उपनिषद् ३।१।३,

प्रश्न उपनिषद्, ६।३।४, शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।४।२३, वही, २।१।३

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर की समष्टि से उपहित चतन्य ईश्वर ही है यद्यपि उसे विविध सजाजा से अभिहित किया गया है।^१

जीवात्मा—अनानोपहित होने पर ही ईश्वर एवं जीव य व्यपदेश प्राप्त होते हैं। समष्टिगत दृष्टि से ईश्वर एवं व्यष्टिगत दृष्टि से जीव चतन्य को ही कहा है। देहेन्द्रियाणि नियन्ता कमफल-सम्बन्धी जीव ही है।^२ वही मुख दुःसादि भोग का भोक्ता है। श्रुति के आत्मोत्पत्ति विषयक उल्लेख को, अद्वैत ने जीवादि सत्त्व रूप धारण करने से सम्बद्ध माना है। शरीरादि उपाधियाँ के कारण ही उसके जन्मादि का बन्धन होता है अथवा आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभावान्ति है। व्यष्टिगत कारण शरीर से उपहित चतन्य को प्राण सूक्ष्मशरीरोपहित चतन्य को तजस एवं स्थूलशरीरोपहित चतन्य को विन्व कहा गया है। जीव की वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। बाह्य विषय प्रकाश में बहिर्मुखी एवं अहं प्रत्यय-सम्पादिका होने पर अन्तर्मुखी होती हैं। इसी जीव के बाह्य विषय एवं पाता यह दो भेद—यावहारिक एवं भ्रान्ति जय हैं। भ्रान्ति का निरास होकर सत्य ज्ञान की उपलब्धि होती है। याथाय्य का बोध होते ही यह सम्पूर्णभ्रमात्मिका प्रतीति तिरोहित हो जाती है तथा पाता ज्ञान ज्ञेय का भेद भी मिट जाता है। तभी मोक्ष प्राप्त होता है।^३ यद्यपि यह मोक्ष और बन्ध सभी व्यावहारिक मात्र ही हैं। भ्रमजनित हैं। वस्तुतः ब्रह्म और जीव भिन्न नहीं हैं।^४ इसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्था में समष्टि एवं व्यष्टि से उपहित चतन्य में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। वे सभी एक ही चतन्य के उपाधिवृत्त रूप हैं। जीवेश्वर भेद माया के कारण हैं।^५ अन्तर केवल इतना है कि ईश्वर के अधीन माया है जबकि जीव माया के अधीन है।^६ अतएव पारमात्मिक रूप से मिथ्या मोक्ष एवं बन्ध को मानने वाले अण हैं।^७

१ सदानन्द, वेदान्तसार, पृ० ८

२ शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।३।१७

अस्ति आत्मा जीवाख्य शरीरेन्द्रियपञ्चराध्यक्ष कमफलसम्बन्धी।

३ शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।१।५ १।२।६

४ महान मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, २।३२

एकस्यवास्तु महिमा यतानेव प्रकाशते।

५ सुरेश्वर नृसिंहसिद्धि पृ० २३

‘नहि मायायामसम्भावनीय नाम। असम्भावनीयावभामचतुरा सा।

६ शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।१।६

७ शंकराचार्य, गीताभाष्य, १३।२

अज्ञान—ईश्वर और जीव, ब्रह्म के ही अंग हैं। अन्ततः तुरीयावस्था में केवल एकात्म्य ही रहता है। इस वेदात्मक ज्ञान का आधार अज्ञान है। यह चित् में विद्यमान, भावात्मक, अनिवचनीय अहम् है। आवरण एवं विक्षेपण के द्वारा जगत् भी सृष्टि इसी से होती है।^१ जब रज्जु में होने वाली सपप्रतीति में अंधकार ने पहले रज्जु को आवृत किया तदनन्तर सर्प की उमम उद्भावना की। उसी प्रकार चित्त तत्त्व को, वस्तु को, आवृत करके अज्ञान, अवस्तु का प्रपञ्च का उद्भावना करता है। अज्ञान की इन दोना गतियों के कारण वस्तुतत्त्वता का ज्ञान नहीं हो पाता।

अज्ञान का सत् एव जगत् इन दोनों विकारों में अभिधान न कर पाने के कारण, यह अनिवचनीय है।^२ वाय और वारण के सम्बन्ध के प्रसंग में अनेक मत प्रचलित हैं। उनमें से विद्यतवाद भी एक मत है। एका अभिप्राय है कि वस्तु का मूल रूप में परिवर्तन न होने पर भी परिवर्तित रूप में प्रतीत होना विद्यत है। रज्जु सप में परिवर्तित न होकर परिवर्तित रूप में ज्ञान होनी है। जगत् की प्रतीति के मूल में यही है। इसी के कारण ईश्वर जीव एवं ब्रह्म का पाचक्य आभासित होता है। इसी के कारण अनेक विचारक दृष्ट, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को आत्मा कहते हैं। दृष्टा और दृश्य का प्रतीयमान भेद इसी के कारण है। वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है।^३ मूल तत्त्व तो चिद्रूप है। इस अज्ञान अथवा अविद्या का निरस्तीकरण पारमार्थिक ज्ञान से होना है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् मिथ्या नहीं है।^४

जगत्—जिस प्रकार इंद्रजालिक अपनी माया शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ है, वही स्थिति ईश्वर की है।^५ जगत् इंद्रजाल के निमित्त अथ के समान है। इंद्रजाल में व्यामोहित न होना वाले व्यक्ति के लिए उसकी कोई स्थिति नहीं है। वैसे ही परमात्म ज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त उसकी कोई स्थिति नहीं है।

१ मदानन्द, ब्रह्मसूत्र पृ० १५

२ इन्द्रसिद्धि, ८१२८

अनिर्वाच्यो प्यवोध मृगसपविद्गृह गते पिया।

'मायाभातासहिष्णुत्वमविद्या लक्षण मन ॥'

३ ब्रह्मसिद्धि पृ० ७

'एकत्वमेवायं इन्द्रदृश्यभावो वक्तव्यते इन्द्रैव चिदात्मन तथा तथा

विपरिणामाद् विवतनादा, नानात्वं तु विविक्वास्वभावयोर

समृष्टपरम्परस्वरूपयोरसम्बद्धया कीदृशो दृष्टदृश्यभाव।

४ शबरभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।२।६

'न शक्यत वक्तु मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धत्वात् स्वप्नोपलब्धिवत्।'

५ दशमामूर्तिस्तोत्र, श्लोक २

'मायावीच विजृम्भयत्यपि महायोगीव य स्वच्छया।'

जगत् तथा उससे सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवहार 'ब्रह्मात्म' बोध तक ही है।^१ यह अज्ञान द्वारा निर्मित है। अद्वैत वेदान्त की सृष्टि प्रक्रिया, जो केवल व्यावहारिक स्तर पर ही है साक्ष्य मतानुसूल है।

भेदाभेदवाद—शंकर के उपरान्त प्रचलित होने वाले, अपधाकृत यथाय वादी मतों में भास्कर का ग्रन्थ साम्प्रदायिक नहीं है। न तो वह शंकर का ही समयन करता है और न ही पाचरात्र संहिताओं में वर्णित विष्णु-स्तोत्र का।^२ वगन्त दशान के विकास में विचार क्रम को शंकर से रामानुज तक आने का भाग भास्कर द्वारा प्रशस्त किया गया। उक्त मत के सङ्गमण काल का प्रतिनिधित्व भास्कर के मत में मिलता है।^३ भास्कर तथा यादवप्रकाश अद्वैत वगन्त के प्रथम विरोधी तथा अय वेदान्त सम्प्रदाय के उपमता के प्रेरक आचार्य हैं। निम्बाक का स्वामाधिक भेदाभेद चतय का अचित्य भेदाभेद स्पष्ट रूप से इनके प्रभाव को व्यक्त करता है। विगिष्टा द्वैत मत में भी यादवप्रकाश को पूर्वाचार्य माना गया है। इन दोनों के विचारों का यदि तुलनात्मक सर्वेक्षण किया जाय तो यादव जघिव आदर्शवाणी प्रतीत होते हैं। यादव चित्त तथा अचित्त में भेद नहीं मानत। सभी की चतय-यात्मकता उह ग्राह्य है।^४ भास्कर दोनों की भिन्नता स्वीकार करत है।

भास्कर का समय विविध उल्लेखों के आधार पर केवल अनुमान का विषय है। उसके भाष्य में प्रत्यक्षत जीवनी एवं समय सम्बन्धी कोई भी सादभ प्राप्त नहीं होता। शंकराचार्य का खण्डन भास्कर ने किया है।^५ मायावाद का शब्दश उल्लेख करके उसे बुद्ध महायान का अनुयायी मानकर उसके प्रति जाक्रोश व्यक्त

१ शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य २।१।१४

सर्व व्यवहाराणामेव प्राग ब्रह्मात्मताविज्ञानान् सत्यत्वोपपत्त स्वप्नव्यवहारस्य प्राक प्रबोधात् । तस्मात् प्राग ब्रह्मात्मताप्रतिबोधान् उपपन्न सर्वो लौकिको वदिकश्च व्यवहार ।

२ डा० राधाकृष्णन्, इंडियन फिलॉसफी भाग २, पृ० ६७०

३ पी० एन श्रीनिवासचारी द फिलॉसफी आफ भेदाभेद, पृ० ७

४ मुद्गगनाचार्य, तात्पर्यदीपिका १।२।५

यादवप्रकाशमत सर्वमपि चतयमेव, तत्र घटादेशचतय अनभि-व्यक्तिमात्रमेवेति न चिदचित्तद्विभाग ।

५ भास्कर ब्रह्मसूत्रभाष्य, भूमिका श्लोक

सूत्राभिप्रायसकृत्स्या स्वामिप्राय प्रकाशनात् ।

व्याख्यात यरिद गास्त्र व्याख्येय तनिवृत्तय ॥

किया है।^१ अतः लगभग ८०० ईस्वी भास्कर के समय की ऊपरी सीमा है। 'याय कुसमाजलिकार उदयन ने उसे वेदान्त का व्याख्याता तथा त्रिदण्डि-ब्राह्मण माना है। उदयन का समय लगभग १००० ईस्वी है। रामानुज (१०१७ मे ११३६ तक) ने भी भास्कर के मत का खण्डन किया है। अतः आठवीं सदी से तथा ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ की उससे समय की दोनों सीमाएँ मान सक्ते हैं। विष्णेश्वरी प्रसाद द्विवेदी ने न्यायकुसुमाजलि में 'त्रिदण्डि' पद को महत्त्व देते हुए प्रमाणित किया कि रामानुज के पूर्ववर्ती ब्रह्मसूत्र के व्याख्याताओं को त्रिदण्डि कहा गया है।^२ साथ ही भास्कर वही पर भी रामानुज का उल्लेख नहीं करते। अतः रामानुज एवं उदयन में वह पूर्ववर्ती अवश्य होगा। अल्पपदीक्षित ने तत्र विवेक में उसका उल्लेख भाष्यकार के रूप में किया है। वाचस्पति मिश्र (८४१ ईस्वी) ने भी अप्रत्यक्ष रूप में उसे मन्दमित्त किया है। अतः उसका समय ६वीं सदी का प्रारम्भ होना चाहिए।^३ भास्कर ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना की। छात्रोक्त उपनिषद् पर भी सम्भवतः उसने कोई टीका लिखी थी,^४ जो अब अप्राप्य है।

ब्रह्म—भास्कर के भेद और अभेद का आधार ब्रह्म का स्वरूप ही है। ब्रह्म अनन्त शक्तिसम्पन्न है। अपनी इसी शक्ति के कारण वह अपने-आपको तीन रूपों में परिवर्तित करता है। उसकी यह बहुलता 'एकोऽहं बहुस्याम' की वाक्यता के कारण है। कारणात्मिका अवस्था में अभिन तथा वाय की अवस्था में वह भिन्न है।^५ वह परिणमन करता है। परमात्मा ही आत्माओं के प्रति कारण के रूप में रहता है।^६ जिस प्रकार दुग्ध का दधि में परिवर्तन होता है वैसे ही ब्रह्म का परिणाम होना है। इच्छा नान एव अपनी सवशक्तिमत्ता में यह परिवर्तन सम्भव होता है। वह खण्डरहित है। जगत् और जीव के रूप में परिवर्तित होने पर भी उसमें किसी

१ भास्कर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।४।२५

विद्योत विच्छिन्नमूल महामानिकुण्डगाविन भाषावाद व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति।'

२ डा० एस० एन० दास गुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलॉसफी भाग ३, पृ० १

३ पी० एन० श्री निवासचारी—द फिलॉसफी आफ भेदाभेद पृ० ५

४ भास्कर ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।४।२१ ४।३।१४

५ वही, १।१।४

'वायुरूपेण नातास्व अभेद' कारणात्मना।

६ वही, १।४।२५

'कथं पुन आत्मन कारण सम्भवति इत्याह परिणामात्' इति परमात्मा स्वयमात्मना वायत्वेन परिणामयामास।'

प्रकार की दुबलता नहीं आती। अभिव्यक्ति के उपरान्त भी ब्रह्म अपरिवर्तनीय रहता है। शुद्ध चैतन्य का वह अपृथक् रूप न होकर सभी पूणताओं से युक्त है।^१ उसकी दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। भोग्य एव भोक्तृ शक्ति। भोग्य शक्ति के द्वारा वह अपने आपको जगत् के रूप में, एव भोक्तृशक्ति के द्वारा जीव के रूप में परिणमित करता है। ईश्वर अथवा ब्रह्म एव जीव में स्वरूपगत अन्तर ब्रह्ममूर्त में माना गया है। सूत्रकार ब्रह्म को मृष्टि का स्वामी एव जीव को ससारी मानते हैं। शंकर की भावना कि ईश्वर भी ससारी है श्रुति के विरुद्ध प्रमाणित सिद्ध होती है। वह ससारी न होकर मूल कारण है तथा समग्र मृष्टि का स्वामी है। साय्य विशेषिक बौद्ध तथा जैन विचारकों की भावनाओं के विपरीत भास्कर ब्रह्म का ही मृष्टि का उपादान कारण मानते हैं। साय ही भास्कर कायभूत जगत् को ब्रह्म से अभिन्न न मानत हुए उसे सबथा अचेतन स्वीकार करते हैं। रामानुज अथवा यान्त्रप्रकाश के समान जड़ की चेतन ब्रह्म के साथ एकरूपता नहीं है।^२

जीव—ब्रह्म की भोक्तृशक्ति का परिणाम जीव है। किन्तु शंकर के समान यह उससे अभिन्न न होकर भिन्न है। क्योंकि परिणाम अथवा काय के रूप में प्राप्त यह सभी से भिन्न है। जगत् भी ब्रह्म से भिन्न है तथा वे दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। जैसे अग्नि की दाहकता तथा प्रकाशकता दोनों परस्पर भिन्न है किन्तु कारण रूपा अग्नि एक ही है। उसी प्रकार से भिन्न परिणामों को परिणमित करने वाला कारण रूप ब्रह्म अभिन्न है, एक है। जीव ब्रह्म का परिणाम होने के कारण उससे भिन्न है किन्तु उसमें अभेद नामक घम भी है जो उसकी अभिन्नता की ओर संकेत करता है। जिस प्रकार एकमेव महादधितरगादि के रूप में भेदात्मक हो जाता है। वैसे ही स्थिति ब्रह्म एव जीव की है।^३ जीव में मूलतः चेतना है किन्तु उस चेतनता का बोध ज्ञेयत्व के द्वारा ही होता है परिणामतः अपनी स्थिति के लिए उसे विषया पर आधारित रहना पड़ता है।^४ वस्तुतः जीव ईश्वर से पृथक् नहीं है। अग्नि और उसके स्फूर्लिंग के समान उनमें अशाशिवभाव सम्बन्ध है। इन जशों की ही यह विशेषता

१ डा० एस० राधाकृष्णन इण्डियन फिलासफी भाग २ पृ० ६७०

२ पी० एन० श्रीनिवासाचारी, द फिलासफी आफ भेदाभेद पृ० २६३०

३ भास्कर, ब्रह्मसूत्रभाष्य २।१।१८

अभेदघमश्च भेदे यथा महोदधेरभेदा स एव तरगाद्यात्मना वतमानो भेद इत्युच्यते न हि तरगादय पापाणादियु दृश्यते तस्यैव ता शक्तय शक्ति शक्तिमतोदधान यत्कर्म यत्बोपलक्ष्यते यथा जग्नेदहनप्रकाशनादिशक्तय " तस्मात्सर्वमवानेकात्मक नाटयत अभिन्न भिन्न वा।

४ वही, २।३।१८

वेदान्त का उद्भव

है कि ईश्वर से एक होते हुए भी अज्ञान के कारण पृथक् होकर इच्छा और क्रम अनादि काल से करते चले आ रहे हैं।^१ जीवात्मा हृदय में स्थित है। अविद्या के कारण ही अणुपरिमाण का है। ईश्वर से अभिन्न होने के कारण पारमायिक रूप में वह अणु-परिमाण का नहीं है। बुद्धि अहंकार, पचेन्द्रिय तथा पंचप्राण इसके पुनर्जम के हेतु हैं। बुद्धि आदि का सम्बन्ध जीव का अनिवाय स्वरूप नहीं है परिणामतः जब तक सम्बन्ध है तब तक जीव का स्वरूप सत्य है, किन्तु इसका अन्तिम आधार ईश्वर है। ईश्वर ही उससे सत्कर्म कराता है तथा उसके अन्दर स्थित होकर नियंत्रण करता है। शरीर में स्थित जीव सारे शरीर को ठीक वैसे ही नियंत्रित करता है जैसे एक स्थान पर रखा चन्दन का बिंदु पूरे अङ्ग को सुवासित कर देता है। जीव के बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।^२ जीवों में भी परस्पर भिन्नता है। यही कारण है कि एक के मुक्त होने पर दूसरा मुक्त नहीं होता।^३

जड़ जगत्—ब्रह्म की भोग्य शक्ति का परिणाम जगत् है। ब्रह्म के परिणाम के रूप में जगत् को मानने के मूल में सम्भवतः उसकी आध्यात्मिक स्थिति प्रमाणित करता है। जिस प्रकार नमक पानी में विलीन हो जाता है वैसे ही ब्रह्म में जगत् भी विलीन हो जाता है।^४ भास्कर वेद को आत्यन्तिक रूप में सत् मानते हैं, अतः उसी के अनुसार सृष्टि प्रक्रिया को उसने स्वीकार किया है। जीव और जगत् दोनों मिलकर प्रपञ्च का निर्माण करते हैं। ब्रह्म से जगत् भिन्न है इसीलिए कि वह अपृथक् रूप में दिखाई देता है किन्तु कारणत्वेन वह एक है। छांदोग्य उपनिषद् की सद्बिद्या भास्कर की सृष्टि-सम्बन्धी मान्यता का आधार है।^५ शंकर का विवतवाद^६ सांख्य का सत्कामवाद^७ तथा वैशेषिका का असत्कामवाद ग्राह्य न मानकर भास्कर ने काय

१ भास्कर ब्रह्मसूत्र भाष्य १।४।२१

२ वही, ३।४।२६

३ वही १।४।१०

‘जीवाना परस्पर भेद एव, परमात्मना च अभेद, फेनतरंगादिनामिव, नत्येवमेवस्मिन् मुक्ते परो न मुच्यते इत्युपपद्यते वच मोक्ष व्यवस्था।’

४ वही, २।२।११

५ छांदोग्य उपनिषद्, ६।२

६ सदानन्द, वेदान्तसार पृ० ४३

‘अतत्त्वनोऽन्यथा प्रया विवत इत्युदीरित।’

७ ईश्वरवृष्ण, सांख्यकारिका, ९

असद्वरणानुपादानग्रहणात्मवसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यवर्णात् कारणभावाच्च सत्त्वाम् ॥’

और कारण के नवीन मत की स्थापना की। वह काय और कारण दोनों को सत् मानता है किन्तु कार्य आत्यन्तिक सत् नहीं है। साथ ही कारण प्रकृति के समान चेतन से भिन्न धर्म भी नहीं है और न ही वशेषिक के समान असत्त्व अणुओं के समान जड़ और असत्त्व है।

✓ भास्कर के अनुसार अनवरत तथा अखण्ड आनन्द के बाध की अवस्था मोक्ष है।^१ मुक्त आत्मा देह तथा इन्द्रिय से सम्पृक्त अथवा असम्पृक्त रहे यह उसकी इच्छा पर निर्भर है।^२ वह ईश्वर के समान सब-यापी सबक्षम तथा सभी आत्मा से अभिन्न हो जाता है।^३ ब्रह्म से अभिन्नता का बोध मोक्ष है। भास्कर विगिष्ट प्रकार के ज्ञान को ही मोक्ष मानते हैं।

साधन के रूप में भास्कर ने ज्ञानकमसमुच्चय के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उसे श्रुतिसम्मत काय करने चाहिए क्योंकि वह श्रुति के विधान से आवद्ध है। किसी भी अवस्था में वह श्रौत कर्म से विमुक्त नहीं हो सकता। शबर ने मुक्त व्यक्तियों को कर्मादि के त्याग का अधिकार दिया था जो भास्कर को ग्राह्य नहीं। यद्यपि कम मोक्ष तक नहीं पहुँचा सकते तथापि ज्ञान से सयुक्त हो जाने के उपरांत वह श्रुति प्रतिपाद्य कर्म मोक्ष तक पहुँचा सकता है। मोक्ष और बाध के मूल में राग ही है। ब्रह्मविषयज्ञ राग मोक्ष तथा विषयविषयक राग बाध का कारण है।^४ जत ब्रह्म राग आवश्यक है। इस राग को ही समाराधन अथवा भक्ति माना गया। किन्तु यहाँ अय वृष्णवृत्ता के समान भक्ति भाव न होकर कम है।^५ सल्लक्षण एव बोध लक्षण ब्रह्म की उपासना के योग्य है। शंकर के द्वारा की गई श्रौत कर्मों की उपेक्षा भास्कर को सह्य नहीं थी। इसीलिए वह स्थान स्थान पर धर्म की महत्ता प्रतिपादित करता है। यहाँ तक कि भक्ति को भी उसने कम की कोटि में ही रखा। कम जो ज्ञान के द्वारा प्रेरित है मोक्ष का साधक है। साधन के एव मोक्ष के स्वरूप के विषय में भास्कर की मायता अय मत से विलक्षण है।

✓ विशिष्टाद्वैत मत—वृष्णव सम्प्रदाय परम्परा एव जाघार की दृष्टि से ज्येष्ठ प्राचीन है। ऋग्वेद में विष्णु का स्वरूप वर्णित है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त इस

१ भास्करभाष्य ४।४।८

२ वही १।४।४२

३ वही ४।४।७

मुक्त कारणमात्मान प्राप्त तद्वदेव सबज्ञ सबशक्ति।

४ वही ४।४।८

रागो हि परमात्मविषया य स मुक्तिहेतु विषयविषयो य स बाध ३३।

५ वही, ३।२।२४

ज्ञान का आधार है।^१ शतपथ ब्राह्मण, महाभारत तथा रामायण आदि में भी विष्णु के स्वरूप का वर्णन है। भागवत मत का आधार अत्यन्त प्राचीन है।^२ इसी से वैष्णवमत का विकास हुआ है। यह मत भगवान्‌स विष्णु का एकत्व मानता है। पाचराय संहिताओं के वर्ग को भी सभी वैष्णव मत के विद्वान्‌ विरवसनीय आधार मानते हैं। रामानुज न अपनी अनेक मान्यताओं का इसी से ग्रहण किया है। पुराणों में विष्णु-पुराण भी प्रमुख स्रोत है।

इस ग्रन्थ राशि के उपरान्त दक्षिण भारत के आल्वार सन्ता का योगदान अत्यन्त महनीय है। इन सन्तकवियों ने भक्ति भावना से परिपूर्ण स्तोत्रों की रचना करके वैष्णव मत की स्पष्ट स्थापना का भाग प्रशस्त कर दिया।^३ परवर्ती विद्वानों ने इन ग्रन्थों को सस्कृत ग्रन्थों के समान श्रेष्ठ माना है। इन सन्तों ने विष्णु के रहस्यात्मक स्वरूप की भक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति की है। इस तमिल साहित्य के साथ साथ प्रस्थान ग्रन्थों का भी ग्रहण करने के कारण यद्यपि वेदाती के नाम से अभिहित किए जाते हैं।^४ रामानुज के पूर्ववर्ती आचार्यों में निम्नलिखित नाम शबर तथा रामानुज ने अपने भाष्यों में उद्धृत किए हैं।^५ बोधायन, टक, द्रविड ६ गृह्येव कर्पदिन तथा भारुचि।^६ सस्कृत भाषा में विष्णुभक्ति का प्रचार करने वाला को आचार्य कहा जाता था।^७ आलवार सन्त सटकोप की गिण्य परम्परा में रगनायमुनि (८२४-९२४) तमिल वेद के

- 1 Dr S N Dasgupta—A History of Indian philosophy vol III P 482
- 2 Dr S Radhakrishnan—'We have also in the Vedas the conception of God Bhaga who is a bestower of auspicious blessings .. The religion in which Bhagawan (or Bhagavat) is the object of worship is Bhagavatim Indian Philosophy Vol II P 667
- 3 Ibid— Alvaras are the most ancient Vaishnava poetsaints of south who with their Tamil hymns full of intense devotion loye for visnu sang the mystic glory of the God Vol III P 483
- ४ डा० राधाकृष्णन दण्डियन फिलामफी, भाग २, पृ० ६६८
- ५ वही भाग २ पृ० ६६८
- ६ आनन्दगिरि, छांदात्मउपनिषद्भाष्यटीका ३। १०। ४
- ७ वेणयसप्तद पृ० ३
- ८ आचार्य वनश्रव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४३२

उद्धारक आचार्य न योग रहस्य तथा 'यायतत्व नामक विशिष्टाद्वैत मत के ग्रन्थों की रचना की है। नवम सदी के भेदाभेदवादी भास्कर का प्रभाव भी रामानुज पर पड़ा है। यामुनाचाय (६३७ ई०) श्रीरगम के आचार्य ने गोतीयसंग्रह श्रीचतुश्लोकी सिद्धिनय महापुरुषनिर्णय आगमप्रामाण्य तथा आलम्बदारस्तोत्र की रचना की। भक्ति भावना की दृष्टि से आलम्बदार स्तोत्र की अत्यधिक प्रशंसा है।

रामानुज का व्यक्तित्व वैष्णव-मत के आचार्यों में सर्वाधिक प्रभावशाली एवं चतुष्पुष्प है। इनका समय १०३७ स ११३७ ई० है। उन्होंने वेदाथसंग्रह, वेदातसार, गद्य त्रय गीताभाष्य तथा श्लोभाष्य की रचना की। रामानुज के गुरु यादव प्रकाश ने ब्रह्म परिणामवाद की स्थापना करते हुए ब्रह्मसूत्र पर स्वतंत्र भाष्य लिखा था। रामानुज न यादव प्रकाश के पास ही अध्ययन किया, किंतु उनके सभी विचारों से सहमत न होने के कारण उन्होंने नये मत की स्थापना की। यादवप्रकाश की दृष्टि में भेद और अभेद दोनों ही वास्तव हैं। यादवप्रकाश का मत भास्कर तथा रामानुज दोनों से भिन्न तथा परिणाम की स्थिरता एवं सत्ता पर अधिक महत्त्व देता है। रामानुज ने पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना में अधिक सतत तथा दार्शनिक दृष्टि ग्रहण की है।^१ उन्होंने वैष्णव सन्ता के विश्वास को लेकर उपनिषद् गीता तथा ब्रह्मसूत्र के माध्यम से अपने ग्रन्थों में नवीन मत का निर्माण किया है।^२ सुदशनमूरि (१२००-१२७५ ई०) ने रामानुज के माध्यम पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं। रामानुज भाष्य पर श्रुति प्रकाशिका तथा श्रुतिदीपिका, उपनिषद्ब्याख्या वेदाथसंग्रह की टीका, तात्पर्य दीपिका एवं भागवत पर शुक्लपंथीय टीका आदि ग्रन्थों की रचना की है। १३वीं सदी ई०, रामानुज स १५० वर्ष उपरान्त उक्त श्रीसम्प्रदाय में दो मत हो गए। तिंगल एवं बडगल। इस वर्गीकरण का मूल आधार स्रोत सम्बन्धी धारणा थी। तिंगल तमिल ग्रन्थों की ही प्रधानता स्वीकार करते थे जबकि बडगल तमिल के साथ साथ संस्कृत भाषा के श्रुति-साहित्य को भी महत्त्व देते थे। इनमें परस्पर सद्दान्तिक भेद भी हैं।^४ उपाहरण के लिए तिंगल दोष भोग्य—अर्थात् ईश्वर को पाप का भोग करना होता है—मानते हैं^५ जबकि बडगल इस स्वीकार नहीं करते। प्रपत्ति का स्वरूप में भी दोनों

1 Dr S Radhakrishnan—Indian Philosophy vol II P 671

2 Ibid—Ramanujas faith is more philosophical and restrained than that of some of his predecessors as well as successor Vol II P 669

3 Ibid—vol II P 668

४ गोविंदाचार्य स्वामी अष्टाशभेनाज जे० आर० ए० एस० १९१०

५ आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन पृ० ४२४

म अन्तर है। तिगल गरागण हो जाने पर ईश्वर के द्वारा ही उदार का मानते हैं अतः शरणागति के लिए कर्मादि की आवश्यकता नहीं मानते। किन्तु बडगल मत में प्रपत्ति की प्राप्ति के लिए कर्मों की अनिवार्यता है। तिगलमत के सस्यापक लावाचाय (१३०० ईस्वी) ने वचन भूषण में उक्त मत की व्यापना की है। बडगल दग का प्रारम्भ वेङटनाय (१२६६-१३६६ ई०) ने किया। यह वगान्तदेगिक के नाम से भी प्रख्यात है। रामानुज सम्प्रदाय में इस आचार्य के समान विविध प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व नहीं हुआ। इमने सक्ल्पसूयैदय हसद्रत, रामाम्बुदय, यादवाम्बुदय पाहुकामहस आदि का काव्यग्रन्थ तथा श्रीभाष्य की टीका तत्वटीका, अधिकरणसारावली तत्वमुक्ता-कत्राप, यायपरिगुडि यायसिद्धाजन, गीतायतात्पथचन्द्रिका, इशावास्यभाष्य, श्रविद्धोपनिषद्तात्पर्यरत्नावली गतदूषणी आदि अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। वरवरमुनि ने श्रविद्ध ग्रन्थों का विस्तृत व्याख्यान किया है। श्रीनिवासा चाय (१७०० ई०) अप्पयदीक्षित तथा रगरामानुज (१८०० ई०) आदि अन्य प्रसिद्ध आचार्यों ने विगिष्टाद्वय साहित्य की विपुल श्रीवृद्धि की है। इस सम्प्रदाय का परवर्ती विचारकों वल्लभ, मध्व चैतन्य, कबीर नानक आदि पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा।^१

गवर ने गौडपाद का अनुसरण करते हुए उत्तरमीमामा के व्याख्यान में अत्यधिक वादगवादी दृष्टिकोण का प्रश्रय दिया। किन्तु गवर की यह दृष्टि किसी भी परवर्ती वणव विचारकों का अनुकूल प्रतीत नहीं हुई। रामानुज, वल्लभ, निम्बाक, मध्व तथा चतय आदि श्रय, जीव तथा जगत् के परस्पर सम्बन्ध के विषय में वैसी अनिगामिनी दृष्टि का विनियोग नहीं करते। शकर के अनुसार व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता की सम्पूर्ण गमनि वरवे अतल गम्भीर समुद्र में विलिन हो जाना ही उसकी रसा के लिए आवश्यक है।^२ किन्तु रामानुज के अनुसार किसी भी अनुभव की सत्ता तब तब व्यय है जब तक कि विषयी की सत्ता न मानी जाय। जीव अथवा विषयी की यह सम्पूर्ण तदा वारता, त्रिम गयविकक आत्मबोध का सवया अभाव है किसी भी व्यावहारिक आचार्य को गविवर नहीं लग सकती। जगत् को ईश्वर के अधीन स्वीकार करना रामानुज की दृष्टि में अधिक गगत है अपधावृत्त मिध्यात्व के। आचारगान्त्र के प्रति गवर की उगण, गान्त्रिक गान का व्यावहारिक गान को तुलना में महत्व^३ तथा भक्ति^४

1 Dr S Radhakrishnan—The movement of Madhva, vallabha, Chaitanya Ramarand Kabir and Nanak and the reforms or gansisation of Bramhoism are largely indebted to Ramanuja's Theistic idealism" Indian Philosophy, Vol II P 670

२ वही भाग २ पृ० ६५६

३ तत्रमुक्तावली

वाचनापदानमात्रादृष्टानि।

की अप्राप्तता आदि ऐसे विचार हैं जिनके कारण रामानुज को अपन नवीन मत की स्थापना करनी पड़ी ।^१

ब्रह्म—रामानुज विशिष्ट-अद्वैत के समर्थक हैं। ब्रह्म विशेष्य है तथा विशेषण इसमें आश्रित है। चित् (जीव) तथा अचित् (जड) विशेषण हैं ब्रह्म विशेष्य। उक्त दोनों का ब्रह्म आश्रयदाता, धारणकर्ता तथा नियामक है।^२ वे तत्त्वत्रयवादी हैं। ईश्वर सभी प्रकार के सजातीय एव विजातीय क भेद से मुक्त होने पर भी स्वगत भेद-युक्त है। दैनिक व्यवहार में यह सबसिद्ध है कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान बिना विशेषण के नहीं होता। अतः निर्विकल्पक तत्त्व की मायता स्वीकार न करके सविशेष ब्रह्म का ही ग्रहण उचित है।^३ श्रुतियों की अद्वयता से विशिष्ट की ही आर सकेत है।^४ जीव और प्रकृति की आत्मा ईश्वर है। उक्त दाना उसके शरीर हैं। आत्मा के द्वारा शरीर नियमित धारण विधेयन तथा उपभोग करने योग्य है तथा वह शेष है।^५ य तीन तत्त्व सम्भवतः रामानुज ने श्वेताश्वतर उपनिषद् से लिए हगे।^६ ब्रह्म सवज्ञ तथा सवशक्ति सम्पन्न है। किसी भी बाह्य वस्तु की अपेक्षा न होने के कारण सभी अनुभव उसी में हैं। ज्ञान, शक्ति और कर्तृता में से कर्तृता के द्वारा ही उसने सृष्टि का निर्माण किया, नियम बनाए एव पूणता के आकाशियों को सहारा दिया।^७ सत्य ज्ञानमन्त ब्रह्म तथा अय श्रुतियां जिनमें गुण का निषेध किया गया है उनका अभिप्राय अतयुक्त तथा मिथ्या गुणों का ही निषेध है न कि सभी का। अतः विरोधी श्रुतियां जस नह

१ डा० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६६१

२ रामानुज श्रीभाष्य २।१।६

‘सर्व परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्य धाय तच्छ्रुतकस्वरूपमिति सर्व चेतना-चेतन शरीरम्।’

३ माघवाचाय, सवदशन सग्रह पृ० ४३

‘सर्वप्रमाणस्य सविशेषतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाण समस्ति। निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते।’

४ वेदान्ततत्त्वसार

वस्वतः विशिष्टस्यैव अद्वितीय श्रुत्यभिप्रायः। सूक्ष्मविदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मण तदानीं सिद्धत्वात् विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्व सिद्धम्।’

५ रामानुज श्रीभाष्य २।१।६

‘नियमेन आधेयत्वम् नियमेन विधेयत्वम् नियमेन शेषत्वम्।’

६ श्वेताश्वतर उपनिषद् १।१२

‘भोक्ता भोग्य प्रेरितार च मत्वा सर्व प्रोक्त त्रिविध ब्रह्म एतत्।’

७ डा० एस० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, भाग २ पृ० ६६३

वेदान्त का उद्भव

नानास्ति किञ्चन' आदि का अर्थ है कि ब्रह्म से भिन्न अर्थात् आत्यंतिक एव सवया स्वतंत्र अन्य कोई तत्त्व नहीं है। अर्थात् सजातीय विजातीय भेद नहीं है।^१ किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ब्रह्म म स्वगत भेद नहीं है। ईश्वर बिना कारण के है। उसमें भिन्न सभी वस्तुओं का कोई कारण अवश्य है। विष्णु ही ब्रह्म है, तथा विव एव ब्रह्मा भी उससे अभिन्न ह। सभी श्रेष्ठ गुणों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि व सीमित मन आदि के अतगत नहीं आ पाते। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का रामानुज सम्मत व्याख्यान है कि अनेक विशेषणों का समानाधिकरण्य से एक विनोध्य में रहना। अर्थात् ब्रह्म के साथ जीव एव जड़ विशेषण के रूप में—शरीर के रूप में— सम्बद्ध है।^२ कारण एव काय इन दो रूपों में ईश्वर है।^३ सृष्टि ब्रह्म की कार्यविस्था एव प्रलय कारणविस्था है। वह अतर्क्य है। स्वयं अपरिवर्तनीय होते हुए भी परिवर्तन करने वाला है। वह देहयुक्त है किंतु देहयुक्तता बंध का कारण नहीं है। नारायण अथवा वामुदेव की आद्यशक्ति लक्ष्मी, दया और शक्ति की प्रतीक हैं। शुद्ध सत्य निर्मित वैकुण्ठ उनका आवास है। स्वामी के रूप में वामुदेव, बुद्धि एव जीव का गामक सकृपण मनस्त्व का शासक एव सृष्टिकर्ता प्रद्युम्न, अहंकार तत्त्व के शासक एव जगत् के सरदाक अनिरुद्ध आदि उसी के व्यूह हैं तथा ईश्वर के आशिक रूप का परिचय देते हैं।^४ वही कमफल का स्वामी है। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को व्यक्त करते बताया गया है कि ईश्वर कम के अनुसार जीव को फल देता है। साथ ही यह भी माना गया कि जीव ईश्वर के अधीन है किंतु ईश्वर का यह नियंत्रण भी स्वतंत्र नहीं है कम के ही अधीन है। इसलिए इस नियंत्रण की प्रबलता के लिए सम्भवत रामानुज ने ईश्वर जीव को कर्मों के प्रति प्रेरित करने वाला है, यह माना है।^५ ईश्वर में स्थित प्रत्येक गुण यद्यपि परस्पर भिन्न प्रकार के हैं, तथापि उनकी यह विभिन्नता उसके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की असंगति उत्पन्न नहीं करते। ईश्वर के साथ उनका सम्बन्ध चिरतन एव स्वाभाविक है।^६ वह अनिवाय विशेषताओं के साथ अथ आधारित विषया का भी आश्रय है।^७ भोक्ता, भोग्य एव प्रेरक स्वरूप-

१ डा० एस० राधाकृष्णन, इडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६७७

२ वेदाधमारसग्रह, पृ० ३२

३ रामानुज, श्रीभाष्य, पृ० ८२,

४ 'स्थूल सूक्ष्मचिदचित्प्रकारक ब्रह्म'व कारण चेति ब्रह्मोपादान जगत्।

५ डा० सी० डी० शर्मा, इडियन फिलासफी, पृ० ५०१

६ डा० एस० राधाकृष्णन, इडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६६३

७ रामानुज, श्रीभाष्य, २।१।१५

७ रामानुज, रहस्यत्रयसार, ३

भेद के कारण तीन हैं जबकि विशिष्ट एव विशेषण के आधार पर एक ही है। एक्य का अर्थ अपृथक् सिद्धि है।^१ मत् चित् तथा आनन्द य तीन गुण ईश्वर को आकार एव वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। सगुण ब्रह्म को रामानुज ने ग्रहण किया है। आत्मसमपणात्मक भक्ति की अपेक्षा करने वाला ब्रह्म किस काम का है ?^२ ब्रह्म ही आत्यन्तिक सत्ता है। जीव और जड़ उसके गरीर एव विशेषण होने के कारण उसके अधीन हैं।

जीव—रामानुज का ब्रह्म विशेषणयुक्त है। उसकी विशेषणयुक्तता इसलिए ग्रहण की गई कि जीव और जड़ की भी व्यक्तिगत आत्यन्तिक रूप में सिद्धि हा सके। ब्रह्म का अर्थ होने पर भी जीवात्मा सत्य है। वह एक चिरन्तन, चेतनापूर्ण अखण्ड अपरिवर्तनीय अप्रत्यक्ष एव अणु परिभाषी है।^३ यह गरीर, इन्द्रिय प्राण तथा मन से भिन्न है।^४ ज्ञाता कर्ता एव भोक्ता है। बाह्य शरीर प्राण, चानेन्द्रिय से समुक्त आत्मा के बोध का माध्यम मन है। उसके अध्ववसाय अभिमान और चिन्ता य तीन व्यापार हैं। हृत्पद्म में निवास करने वाला जीव सुपुष्टि अवस्था में हृत्पद्म ब्रह्म में विश्राम करता है।^५ अणुरूप जीवात्मा छोटी सी दीपशिखा के समान सुख-दुःख का सम्पर्क स्थापित करके प्रकाश करता है।^६ काल और स्थान का व्यवधान भी इसके ज्ञान की सीमा को नहीं रोक पाता। आत्माएँ अनेक हैं। दुःख और सुख की विपमता आत्मा के नानात्व की सिद्धि करती है।^७ जीव के वास्तविक बोध के अन्तरामक रूप में स्थित प्रकृति से जीव आबद्ध है तथा वह जीव की वाहिका भी है।^८ जन्म और मृत्यु के चक्र में आवृत्त रहन पर भी उसके व्यक्ति की गार्वतिक स्थिति है। प्रलय काल में उसका विशेष रूप नष्ट होता है किन्तु स्वरूप ज्या का त्यागना रहता है। जीव की सत्ता की प्रतीति अह प्रत्यय से होती है। वह अर्थ अर्थों से भिन्न है। यदि यह

१ डा० एस० राधाकृष्णन इंडियन फिलासफी भाग २ पृ० ६८४

२ Dr S Radhakrishnan—'The Nirguna Brahma which steems at us with Frozen eyes regardless of our selfless devotion and silent sufferings is not the God of religious insight' vol II P 683

३ डा० एस० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग, २ पृ० ६६०

४ रामानुज, श्रीभाष्य २।४।१०

५ वही, ३।२।६

६ वही २।३।२४ २६

७ वही २।१।१५

८ डा० एस० राधाकृष्णन इंडियन फिलासफी भाग २ पृ० ६६१

वदान्त का उद्भव

मिन्नता न होनी तो फिर मोक्ष का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ब्रह्म एव मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में उसका शाश्वत रूप अक्षुण्ण रहता है। क्रियाशील जीव कम-फल का भोक्ता है। शरीर से सम्बद्ध रहने तक ही वह कम से नियमित है। मुक्तावस्था में कामना मात्र से उसकी सम्पूर्ति हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य और प्रकाश का परस्पर असाशिमत्व है वैसे ही जीव-ब्रह्म मिन्न होते हुए भी सम्बद्ध हैं। जीव की तुलना में ईश्वर ही एक ऐसा तत्त्व है जो सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाओं के परे है। ईश्वर जीव को उसके कर्मों के आधार पर फल देता है। पान की निविषयता रामानुज की प्रिय नहीं है। अतएव विषयी और विषय की सीमा रेखा स्वीकार कर लेने के उपरान्त अर्थात् जीव की पाता के रूप में न्यति मान लेने के उपरान्त ही व पान की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं।

आत्मा अपने स्वरूप का अपने आप प्रकाशक है।^१ जीव तीन प्रकार के हैं। नित्य, मुक्ता तथा बद्ध। कम और प्रकृति से मुक्त वैकुण्ठ निवासी जीव नित्य हैं। अज्ञान के बन्धन से माया प्राप्त कर लेने वाले मुक्त जीव हैं तथा जो अज्ञान से बद्ध हैं उनको बद्ध कहा गया है। बद्ध जीवों को भी चार रूपा में विभाजित किया गया है। देव मानव, पशु तथा स्यावर। यद्यपि सभी जीवात्माओं में किसी भी प्रकार का तात्त्विक भेद नहीं है तथापि प्रतीयमान भेद केवल शरीररहित ही है। अत ऊपर कहे गए आत्माओं के न होकर, शरीर के ही हैं। इस सम्प्रदाय में ऐसे भी कारण स्वीकृत भेद भी केवल शरीर के कारण ही है। इस सम्प्रदाय में ऐसे भी आवाय हुए हैं जो हीन वश में उत्पन्न हुए थे। ईश्वर के पापद मुक्त जीवों को वैकुण्ठ ले जाते हैं।^२ कम से जीव की आवद्धता का समाधान न तो तक से मिल सकता है और न श्रुति से, क्योंकि सृष्टि प्रक्रिया तो अनादि है। जीव द्रव्य भी है तथा गुण भी। ब्रह्म के सम्बन्ध की दृष्टि से गुण तथा अपने शरीर के सम्बन्ध की दृष्टि से द्रव्य है। मृष्टि के समय अपने कम के अनुसार यह देह प्राप्त करता है। मुक्तावस्था में कम से स्वतंत्र हो जान के कारण पुन जन्म नहीं होता। ज्ञान आत्मा का आवर्त्मक घट नहीं है। सुषुप्ति एव मुक्ति में भी पान आत्मा में रहता है। स्वभावतः पान अनन्त और सर्वव्यापक है। बन्धावस्था में कम के कारण सीमित रहता है।^३ आनन्द भी जीव का अवयवीभूत घट है। जीव का मोक्ष पानवत्समुच्चय के द्वारा होता है।

१ रामानुज, श्रीभाष्य, १।१।१

‘अनुभूतित्व नाम वतमानदगायाम् स्वसत्त्वैव स्वाथय प्रति प्रकाशमानत्व स्वसत्त्वैव स्वविषयमाधनत्व वा।’

२ डा० एम० राधाकृष्णन इण्डियन फिलामफी भाग २, पृष्ठ ६६५

३ डा० सी० वी० शर्मा इण्डियन फिलामफी, पृष्ठ ५०६

आत्मानुभूति का स्वरूप ईश्वर के विणेपण के रूप में अपने आपकी समझ केने हैं। रामानुज के द्वारा स्वीकृत जीवेश्वर सम्मन्ध को देखते हुए न तो यह कहा जा सकता है कि वे परस्पर पृथक् हैं और न, ही अपृथक्। वस्तुतः रामानुज भेदाभेदवादी ही हैं। भेदाभेदवादी होते हुए भी रामानुज ने उन सबका खण्डन किया है जो वस्तुतः भेदाभेदवादी ही हैं जैसे निम्बान, भास्कर आदि। यह निश्चित रूप से आश्चर्यकारक है।

जड़तत्व-जीव के समान जड़ भी ब्रह्म का विणेपण है। रामानुज सात्वायवाद को मानने वाले विचारक हैं। उनके अनुसार काय कारणावस्था में भी सत् है। काय केवल भिन्न-अवस्था को प्राप्त करना मात्र है।^१ आद्यम ही द्रव्य है उस पर आधित अद्रव्य, विशेषण, होगा। प्रकृति काल एव गुदतत्व ये तीन अचेतन पदार्थ के प्रकार हैं। अचेतन भोग्य है। सत् रज तथा तमोगुण युक्त प्रकृति की सत्ता श्रुति-ग्राह्य है।^२ प्रलयवावस्था में मूढमातिसूक्ष्म रहती है। उक्त तीना गुणा स ही मृष्टि क्रिया होती है। यह अजा है। इसका आकार ही द्रव्य और अद्रव्य होता है। मृष्टि प्रक्रिया में तमस से महत् उससे अहकार और अहकार से एकादशद्रिय तामस अहकार से पचभूत तथा राजस अहकार उन दोनों को प्रेरित करता है।^३ सात्य के विपरीत श्रीसम्प्रदाय की मान्यता है कि प्रकृति का नियामक ईश्वर है।^४ बाल की स्वतंत्र सत्ता है तथा वह प्रत्यक्ष गोचर है। सभी अचेतन वस्तु ईश्वर के अधीन हैं।^५ स्वरूपतः अचेतन तत्व न मुखद है और न दुखद। वे जीव को अपने कर्म के अनुसार फल देते हैं। मुक्त व्यक्ति को यह ज्ञान-दूषण ज्ञात होता है। अचेतन का ईश्वर स सम्बन्ध परोक्षतः है। कारणावस्था में ब्रह्म ही अभिधान होता है जबकि कार्दावस्था में जड़ तत्व कहा जाता है। उत्पत्ति और विनाश सापेक्षिक है। उत्पत्ति ब्रह्म के स्वरूप की ही अभिव्यक्ति है। गुद तत्व को नित्यविभूति भी कहा गया है। सम्भवतः इस विषय में विद्वानों में मतभेद है कि गुद तत्व जड़ है अथवा चित् समुक्त। लोकाचार्य ने इसे जड़ माना है।^६ जबकि क्वटनाथ^७ श्रीनिवास अ आदि चेतनत्व मानते हैं। इसी स श्रीराम तथा कृष्ण आदि पवित्र स्थान बने हैं।

१ रामानुज—'अवस्थांतरापत्तिरेव हि कायता।' गीताभाष्य १३।२

२ तत्वभुक्ताकलाप १।२

३ सर्वायसिद्धि १।२

४ वही १।१६

५ श्रीभाष्य २।२।२

६ तत्वत्रय पृष्ठ ८१

७ तत्वभुक्ताकलाप १।६, १ क—'नात्वाज्जाड्यकण्ठीवतानुगुणभवंदन् मुच्यता आत्मनीव। वही ३।६२

द्वैताद्वैत मत—निम्बाक अथवा निम्बादित्य बेलारी जिले के निम्बपुर के तेलुगु ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम जगन्नाथ तथा माता का नाम सरस्वती था। निम्बाक के समय के विषय में विद्वाना में पर्याप्त मतभेद है। गौडपाद की कारिका^१ में द्वैताद्वैत मत की सम्भावित उपलब्धि मानकर तथा शंकर द्वारा भेदाभेद के लण्डन को आधार बनाकर कतिपय विचारक निम्बाक को शंकर एवं गौडपाद से भी प्राचीन मानते हैं।^२ किन्तु अत्यन्त सामान्य विवेचन से इस मत को अस्वीकार किया जा सकता है। भेदाभेद पर आधारित विचारधारा के स्थापक के रूप में निम्बाक को मानकर उसे गौडपाद के पूर्व मानने से गौडपाद के पूर्ववर्ती आचार्य आश्वरथ्य आदि से भी, निम्बाक को, पढ़ने का मानना होगा। आश्वरथ्य का ब्रह्मसूत्र में उल्लेख है।^३ अतः ऐतिहासिक भीषाया की दृष्टि से उक्तमत सवया अप्राप्त है। दशरत्नोकी के टाकाकार हरिव्यासदेव निम्बाक की परम्परा में बर्तीसर्वे आचार्य हैं। इनके बाद दामोदर गोम्बामी का समय १७६५ ईस्वी है। मध्य के ततीसर्वे आचार्य का समय १८७६ ई० मानकर मध्य की १२७६ ई० का माना है। इस भाँति सामान्य रूप से निम्बाक को भी ११६५ ई० का मान सकते हैं। यह निष्कर्ष डा० भण्डारकर ने प्रत्येक आचार्य के पीढारोहण काल को लगभग अठारह वष तक विस्तृत मानकर प्रहीन किया है।^४ पण्डित किनोरीनाथ ८६८ ई० समय मानते हैं। किन्तु अन्त साध्य के द्वारा निम्बाक की रामानुज के उपगन्त स्थिति होनी चाहिए।^५ निम्बाक को इस ऊपरी काल-सीमा के लिए माधवाचार्य के 'सर्वदशन सग्रह' का साध्य भा आवश्यक है। अपने समय के प्रचलित सभा दान-मन्त्रणों का विवेचन इस ग्रंथ में है किन्तु निम्बाक मत का कोई उल्लेख इसमें नहीं है। निम्बाक के मत का यह अनुल्लेख उसे माधवाचार्य से परवर्ती काल का प्रमाणित करता है। माधवाचार्य का समय चौदहवीं सदी है। अतः चौदहवीं सदी का अतः अथवा पंद्रहवीं सदी का प्रारम्भ निम्बाक का समय रहा होगा।^६

१ गौडपाद—अद्वैत परमार्थो हि द्वैत तद्भेद उच्यते।

तेषामुभयया द्वैत तनाय न विच्छ्यते ॥' भाष्यक्यकारिका।

२ राधिकादास—ब्रह्मसूत्र पर वेदान्तपारिजातसौरभ की भूमिका, पृष्ठ ५

३ ब्रह्मसूत्र १।४।२

४ बन्धविजय शैविज्य एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, डा० आर० जी० भण्डारकर, पृष्ठ ११८

५ टा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ३, पृष्ठ ३६६

६ वही, भाग ३, पृष्ठ ४००, डा० एस० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी भाग २, पृ० ७५१

‘आश्चर्य्य, भास्वर, भद्रप्रपच तथा यादवप्रकाश के द्वारा स्वीकृत भेदाभेद दशन की अपनी धारणा के अनुकूल परिवर्तित करने निम्बाक ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। निम्बाक के ग्रन्थ—ब्रह्म सूत्र पर भाष्य, वेदान्तपारिजातसौरभ, दशश्लोकी, कृष्ण स्तवराज, मध्वमुखमदन, वेदात-तत्त्वबोध, वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप तथा स्वधर्माध्वबोध आदि हैं।^१

हरिगुरुस्तवमाला के अनुसार राधा और कृष्ण के एकीकृत स्वरूप हंस ने इस सनक सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया। यह ज्ञान धारा हंस के शिष्य कुमार, कुमार के शिष्य नारद के माध्यम से प्रवाहित होकर निम्बाक तक पहुँची। इस प्रकार यह सम्प्रदाय अपन मत का पौराणिक उद्भव प्रतिपादित करता है। परम्परानुसार इसे सुदशन का अवतार माना गया है। श्रीनिवास निम्बाक का शिष्य था। इसके उपरान्त की आचार्य परम्परा में क्रमशः विश्वाचार्य, स्वरूपाचार्य, बलमद्राचार्य, पद्माचार्य श्यामाचार्य ? गोपालाचार्य, कृपाचार्य, देवाचार्य, सुन्दर भट्ट पद्मनाभाचार्य उपद्रमभट्ट तथा अन्य अनेक आचार्य थे। हरियासदेव तक सभी सूत्रियाँ में एकरूपता मिलती है।^२ इसके बाद बारह अन्य आचार्यों के उपरान्त अन्तिम आचार्य सतदास बाबाजी थे जिनकी मृत्यु १६३५ ई० में हुई।

ब्रह्मसूत्र पर निम्बाक ने वेदान्तपारिजात सौरभ नामक भाष्य की रचना की। श्रीनिवास ने सौरभ पर वेदातकौस्तुभ लिखा। केशव-काश्मीरी ने इस पर वेदान्त कौस्तुभप्रभा का निर्माण किया। इसने भगवद्गीता पर तत्त्वप्रकाशिका एवं श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध पर तत्त्वप्रकाशिकावेदस्तुति नामक टीकाएँ लिखीं। श्रीनिवास ने लघु स्तवराज में निम्बाक की बन्दना की है। इस पर निम्बाक मत के प्रसिद्ध आचार्य पुरुषोत्तमप्रसाद ने गुरुभक्तिम-दाकिनी व्याख्या लिखी। निम्बाक का वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप शांकर मत के विरुद्ध लिखा गया। सिद्धान्तरत्न के नाम से प्रसिद्ध निम्बाक की तीन व्याख्याएँ हैं। इनमें एक पुरुषोत्तमप्रसाद द्वारा वेदान्तरत्नमञ्जूषा अज्ञात लेखक द्वारा लघुमञ्जूषा तथा हरिव्यासमुनि द्वारा लिखित अन्य व्याख्या प्रसिद्ध हैं। पुरुषोत्तम प्रसाद ने कृष्णस्तव पर श्रुत्य-तसुरद्रुम तथा स्तोत्रत्रयी की रचना की। उक्त ग्रन्थों में पुरुषोत्तम ने शांकर, रामानुज तथा मध्व के मतों की प्रखर आलोचना की है।^३

निम्बाक के मत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में कतिपय पूर्ववर्ती लेखकों

१ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ३ पृ० ४००

२ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ३ पृ० ४०२

३ वही, भाग ३ पृष्ठ ४०४

का उल्लेख अपरिहाय है। इन सभी आचार्यों ने बहुत मात्रा में समानता तथा अल्परूप में असमानता के साथ भेदाभेद को स्वीकार किया है। वादरायण के पूर्ववर्ती आचार्य औदुलोमि के अनुसार सत्ता दशा में जीव और ब्रह्म पृथक् हैं किन्तु मुक्तदशा में चतुर्थात्मक होने के कारण एक हैं।^१ मूलकारण के रूप में अभेद होते हुए भी वाय-रूप में भिन्नता होती है, यह आश्वरथ्य का मत है।^२ काण्डरुत्न को भी भेदाभेद-वादी माना गया है।^३ गवर ने भृगु प्रपञ्च का खण्डन इसी मत का समर्थक मानते हुए किया है।^४ ये ब्रह्म परिणामवादी हैं। ब्रह्म तथा जीव में अर्थात्तरूप सम्बन्ध है। शकरोत्तरकाल भ भास्कर का मत भी भेदाभेद के नाम से विख्यात था। परवर्ती आचार्यों ने इनका खण्डन किया है। इस मत में ब्रह्म को वाग्यरूप में निराकार तथा वायुरूप में जीव एक प्रपञ्च माना गया है। ब्रह्म की ही दो शक्तियाँ भोग्य एवं मातृ के सम्बन्ध को प्राप्त करती हैं। ये दोनों शक्तियाँ पारमायिक हैं।^५ दृष्य का दधिरूप में जिस प्रकार परिणमन होता है वैसा ही ब्रह्म का भी अतः भास्कर स्वाभाविक ब्रह्म परिणामवादी हैं।^६ अध्युत-ब्रह्म अपनी इच्छा से लोक हित के निमित्त अपनी शक्ति के अनुसार परिवर्तित होता है।^७ यादव भी भेदाभेदवादी हैं। भास्कर भेद का औपाधिक मानना है अभेद को स्वाभाविक। यादव का मत इसके विपरीत स्थिर परिणामवादी है।

निम्बाक के मामले में उक्त सभी आचार्यों द्वारा स्थापित विचारधाराएँ थीं। बिना क्लृप्त अधिक् मौलिकता का प्रदान करते हुए उन्होंने अपने मत की स्थापना की। अपने मत के इन पूर्वाचार्यों से मत में ग्रहण करने पर भी, रामानुज तथा शंकर के समान इन्होंने वही भी इनके प्रति वृत्तता प्रदर्शित नहीं की है। इसके अतिरिक्त विपरीत मतानुषंगी विद्वानों, जिन रामानुजाचार्य ने भी इनका अपने ब्रह्मसूत्र के स्वरूप एवं विषय की दृष्टि में प्रभावित किया। निम्बाक ने अपने द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों

- १ वादरायण—'उत्त्रमिव्यनि एव भावादित्यौदुलोमि ब्रह्मसूत्र १।४।२१
- २ वही—प्रतिनासिद्धेऽविगमादमरस्य । १।४।२०
- ३ वेणकान्दोरी—शंकर मुनिप्रपञ्चद्वारा प्रसंगान् भेदाभेदप्रकारो भगवता दर्शित ।' वेदान्तपारिजात मौर्य पर वेदान्त-कोस्तुभ १।४।२२
- ४ गवर—बृहदारण्यक उपमाध्य २।३।६ ३।४।२, ६।३।०
- ५ भास्कर—ब्रह्मसूत्रमाध्य २।१।२०
- ६ वही—ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वभावात् । यथा क्षीर दधिभावाय अग्नी हिमभावाय ।' २।१।२४
- ७ वही—स हि मन्त्रद्वया स्वात्मान लोकहिताय परिणमयन् स्वभावतनुमारेण परिणमयति ।' २।१।१४

को इन्ही आचार्यों से प्राप्त किया, किन्तु कृष्ण भक्ति की धारा में इसे अनुरजित करना उनका अपना व्यक्तिगत प्रयोग है। यद्यपि कहा जा सकता है कि इसकी प्रेरणा भी उनको रामानुज से मिली होगी। इसी निम्वाक मत का नाम भेदाभक्त अथवा द्वैताद्वैत है।

ब्रह्म—ब्रह्म सम्बन्धी जिज्ञासा की सम्पूर्ति के पूर्व अधिकारी का श्रुतिया का सम्यक् अध्ययन एवं ब्रह्म साक्षात्कार से आत्यंतिक एवं चिरस्थायी आनन्द की उपलब्धि के प्रति विश्वासी होना चाहिए। निम्वाक मत में श्रीकृष्ण को ब्रह्म तथा राधा को आद्य सहधर्मिणी माना है। वह स्वभावतः सभी प्रकार के दापा से सवथा पृथक् है, कल्याण एवं गुण के अनन्त भण्डार तथा चार 'सूह' के रूप में स्वयं को प्रकट करते हैं।^१ गणक के निगुण ब्रह्म के विपरीत निम्वाक ने ब्रह्म को सगुण अथवा सविगुण माना है। शास्त्रीय उल्लेखों के द्वारा उसमें ज्ञान एवं क्रिया शक्ति है। अतः वह धर्म युक्त है निराकार नहीं।^२ आनन्दमय परम सत्त्विष्ठ इसी को ब्रह्म कहा गया है।^३ कृष्ण सर्वात्म्यामी तथा सबव्यापक है। जगत् के भीतरी एवं बाहरी सभी भाग में वह सभी जगह व्याप्त है।^४ जीव जड़ उसकी शक्ति होने के कारण अशक्त हैं।^५ सम्पूर्ण कम उसी के अधीन है। जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों ही प्रकार का कारण वही है। उसकी शक्ति ही चित् और अचित् रूप में परिवर्तित होती है। इसीलिए उस उपादान कारण माना है।^६ जड़ तत्त्व ब्रह्म के एक रूप न होने के कारण वह भिन्न भी है तथा उपादानत्व की दृष्टिसे अभिन्न भी है। ब्रह्मकी सारी विशेषताएँ उसमें सम्भाव्य नहीं हैं। जीवन और जड़ स्वतंत्र न होकर इसी तत्त्व के अधीनस्थ रहते हैं। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं जाल को बाहर निकालती है। जाल उसी से निकलने पर भी उसमें भिन्न है क्योंकि बाद में जाल जलग अपनी सत्ता के साथ स्थित रहता है और मकड़ी जलग। जाल को

१ निम्वाक—स्वभावतोऽपास्तसमस्तनदोपमशेषकल्याणगुणकसगिम्।

व्यूहागित ब्रह्म पर वरेण्य ध्यायेम कृष्ण कमलक्षण
हरिम् ॥४॥ दशश्लोकी।

२ केशवकादमीरी—नापि निधमक ब्रह्म तस्य ज्ञानक्रियादीना स्वाभाविकशक्तीना
शास्त्रसिद्धत्वात् । वेदात्तकौस्तुभप्रभा १।१।५

३ आनन्दमयगदनिदिष्ट आत्मा ब्रह्म च । वही १।१।१३

४ यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् ददपते ध्रुयतेऽपि वा ।

अतबहिरच तत्सव व्याप्य नारायण स्थित । सिद्धातजाह्नवी पृष्ठ ३५ से
उद्धृत ।

५ डा० सी० डी० शर्मा—इण्डियन फिनासफी पृष्ठ ५४१ (अशो हि शक्तिरूप
ग्राह्य ।)

६ केशवकादमीरी—वेदात्तकौस्तुभप्रभा १।१।१३

वेदान का उद्भव

उत्पन्न करने के बाद भी उसका अस्तित्व किसी प्रकार न तो क्षीण होता है न परि-
वर्तित होता है। वैसे ही ब्रह्म भी अपनी शक्ति से जीव एव जगत् को उत्पन्न करने
बाद भी स्वयं अविकल रहता है। साथ ही उपादान के रूप में होने से जीव एव जड़तत्व
उसी में से निम्नृत है। बाद में भी वह जैसे पहले था वैसे ही सर्वगुण सम्पन्न रहता है।
जीव और जड़ स ब्रह्म की भिन्नता का कारण और कोई बहिर्भूत तत्व नहीं है, जिस
उपाधि या कुछ अर्थ माना जाव। ब्रह्म का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि
उससे जीव एव जड़ पृथक् और अपृथक् दाना ही प्रकार का है। इसी विशेषता के
कारण इस मत को द्वैताद्वैत कहा गया। इसमें द्वैत भी है काय के रूप में कारण की
दृष्टि में आधारभूत होने के कारण अद्वैत भी है। किंतु यह द्वैत बाद में नष्ट नहीं
होता। ब्रह्म तत्त्व में स एक बार व्याकृत होने के बाद य वभी विलीन नहीं होते।

जीव—रामानुज एव शंकर के समान निम्बाक जीव को नानस्वरूप मानते
हैं। किंतु निम्बाक के जीव की नानस्वरूपता शंकर के मत से पर्याप्त भिन्न है।
इन्द्रियो की सहायता के बिना भी वह ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। वह अपनी बुलना
से अत्यधिक महान तत्त्व ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के अधीन है। शरीर से जीव का ही
सयोग और वियोग होता है। प्रत्येक देह में पृथक् पृथक् रहने वाला यह अणुपरिणामी
अन्न और नाता है।^१ ज्ञान एव भाग के लिए वह ईश्वर के अधीन है। जीव के
गुण और जीव में घम घर्मि भाव सम्बन्ध है। प्रत्येक अवस्था में उसका वृत्तत्व सिद्ध
है। जो श्रुतिया जीव के वृत्तत्व की प्रतिपत्ति नहीं करती उनका अभिप्राय उमका
अधीनत्व सिद्ध करना है। प्रत्येक अवस्था में जीव आनन्दपूर्ण है। प्रत्येक अवस्था में
उसकी सत्ता बनी रहती है। स्वप्न सुषुप्ति यहा तक कि मोक्ष भी उसकी सत्ता को
किसी में विलीन करके तिरोहित नहीं करता। जीव की दुःखी अवस्था एव उसके
स्वरूप-बोध के व्यवधान के रूप में जनादि अविद्या है। अपनी पूर्ववस्था को प्राप्त
करने के लिए उसमें सर्वात्मना समपणरूप प्रपत्ति की आवश्यकता है। ब्रह्म साक्षात्
त्कार नैय न होकर भक्ति द्वारा प्राप्त है। अत मोक्ष में यद्यपि ज्ञान साधन नहीं है
तथापि अनान-वाचक अवश्य है।^२ ईह तथा इन्द्रियादि में आत्मत्व का आरोप, अर्थात्
आत्मस्थिति के प्रति अनान साक्षात्कारोपलब्धि में अवरोधक है। साथ ही कम एव
ज्ञान में अपन को स्वतंत्र मानना ही जीव का बन्ध भाव है। भक्ति के माध्यम से
उसे ईश्वर से अपन वास्तविक सम्बन्ध की प्रतीति होती है।^३ मोक्षावस्था में सत्ता के

निम्बाक—नानस्वरूप हरेरधीन शरीरमयोगवियोगयाग्यम् ।
अणु हि जीव प्रतिदेहभिन्न नावृत्तवन्त यदनन्तमाह ॥१॥

(दासलोकी)

२ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिन्दू आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ३,
पृष्ठ १४४

रूप में पृथक् होने पर भी स्वयं को ईश्वर का अंश मानता है।^१ उस समय वह जानन्द से अत्यधिक पूण रहता है। आराध्य के साक्षात्कार के पूर्व सभी सचित और क्रियमाण पापा का नाश हो जाता है।^२ इसी से त्रिविध कर्मों का क्षय होता है।^३

✓ जब तक कर्म का भोग शरीर स न कर लिया जाए तब तक मोक्ष नहीं होता। भले ही कर्म भोग के लिए एक अथवा अनेक जन्म लेने पड़े। अतः कर्म-क्षय शरीरपात के पूर्व सम्भव नहीं। इसीलिए अन्य मतों से भिन्न निम्बाक में जीव-मुक्ति का स्थान नहीं है।^४ बद्ध जीवा को दो प्रकारों में विभक्त किया गया है। जिसमें मोक्ष के प्रति इच्छा जाग्रत है व मुमुक्षु तथा जो भागो-मुख हैं उनको बुभुक्षु कहा गया है। इसी प्रकार मुक्त जीव भी नित्यमुक्त तथा मुक्तरूप इन दो प्रकारों में विभाजित है।

जगत्—अचेतन तीन प्रकार का अप्राकृत, प्राकृत तथा काल है। इसी को उपनिषद् साहित्य में माया तथा प्रधान आदि शब्दा द्वारा यक्त किया गया है।^५ महत् से लेकर स्थूल महाभूत तत्त्व तक उत्पन्न जड़ तत्त्व प्राकृत के अन्तर्गत है। जिन का प्रकृति से कोई संबंध नहीं है व सभी जैसे भगवान के लोक आदि अप्राकृत तत्त्व है। काल भी शाश्वत तत्त्व है। सत्सार प्रत्येक वस्तु के प्रति कारण है। इसकी अनेकता उपाधियों के कारण ही है। स्वरूपतः नित्य काल कायत अनित्य है। जड़ तत्त्व के य तीना भेद जीव के समान आत्यंतिक एव शाश्वत है।^६ इस केवल भ्रान्ति कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ ही अचेतन तत्त्व को ब्रह्म के अंश के रूप में मानना निम्बाक को अभीष्ट नहीं। रामानुज ने ब्रह्म का चिन्विद् माना है।

१ तत्तादात्म्यानुभवपूर्वकम् विश्वरूपे भगवति तच्छक्त्यात्मना अवस्थानम्। परपक्षगिरिवज पृ० ५६१

२ केशव काश्मीरी—तत्र उत्तरभाविन क्रियमाणस्य पापस्य आश्लेष तत्प्राग्भूतस्य सचितस्य तस्य नाग। वदन्तकीस्तुभ प्रभा ४।१।३

३ वही पृ०, ५६८

४ विदुषो विद्यामाहात्म्यात् सचितक्रियमाणयोरश्लेषविनाशो प्रारब्धस्य तु कर्मणो भोगेन विनाग तत्र प्रारब्धस्य एतच्छरीरेण इतरागरीरर्वाभुक्त्वा विनागा-मोक्ष इति संक्षेप। परपक्षगिरिवज्ज पृष्ठ ५८३

५ निम्बाक—अप्राकृत प्राकृतरूपक च कालस्वरूप तदचेतन मतम्।

मायाप्रधानादिपन्त्रवाच्य गुक्तादिभेदाच्च समेपि तत्र ॥३॥

दशश्लोकी १।१।१ वेदान्तकीस्तुभ

६ डा० एस० राधाकृष्णन् भाग २ पृष्ठ ७५२

वेदान्त का उद्भव

इसका विरोध निम्बाक के अनुयायियों ने किया।^१ ब्रह्म की शक्ति ही उपादान कारण के रूप में स्थित होकर जड़ तत्व की उत्पत्ति करती है। किन्तु इससे ब्रह्म के स्वरूप की किसी भी प्रकार से हानि नहीं होती है। जड़ तत्व को त्रिगुणात्मक स्वीकार किया है।^२ सबशक्तिमान् होने के कारण ब्रह्म इच्छा करने मात्र से जगत् की सृष्टि करता है।^३ जगत् आधार की दृष्टि से ब्रह्म से अभिन्न एव तदाश्रित है। उसकी भिन्नता भी स्वतः बोध्य है, क्योंकि उसमें ब्रह्म के सम्पूर्ण घम नहीं पाये जाते।

तीनों का परस्पर सम्बन्ध भेद और अभेद का है। यदि ब्रह्म, जीव एव जड़ इन तीनों को एक अथवा अभिन्न माना गया तो उपनिषद् के अनेक वाक्य निरर्थक हो जावेंगे। सवया भिन्न मानने पर उपनिषद् के अभेदपूरक वाक्यों का क्या मूल्य रहेगा? यदि पूणत अभिन्न माना गया तो जीव और जड़ की नियामकता एव व्याप्तता कैसे सिद्ध होगी? साथ ही ब्रह्म भी सीमित होने से जीव और जड़ के समान होगा। यदि भेद को उपाधिकृत मानें तो इसका अभिप्राय होगा कि ब्रह्म उपाधि के वशीभूत हो सकता है। तब उसे दुखी आदि मानना होगा।^४ अतः वस्तुतः ब्रह्म का जीव एव जड़ से द्वैतत्व भी है और अद्वैतत्व। यही सन्नेप में निम्बाक मत है।

शुद्धाद्वैत—अनुश्रुति के अनुसार विष्णुस्वामी इस मत के सस्थापक आचार्य हैं। बल्लभ ने इसे पुनः सुदृढ किया था। श्रीधर ने अपनी भागवत की टीका के प्रारम्भ में इसकी बन्दना की है। अतः अनुमानित रूप में इन्हें भागवत का टीकाकार मानना चाहिए, किन्तु उसकी कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है। किसी अज्ञात लेखक के 'मकलाचार्यमतसंग्रह' में विष्णुस्वामी के मत का उल्लेख हुआ है। उनका ग्रन्थ में उद्धृत-मत बल्लभ के विचारा का ही संक्षिप्त रूप है। किन्तु बल्लभ स्वयं विष्णु-

१ 'यथा च भूमेस्तथाभूतशक्तिमत्या औपधीना जन्ममात्रम् तथा सवकायौ लक्षणा-
चित्त्यान्तसवकायतेरक्षरपदार्थात् ब्रह्मणो विश्व सम्भवतीति यदा स्वभाविका
ल्पाधिकसातिशयशक्तिमदन्मो चेतनेभ्यस्ततच्छक्त्यनुसारेण स्वस्वकार्याभावा
पक्षावधि अग्रच्युतस्वरूपत्व प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धम् ब्रह्म चित्त्यविश्वाल्पकार्यौ
त्पादनाशक्तिमतो भगवत उक्तरीत्या जगद्भावापत्तावाप्य प्रच्युतस्वरूपत्व
विमासक्यमिति—शक्तिविशेषसहस्रणस्य परिणामाद्वाच्यत्वाभिप्रायेण
क्वचित्परिणामोक्तिः । स्वरूप-परिणामाभावाच्च पूर्वमेव निरूपितं, शक्ते
शक्तिमतो 'पृथक् सिद्धत्वात्' । श्रुत्यन्तमुद्भूतम्, पृष्ठ ७३ ७४

२ निम्बाक—दण्डलोकी ३

३ निम्बाक—वेदान्त-परिजातसौरभ १।१।१६

४ डा० ए० राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ६५३ ४

स्वामी के मत को उद्धृत करते हैं।^१ यह पृथक्ता श्रुति प्रतिपाद्य ब्रह्म के अद्वैत और द्वैतपरक स्वरूप की स्वीकृति पर आधारित है।^२ विष्णुस्वामी और रामानुज सत, रज तथा तम के आधार पर ब्रह्म में विशेषताओं को मानते हैं जबकि बल्लभ निगुणता के प्रतिपादक है।^३ जदुनाथजी महाराज के बल्लभदिग्विजय तथा नाभाजी की भक्तमाल में विष्णुस्वामी के अनुचर नामदेव ज्ञानदेव आदि के उल्लेख से^४ उसकी तिथि बारहवीं सदी ईस्वी मानी जा सकती है।

बल्लभ दक्षिण भारत के तेलुगु ब्राह्मण थे। उनके पिता लक्ष्मणभट्ट प्रपिता गणपति भट्ट तथा प्रपितामह गंगाधर भट्ट थे। यह सोमयागियों का प्रसिद्ध परिवार था। ग्लैसनप न एन० जी० घोष का अनुसरण करते हुए १४७९ ई० समय माना है, कि तु परम्परागत साक्ष्य के अनुसार १४८१ ई० के वैशाख माह में बनारस के पास जन्म हुआ।^५ मध्व सम्प्रदाय के तिरम्मलेया अध्वनारायणदीक्षित तथा भावयतींद्र नामक विद्वानों के द्वारा बल्लभ का शिक्षण हुआ। पिता की मृत्यु के उपरान्त भ्रमण करत हुए बल्लभ ने अपन अनक शिष्य बनाए। विजयनगर में द्वैत के सुप्रसिद्ध आचार्य व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में अद्वैत मत के विद्वान् को परास्त किया। वृन्दावन तथा मथुरा उनके आगामी जीवन के महत्वपूर्ण केन्द्र रहे। बनारस के देवण्यभट्ट की कन्या लक्ष्मी से विवाह किया। १५१८ ई० में विठ्ठलनाथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। बल्लभ की मृत्यु १५३३ ई० में हुई।

कहा जाता है कि बल्लभ ने चौरासी ग्रंथ लिखे हैं। उनमें से साठ के लगभग प्राप्य हैं।^६ इनमें से निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण हैं। भागवतपुराण पर सुबोधिनी टीका, ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य अपने ग्रंथ तत्त्वदीप पर प्रकाश, भागवत सूत्र टीका पूर्वमीमांसाभाष्यसिद्धांत मुक्तावली तथा अन्य लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थों की

१ बल्लभ भागवत पर सुबोधिनी टीका ३।३२।३७

२ निमयाराम—'तस्यापि दुर्बोधत्वेन व्याख्यानसापेक्षतया तस्य व्याख्यातारो विष्णुस्वामीमध्वप्रभृतयो ब्रह्माद्वैतवादस्य सव्यसेवकभावस्य च विरोधं मानाना अभेदबोधकश्रुतिषु लक्षणया भेदपरत्वं गुह्यं भेदमगीचरुः। अधिकरणसंग्रह पृ० १

३ तं च साम्प्रत विष्णुस्वाम्यनुसारिण तत्त्ववाग्निना रामानुजश्च तमोस्वरजसत्त्वभिन्ना अस्मत्प्रतिपादिताश्च न गुण्यवादस्य। वही पृ० १

४ नाभाजी—भक्तमाल, पृष्ठ २४१

५ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी

भाग ४ पृष्ठ ३७१

६ आक्रो नटस—केटेलोगस केटेलोगोरम

वेदान्त का उद्भव रचना की है। वेदात के आचार्यों की व्यक्तिगत रचनाओं की सख्या म बल्लभ सबसे आगे हैं।

बल्लभ के अणुभाष्य पर पुरपोत्तम की टीका भाष्य प्रकाश है। गिरधर की विवरण, श्रीधर की बालप्रबोधिनी, लल्लूभट्ट की अणुभाष्यनिगूढायदीपिका विट्ठल के शिष्य मुरलीधर की अणुभाष्यव्याख्या तथा किसी अनात लेखक की वेदातचन्द्रिका का प्रचार किया। इनमें विट्ठलनाथ का स्थान उल्लेखनीय है। इसका समय १५१८ ई० से १५८२ था। निम्नलिखित ग्रंथों का लेखक इसको माना गया है। अवतारतार तन्म्यस्तोत्र, आर्या कृष्णप्रेमामृत, गीतगोविन्द प्रथमाष्टपदी विवक्ति, गान्कुलाष्टक, जमा-ष्टमीनिर्णय, जलभेदटीका, ध्रुवापदटीका, भगवद्गीतातात्पर्य भागवततत्त्वदीपिका, विद्या मण्डन आदि। इसमें विद्यामण्डन बहुत महत्वपूर्ण है। इस पर पुरपोत्तम न टीका लिखी है। पीताम्बर न अवतारवादावली, भक्तिरसत्ववाद, द्रव्य शुद्धि तथा पुष्टिप्रवाह मर्यादा की टीका लिखी। पुरपोत्तम उक्त पीताम्बर का पुत्र था। वह १६७० ई० में पदा हुआ।^१ कहा जाता है कि उसने चौबीस ग्रंथ लिखे किन्तु केवल सत्रह ही अभी तक प्राप्त हो सके हैं। विट्ठल के शिष्य मुरलीधर की भी रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। गोपेश, गोपेश्वर जी महाराज, द्वारकेश, जयगोपालभट्ट, बल्लभ, यजराज, इन्दिवग, श्रीधर-स्वामी गिरधर, योगीगोपेश्वर, गोकुलोत्सव, हरिदास तथा निभयराम आदि अनेक प्रसिद्ध लेखक हैं, जिनकी रचनाओं में बल्लभ मत की श्रीवर्द्धि हुई।^२

बल्लभ का मत शुद्धाद्वैत के नाम से वेदान्त परम्परा में विख्यात है। शंकर के विपरीत बल्लभ ब्रह्म को माया के सम्बन्ध से पृथक् मानते हुए उसे ही कारण एवं काय रूप में मानते हैं। मायाराहित्य ही ब्रह्म की शुद्धता है। अतः अपने मत का नाम-

करण, इस शुद्ध रूप अद्वैत के आधार पर, किया।^३

बल्लभ ने व्याख्यान करने के पहले उसकी उपादेयता की ओर संकेत करना आवश्यक समझा है। वैसे तो प्रायः सभी आचार्य श्रुतियों की व्याख्या को महत्त्व देते हैं क्योंकि ये सभी आस्तिक मत श्रुति पर ही आधारित हैं किन्तु सन्दिग्ध, अथ से मुक्त होने के कारण सामान्य-जन कभी-कभी भ्रान्त अर्थ को प्राप्त कर लेते हैं। इसी-

१ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी भाग ४, पृ० ३७६

२ यही भाग ४, पृष्ठ ३८

३ मायामन्त्र-रहित शुद्धमित्युच्यते सुप ।
कायकारणरूप हि गड ब्रह्म न माप्यन्तम् ॥२८॥ शुद्धाद्वैतमातण्ड ।

लिए बल्लभ ने दार्शनिक व्याख्यान प्रस्तुत किया ।^१

ब्रह्म—बल्लभ का ब्रह्म सम्बन्धी विवचन अथ आचार्यों से सवया पृथक् है । ब्रह्म के स्वरूप बोध की दृष्टि से विचार करने पर उसे जड जगत् का कारण माना गया है । कारण के भेद प्रायः सभी मत ने, निमित्त और समवायि माने हैं । ब्रह्म की निमित्त कारणता के प्रति किसी का विरोध नहीं है । किन्तु उपादान कारण एक समवायि कारण मानने वाले वम म स्वरूपगत व्याख्यान की दृष्टि से, पर्याप्त मतभेद है । वेदान्त म उपादान को समवायि के रूप में ही माना गया है ।^२ किन्तु ब्रह्म को यदि समवायि कारण मान लिया गया तो उसका विकार भी अवश्य स्वीकार करना होगा ।^३ विकार युक्त परिणाम बल्लभ को अभीष्ट नहीं है । कारण की दृष्टि से बल्लभ यद्यपि ब्रह्म को समवायि कारण मानते हैं किन्तु उनकी समवायि की परिभाषा 'याय की मान्यता'^४ से भिन्न है । तादात्म्य समवायि के मूल म है ।^५ ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान म सत्, चित् तथा ज्ञानन्द के आधार पर सव-यापक ब्रह्म नाम, रूप तथा क्रियायुक्त प्रपञ्चीकृत जगत् का मूल कारण है । उसकी सवव्यापकता ही कारणता का आधार है ।^६ ब्रह्म ही प्रकृति एव जाव का मूल कारण है । शक्त् तथा उनके अनुयायी स्वतन्त्र रूप से अथवा जीवायित माया (भामती प्रस्थान) को जगत् का उपादान कारण मानते हैं । बल्लभ को उक्त धारणा रुचिकर नहीं है । उनके अनुसार यदि माया को मध्यस्थ बना

१ बल्लभ—“सदेहाथ गास्त्र बुद्धिदोपात्तदुदभव ।

विरुद्धसास्त्रसम्भेदागश्चागवयनिश्चय ॥

तन्मात्सूत्रानुसारेण कतय सवनिणय । ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य, पृष्ठ २०

२ तत्तु समवायात् । ब्रह्मसूत्र १।१।३

३ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ४

पृष्ठ ३२२

४ केशव मिश्र—‘ताववायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातार्थो मयोद्धयो ।

एकमवित्तव्यदपराश्रितावेवातिष्ठन्तौ ॥’ तत्तभाषा, पृष्ठ ३५

५ पुशपोत्तम—ननु दृषिते समवाये अयुतद्वियो क सम्बन्धाज्जीकियत इति चेत् तादात्म्यमेव इति ब्रूम । कथ इति चेत् इत्य प्रत्यक्षाद् यद्द्रव्यसमवेत तद् तदात्मकमिति व्याप्ते कारणकायतादात्म्य द्वयार्थिविवादम् । ब्र० सू०

अणुभाष्य टीका, पृष्ठ ६२७

६ बल्लभ का अणुभाष्य पृष्ठ ८५

पुरपात्तम की टीका पृष्ठ ८२

वेदान्त का उद्भव

लिया, तो ब्रह्म प्रत्यक्ष कारण न होकर अप्रत्यक्ष कारण होगा। अन यही स्वीकार करना उचित होगा कि ब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्द के आविर्भाव एव तिरोभाव को आधार बनाकर जगत् को उत्पन्न करते हैं।^१ किन्तु स्मरणीय तथ्य यही है, कि उपादान अथवा समवायि दोना में जो विकार की प्रतीति होनी है वह बल्लभ को किसी भी रूप में अभीष्ट नहीं है।^२ अतः बिना किसी बाह्य घम के आगमन अथवा आरोप के अनुवर्ति का होना समवाय है।^३ 'माया ब्रह्म की शक्ति है वह बल्लभ को किसी भी रूप में अभीष्ट नहीं है।^४ 'ब्रह्म का परिणाम, बिना अपने मौलिक रूप में परिवर्तित हुए, जगत् एव जीव है। सत्, चित् तथा आनन्द में किसी अथ को बिना किसी अय उपकरण की सहायता के आविर्भूत तथा तिरोभूत कर सकता है। इस मत ने श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना है। आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा क्षर य तीन प्रकार के ब्रह्म माने हैं। क्षर ब्रह्म प्रकृति है। अक्षर ब्रह्म में आनन्दात्मक अक्षर अपक्षाहत कम मात्रा में है, तथा परब्रह्म सम्पूर्णत आनन्दरूप है, अतः अक्षर की तुलना में वह श्रेष्ठ है। पान के द्वारा अक्षर ही ज्ञेय है। परब्रह्म की प्राप्ति भक्ति के अतिरिक्त अय किसी माध्यम से नहीं हो सकती। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अपन किसी विशिष्ट अंग का आविर्भाव जगत् रूप में करता है। अतः अक्षर की अंगी की अभिनता के कारण जगत् तथा ब्रह्म अभिन्न है। ब्रह्म में सभी प्रकार के विरोधी घम सम्भव हैं। वह अनवगाह्य है। जीव काल, प्रकृति सभी सत्तावान् हैं, किन्तु ब्रह्म से अपृथक् हैं। वह कर्ता और भोक्ता दोनों ही हैं।^५ तिरोभाव और आविर्भाव सभी उसकी इच्छानुसार ही होता है। शरीर धारण की आवश्यकता न होने पर भी भक्तों की प्रसन्नता के लिए विविध रूपा में दृष्टिगोचर होता है। अपने मौलिक रूप में ब्रह्म दृश्य नहीं है। वह दृष्टिगोचर तभी होता है, जब जगत् रूप में रहता है। बल्लभ के अनुसार जो श्रुतियाँ ब्रह्म का निगुणत्व प्रतिपादित करती हैं

१ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ ३३०

२ पुरुषोत्तम—'नन्वश्रोपादानपद परित्यज्य समवायिपदेयान कुतो व्यवहार इति चेत् उच्यते-लाके उपादानपदेन कृत्त्रिमया ध्यातस्य परिच्छिन्नस्यवाभिधानदशनात् प्रकृतिह यतोपादानमिति।' ब्रह्मसूत्र अणुमाप्य टीका, पृष्ठ ११८

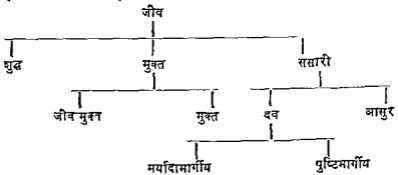
३ पुरुषोत्तम—'अतारोपितानां गुकरूपेणानुवर्तिरेव समवाय इति इदमेव च तादात्म्यम्।' ब्रह्मसूत्र अणुमाप्य टीका, पृष्ठ ६०

४ पुरुषोत्तम—प्रस्थान रत्नाकर' पृष्ठ १५६

५ बल्लभ—ब्रह्मसूत्र अणुमाप्य १।१।१

उनका अभिप्राय गुणाभाव अथवा निर्विकल्प रूप इंगित करना नहीं है, अपितु वे केवल यही सूचित करती हैं कि ब्रह्म में सामान्य गुण नहीं है। ब्रह्म ही शुद्ध रूप में अद्वय है। अन्य तत्वों की सत्ता होने पर भी, ब्रह्म के अस्त होने के नाते, उनमें परस्पर अभेद है।

जीव—ब्रह्म जीव रूप का आविर्भाव अपनी इच्छा से करते हैं। सत् तथा चित् अश के प्राकट्य तथा आनन्देश के तिरोभाव से पशु और जीव-समूह सम्पृक्त है। माया जीव की निर्मिति में किसी भी प्रकार कारण नहीं है। जीव-ब्रह्म का उसी प्रकार का परस्पर सम्बन्ध है जो अग्नि एवं स्फुलिंग में होता है। यह जीव का आविर्भाव ठीक वैसे ही है जैसे कि लपेटे हुए कपड़े को फैला देने पर उसमें विस्तार का आविर्भाव हो जाता है। विस्तार वस्त्र से भिन्न नहीं है। केवल एक विनिष्ट अश की अभिव्यक्ति मात्र है। जीव में आविर्भाव के मूल में ब्रह्म का चिदश है।^१ देहादि के घम जीव से पृथक् ठीक उसी प्रकार से उस पर आरोपित नहीं किए जा सकते जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में जल के कम्पादि घम आरोपित नहीं किए जा सकते।^२ जीव असह्य हैं। उसमें अत्यामी की स्थिति है। प्रत्येक जीव के लिए अत्यामी की स्थिति पृथक् पृथक् है।^३ वह कारण है। इसीलिए ब्रह्म को भी अत्यामी कहा गया है। क्यों कि वह भी सभी का कारण है। बल्लभ सम्मत जीवों का वर्गीकरण निम्न प्रकारसे है।



१ प्रमेयरत्नागव पृष्ठ ७ ६

२ बल्लभ—यथा जले च द्रमस प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुण कम्पादिघम आत्मनो विद्यमानो मिथैव दृश्यत न वस्तुतश्च द्रस्य एव अनात्मनो देहादिघमों जन्मवधदुःखदिरूपा दृष्टु आत्मनो जीवस्य न तु ईश्वरस्य। सुबोधिनी टीका, ३।७।११

३ बल्लभ—अत्यामीणा स्वरूपभूतत्वेऽपि जीवेन सह कार्ये प्रवेगात् तदभेदानामान त्वेऽपि कारणीभूतवधयमाणतत्त्वात्परीरे प्रविश्य तत्सहायकरणात्कारणकोट्यव निवेशो न स्वरूपकोटौ। ब्रह्मसूत्रभाष्य पृष्ठ १६५

वेदान्त वा उद्भव

जीव के स्वरूप ग्रह में अविद्या का मुख्य स्थान है। यह अविद्या पाच पर्वों से युक्त मानी गई है।

- (१) स्वरूपानान—जीव को अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्म से अभिन्नता प्राप्त नहीं रहती।
- (२) वेदाध्यास—स्वरूप सम्बन्धी विवेचन के न होने से वह देह को ही आत्मा मान लेता है।
- (३) इन्द्रियाध्यास—आत्मा के विषय में इन्द्रिय को ही आत्मा मानना इन्द्रियाध्यास है।
- (४) प्राणाध्यास—प्राणादि वायुआ को ही आत्मा मानना।
- (५) अन्न करणाध्यास—अन्न करण को आत्मा के रूप में अयासित करना।

अविद्या के ज्वन सभी परिणाम जीव को अपने स्वप्नप्रयोग स पृथक् रखते हैं। गुरुजीव में ऐश्वर्य अन्न को निरोहित करती है। अविद्या के सम्बन्ध में आने के पूर्व जीव शुद्ध माना जाता है। मुक्त जीव अविद्या से, विद्या के कारण मुक्त हो जाता है। जन्म मृत्यु का भोग करने वाला अविद्या का आवद्ध जीव मसारी है। ससारी दशा में जीव पुष्टिमार्गीय भक्ति का अनुसरण करके अपने में तिरोहित आनन्द का प्राप्त करता है। वह अणु परिमानी है।^१ ब्रह्म का अक्षर है।^२ जीवन की मुक्ति उसके तिरोभूत अक्षर की प्राप्ति है, ब्रह्म से एकरूपता नहीं। ब्रह्म से अभिन्नता तो उसकी पहले से ही है। ब्रह्म को पूण तथा जीव को अक्षर मानत हुए भी बल्लभ ने दोनों को अपृथक् माना है। अक्षर और अक्षरी के परस्पर सम्बन्ध के मूल में 'याय की समवायि की मान्यता है किन्तु बल्लभ ने उसे 'तादात्म्य' कहकर व्याख्यात किया। और इस व्याख्यान के आधार पर, ब्रह्म तथा जीव की अभिन्नता को स्वतः सिद्ध माना गया। रामानुज न जीव तथा ब्रह्म पर विचार करते हुए दोनों का परस्पर सम्बन्ध समानाधिकरण माना है जबकि बल्लभ में दोनों एक ही हैं, अतः इस प्रकार के किसी सम्बन्ध को मानने की आवश्यकता उनको नहीं है। पञ्च-पर्वविद्या से आवद्ध जीव बिना ब्रह्म की कृपा के मुक्ति नहीं पा सकता। साधन की दृष्टि से ज्ञान भी लाभप्रद है, किन्तु

✓ भक्ति उसका मुख्य आधार है।

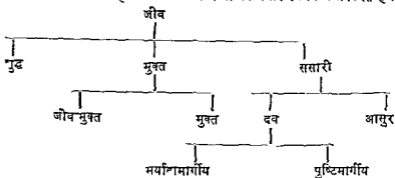
जगत्—जिस प्रकार से जीव, ब्रह्म के आनन्द का तिरोहित हो जाने से, स्थिति प्राप्त करता है, वैसे ही जड़ जगत् भी ब्रह्म के आनन्द एवं चित् अक्षर का तिरोभाव है। अतः जड़ जगत् भी ब्रह्म का अक्षर है। अतएव जगत् ब्रह्म ही है। वेदान्त के अनुयायियों की पूरी परम्परा में यही एक ऐसा दशान है, जो जड़ जगत् को इतना महत्त्व

१ बल्लभ—अणुमाप्य २।३।१६

२ वही, २।३।४३

उनका अभिप्राय गुणाभाव अथवा निर्विकल्प रूप इमित करना नहीं है अपितु वे केवल यही सूचित करती हैं कि ब्रह्म म सामान्य गुण नहीं है । ब्रह्म ही शुद्ध रूप में अद्वय है । अय तत्त्वों की सत्ता होने पर भी ब्रह्म के अश होने के नाते, उनमें परस्पर अभेद है ।

जीव—ब्रह्म जीव रूप का आविर्भाव अपनी इच्छा से करते हैं । सत् तथा चित् अश के प्राकट्य तथा आनंदाश के तिरोभाव से पशु और जीव-समूह सम्पृक्त है । माया जीव की निर्मिति म किसी भी प्रकार कारण नहीं है । जीव-ब्रह्म का उसी प्रकार का परस्पर सम्बन्ध है जो अग्नि एव स्फुलिंग में होता है । यह जीव का आविर्भाव ठीक वैसे ही है, जैसे कि लपेटे हुए कपड़े को फैला देने पर उसमें विस्तार का आविर्भाव हो जाता है । विस्तार वस्त्र स भिन्न नहीं है । केवल एक विशिष्ट अश की अभिव्यक्ति मान है । जीव म आविर्भाव के मूल में ब्रह्म का चिदश है ।^१ देहादि के घम जीव से पृथक् ठीक उसी प्रकार से उस पर आरोपित नहीं किए जा सकते जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा में जल के कम्पादि घम आरोपित नहीं किए जा सकते ।^२ जीव असंख्य हैं । उसमें अतर्क्यमी की स्थिति है । प्रत्येक जीव के लिए अतर्क्यमी की स्थिति पृथक् पृथक् है ।^३ वह कारण है । इसीलिए ब्रह्म को भी अतर्क्यमी कहा गया है । क्या कि वह भी सभी का कारण है । बल्लभ सम्मत जीवा का वर्गीकरण निम्न प्रकारसे है ।



१ प्रमेयरत्नाणव पृष्ठ ७ ६

२ बल्लभ—यथा जने चन्द्रमस प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन श्रुतो गुण कम्पादिघम आसन्नो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुतश्चन्द्रस्य एव आत्मनो देहादिघमो जम्बक्यदुत्कारिरूपा दृष्टु आत्मनो जीवस्य न तु ईश्वरस्य । सुबोधिनी टीका, ३।७।११

३ बल्लभ—'अतर्क्यमीणां स्वरूपभूतस्वेऽपि जीवेन सह कार्ये प्रवेणात् तदभेदानामानन्त्यपि कारणीभूतवक्ष्यमाणतत्त्वगरीरे प्रविश्य तत्सहायकरणात्कारणकोटावव निवेगो न स्वरूपनोटो । ब्रह्मसूत्रभाष्य पृष्ठ १६५

जीव के स्वरूप-ग्रह में अविद्या का मुख्य स्थान है। यह अविद्या पाच पर्वों से युक्त मानी गई है।

- (१) स्वरूपानान—जीव को अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्म से अभिन्नता प्राप्त नहीं रहती।
- (२) दहाध्यास—स्वरूप सम्बन्धी विवेचन के न हान से यह देह को ही आत्मा मान लेता है।
- (३) इन्द्रियाध्यास—आत्मा के विषय में इन्द्रिय को ही आत्मा मानना इन्द्रियाध्यास है।
- (४) प्राणाध्यास—प्राणादि वायुजा को ही आत्मा मानना।
- (५) अन्न करणाध्यास—अन्न करण को आत्मा के रूप में अध्यामित करना।

अविद्या के उक्त सभी परिणाम जीव को अपने स्वरूपबोध से वृथ्वा रखते हैं। शुद्धजीव में ऐश्वर्य का निरोहित करती है। अविद्या के सम्पर्क में जाने के पूर्व जीव शुद्ध माना जाता है। मुक्त जीव अविद्या से, विद्या के कारण मुक्त हो जाता है। जन्म मृत्यु का भोग करने वाला अविद्या का आवद्ध जीव ससारी है। ससारी दशा में जीव पुष्टिमार्गीय भक्ति का अनुसरण करके अपने में निरोहित आनन्द का प्राप्त करता है। वह अणु परिमाणो है।^१ ब्रह्म का अणु है।^२ जीवन की मुक्ति उक्त निरोधित अन्न की प्राप्ति है ब्रह्म से एकत्वता नहीं। ब्रह्म से अभिन्नता तो उसको पहले से ही है। ब्रह्म को पूर्ण तथा जीव को अन्न मानते हुए भी बल्लभ ने दोनों को अपृथक् माना है। अणु और अणु के परस्पर सम्बन्ध के मूल में ध्याय की समवाधि की मायता है, किन्तु बल्लभ ने उस तादात्म्य कहकर ध्यायगत किया। और इस ध्यायगत के आधार पर, ब्रह्म तथा जीव की अभिन्नता, को स्वतः सिद्ध माना गया। रामानुज ने जीव तथा ब्रह्म पर विचार करते हुए दोनों का परस्पर सम्बन्ध समानाधिकरण माना है, जबकि बल्लभ ने दोनों एक ही हैं अतः इस प्रकार के किसी सम्बन्ध को मानने की आवश्यकता उनको नहीं है। पञ्च-पर्वविद्या में आवद्ध जीव बिना ब्रह्म की कृपा के मुक्ति नहीं पा सकता। साधन की दृष्टि से ज्ञान भी लाभप्रद है, किन्तु [✓]भक्ति उसका मुख्य आधार है।

जगत्—जिम प्रकार में जीव, ब्रह्म के आनन्द का निरोहित हो जाने में, स्थिति प्राप्त करता है, वैसे ही जड जगत् भी ब्रह्म के आनन्द एवं चित्त अन्न का निरोधक है। अतः जड जगत् भी ब्रह्म का अन्न है। अतएव जगत् ब्रह्म ही है। वेदान्त के अनुयायियों की पूरी परम्परा में यही एक ऐसा दशन है, जो जड जगत् को इतना महत्व

१ बल्लभ—अणुभाष्य २।३।१६

२ वही, २।३।४३

वेता है कि उसे वह सजानावस्था में भी ब्रह्म ही माने। जगत् की उत्पत्ति और विनाश ब्रह्म के इस स्वरूप का आविर्भाव तथा तिरोभाव ही है। आविर्भूत अवस्था में वह अनुभवगम्य अथवा दृश्य होता है। वस्तुतः उसमें विषयत्व की योग्यता का आना ही आविर्भाव है तथा उसका अभाव ही तिरोभाव है।^१ अविद्या के कारण जीव के द्वारा कल्पित पदार्थ का नाम ससार है। ब्रह्म जब जगत् के आविर्भूत रूप में ही प्रत्यक्ष है। जगत् गजर के समान न तो भ्रमात्मक है और न मध्व के समान ब्रह्म से प्रत्यक्ष दृष्टि में भिन्न। बल्लभ ने भी माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु माया के द्वारा अविद्युत रूप में परिणमित जगत अतात्त्विक नहीं है।^२ माया ईश्वर की इच्छा मात्र है।^३ ब्रह्म एक आर जहां जगत् का कारण है वहां दूसरी आर वह जगत ही है। वहदारण्यक की एकोऽह बहुस्याम की धारणा बल्लभ के अनुसार, ब्रह्म ही स्वच्छा से ब्रह्म की नानात्मकता का बोध कराती है। इस मत में माया तथा अविद्या भिन्न है।^४ यही एकात्मकता की प्रतीति में धावक बनकर, नानात्मकता का बोध कराती है। जगत् सत् है किन्तु ब्रह्म के अणु रूप में ही है। उसकी सत्ता का बोध ही हमको भ्रम में डाल देता है।^५ हम उसके सत्तात्मक अंश को तो दपते हैं किन्तु ब्रह्मात्मकता को दृष्टिगोचर नहीं कर पाते। यही जिविद्यामोहित जीव की मन स्थिति है।

✓ जगत् को किसी भी प्रकार अतात्त्विक मानना उचित नहीं। यदि उसे अतात्त्विक मान लिया गया, तो फिर ब्रह्म से उसकी एकात्मकता प्रमाणित नहीं की जा सकेगी। तत्त्व और अतत्त्व वही परस्पर अभिन्न नहीं हो सकते। अतः बल्लभ के मत में जगत् यद्यपि ब्रह्म का परिणाम है किन्तु इस परिणाम में किसी प्रकार का विकार नहीं है। उसका यह अविकार सुवर्ण निर्मित आभूषण में सुवर्ण के अविकार के समान है। इसीलिए जगत का भी विनाश सम्भव नहीं है। तिरोभाव विनाश न होकर केवल अप्रत्यक्षता है। इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि जगत की सत्ता है।

गजर के उपरान्त प्रचलित होने वाले इन वदन्त सम्प्रदायों में भक्ति का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है। बल्लभ ने भक्ति के अन्वय साधन के रूप में भक्ति को माना है। गीता में प्रतिपादित क्रम, ज्ञान एवं भक्ति मार्ग में से बल्लभ ने अन्तिम रूप में भक्ति को ही स्वीकारा। पान के बल पर केवल अद्वैत ब्रह्म को पाया जा सकता है, किन्तु उससे भी श्रेष्ठ परब्रह्म पुरुषोत्तम से अभेदबोध के लिए भक्ति नितांत आवश्यक

१ 'अनुभवविषययोग्यता आविर्भाव। तदविषयत्वयोग्यता तिरोभाव।' विद्वानमडन, पृष्ठ ७

२ बल्लभ—ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य १।१।४

३ यही १।१।४

४ डा० एस० राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ७५६

है। आचार्य न इस माग को पुष्टिमाग कहा है और इसीलिए बल्लभ मन पुष्टिमागोंय भी कहा जाता है। पुष्टि का अर्थ है भगवदनुग्रह।^१ महत्ता के ज्ञान के साथ सुदृढ स्नेहात्मिका अनुभूति ही भक्ति है। तथा वही एवमेव साधन है।^२ भक्ति के माध्यम से ब्रह्म की अभिन्नता के बोध के लिए पुष्टिमाग के साथ मर्यादाभाग की भी मायता प्रस्तुत की है। पुष्टिमाग बिना किसी अन्य की सहायता के लक्ष्य प्राप्त कराता है, जबकि मर्यादाभाग में ज्ञान की भी आकांक्षा रहती है।^३ प्रभु का अनुग्रह पुष्टिमाग की सवाधिक विशेषता है।^४ वही उसके अभेद का सायक है, ब्रह्मिक लौकिक उपाय नहीं।^५ इन्हीं दो भागों के आधार पर मर्यादा तथा पुष्टि नामक दो भक्तिर्या स्वीकारी गई हैं। मर्यादा भक्ति का फल सामीप्य मात्र प्राप्त करा दना है जबकि पुष्टि भक्ति के द्वारा अभेदप्रतीति होती है।

अचित्त्यभेदाभेद—भक्ति का आधार बनाकर अपनी स्थिति निर्मित करने वाली परम्पराओं में चैतन्य अत्यधिक भावविह्वल भक्त के रूप में विख्यात हैं। चैतन्य न यद्यपि निर्भी भी प्रय की रचना रहा की, किंतु उनको उक्त मत का प्रवक्तक माना गया है। इसी परम्परा के अन्य परवर्ती विचारक स्वयं को मध्व से सम्बद्ध स्वीकार करते हैं। दक्षिण भारत के लेखक एवं विचारकों ने भक्ति को कभी इतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि चैतन्य ने।^६ निम्बार्क के उपरान्त चैतन्य ने भी कृष्ण, कृदावन तथा राधा आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। चैतन्य बल्लभ के समकालीन होते हुए भी, उनका समान धर्म के विधानात्मक पक्ष को महत्त्व न दे सके, अपितु चैतन्य को धर्म का भावात्मक पक्ष ही अधिक ग्राह्य रहा।^७

अचित्त्यभेदाभेद मत गल्पप्रमाण की दृष्टि से मध्व के समान अत्यन्त व्यापक क्षेत्र स्वीकार किए हुए हैं। पाचरत्न साहित्य तथा भागवत पुराण को भी आधार

१ 'वोपण तनुग्रह ।' श्रीमद्भागवत २।१०

२ 'माहात्म्यज्ञानपूर्वार्तु शुद्ध सपतोर्षिक ।

स्नेहो भक्तिरिति श्लोकस्तथा मुक्तिरुच्चार्यथा ॥' तत्त्वार्थदीप, पृष्ठ ६५

३ 'बल्लभ—'पुष्टिमागोऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनश्येय मर्यादाभगीकृतस्य तु

तदनेमितरुक् मुक्तमेव । ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य ३।३।२६

४ पुष्टिमागोऽनुग्रहैकसाध्य प्रमाणमार्गाद् विवक्ष्यते ।' वही ४।६।६

५ 'अनुग्रहेणैवसिद्धिलौकिकी मय ब्रह्मिकी ।

न यत्नादयथा विघ्न पुष्टिमाग म कथ्यते ॥ प्रमेयरत्नाणव पृ० १२

६ डॉ० एस० राजाकृष्णन्—'चित्त्यन चित्त्यनकी भाग २ पृष्ठ ७६०,

७ भगवत्पुस्तक—'वैष्णवविमल विमल एण्ड अन्तर मादन्तर रिलीजस मिस्ट्रस,

पृष्ठ ११३

माना गया है। गीतगोविन्द जैसे ग्रन्थों ने चतुर्थ के मन प्राण को पूरे रूप में आप्लावित कर दिया था। परिणामतः भिन्न भिन्न स्थानों पर लिखित ब्रह्म कृष्ण कथा ने उनके व्यक्तित्व को बहुत भीतरी भाग तक प्रभावित किया। अतः मता के मस्थापना में चतुर्थ अपेक्षाकृत अधिक साहसी सुधारक हैं। मुसलमानों को भी अपने मत में परिवर्तित करके उन्होंने अपनी उक्त प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

✓ चतुर्थ के मत में भेद और अभेद होत हुए भी वह अचिन्त्य है। अचिन्त्य से अभिप्राय परमत्त्व की शक्ति की अकल्पनीयता है। जागृति प्रतीति में भी चिन्त्य की वस्तुओं में व्याप्त अनेक गतिविधियों में सभा शक्तियों में नहीं होता। अचल पतिपय शक्तियों ही जानी जा सकती हैं। अतः विश्व का स्वरूप भी जब अनेक अचिन्तनीय अथवा अकल्पनीय है, तब उस परमत्त्व के स्वरूप का अचिन्त्य होना अस्वाभाविक नहीं है।^१ अचिन्त्य पद का व्याख्यान भिन्न प्रकार से भी हो सकता है। वस्तु और उसकी शक्ति के परस्पर सम्बन्ध के ज्ञान में यह कहना सम्भव नहीं कि उस तत्त्व की शक्ति उससे अपृथक् है अथवा पृथक्। यदि पूणतः वह शक्ति अभिन्न हो तो फिर उसमें किसी भी प्रकार की गतिमत्ता सम्भव नहीं होगी किन्तु वस्तुओं के परिवर्तित स्वरूप को देखकर प्रत्यक्ष अज्ञान होने पर भी तब के द्वारा वस्तु में शक्ति का होना ग्राह्य हो पाता है।^२ जैसे सूर्य की किरणों की पारम्परिक संज्ञित से अनेक प्रकार के वर्णों की सृष्टि होती है। इस वण-सृष्टि की शक्ति किरणों में है। उस शक्ति का प्रत्यक्ष देखना सम्भव नहीं। वण क्रम का देखना के उपरांत ही अनुमिति के रूप में शक्ति की स्थिति स्वीकार करनी होती है। इसी प्रकार ईश्वर और उसकी शक्ति की भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों को साक्षात् नहीं जा सकता इसीलिए इस मत में अचिन्त्य भेदाभेद अभिधान स्वीकार किया।

चतुर्थ, बृहस्पति गौराग का मूल नाम विश्वम्भर मिश्र था। बलभ के समसामयिक इस आचार्य का समय १४८५ से १५३३ ई० है।^३ इनका जन्म नवद्वीप में हुआ था। पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र तथा माता का शची था। उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीदेवी था। बृहदावन कुमारस्थान, पुरी श्रीराम आदि स्थानों पर इन्होंने

१ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन सिनासकी, भाग ४
पृष्ठ ३६८।

२ लोके हि सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयः अचिन्त्यानां गोचरा अचिन्त्यं तर्कासह यज्ञानं कार्यान्वयानुपपत्तिप्रमाणं तस्य गोचरा सन्ति। पटसूक्तम्
पृष्ठ ६३-६४

३ डा० आर० जी० भण्डारकर—बृहस्पतिवचनशिवम् एण्ड जदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स पृष्ठ ११८

भ्रमण किया।

चैतन्य के पहले अद्वैताचार्य नामक व्यक्ति के द्वारा थड्डा और स्नेह के सिद्धान्त का प्रसार किया गया था। यह भी कहा जाता है कि वही चैतन्य का दार्शनिक गुण था।^१ माध्य मत्तानुयायी विद्वान् चैतन्य को अपनी विचार-सरणि का अनुयायी मानते हैं।^२ किंतु इस मत का भावपूर्ण-संस्थापन चतन्य के द्वारा ही किया गया।

इस मत में चैतन्य नित्यानन्द तथा अद्वैतानन्द तीन प्रभु मान गए हैं।^३ रूपगोस्वामी चैतन्य के साक्षात् गिष्य थे, तथा इन्होंने दानक-नाकेलिनोद्री, ललित-माधव, विदग्धमाधव, आदिम्पक उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतिसिन्धु-साहित्य-शास्त्रीय प्रथ, लघुभागवतामृत हंसदूत, पद्यावली एवं उद्भव सन्देह आदि ग्रंथों की रचना की। रूपगोस्वामी के अग्रज सनातन गोस्वामी द्वारा भागवत के दशमस्कन्ध की वैष्णवतपिणी नामक टीका, बृहद्भागवतामृत तथा हरिमन्दिनविलास की रचना की गई। चतन्य मन की शास्त्रीय स्थापना में जीव गोस्वामी का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। शास्त्र की प्रौढ गम्भीरता एवं परमत-व्यण्डन की प्रबलता जीव गोस्वामी के प्रथम प्राप्य है। भक्तिरसामृतिसिन्धु पर दुर्गमसगिनीटीका, भागवत पर क्रम सन्दर्भ तथा भागवत सन्दर्भ एवं सबसवादिनी आदि जीव गोस्वामी की प्रमुख रचनाएँ हैं। सत्रहवीं सदी के विरदनाथ चक्रवर्ती ने भागवत पर साराधर्गिनी, उज्ज्वलनीलमणि पर आनन्दचन्द्रिका, कविकण्ठपुर के अलकार-कोस्तुम पर प्रभाटीका लिखी है। वेदान्त-सम्प्रदाय में उपमत के रूप में मामता स्वीकृत करान के लिए प्रस्थानत्रयी का आश्रय नितान्त आवश्यक है। चतन्य-परम्परा के साहित्य में इस विकास-क्रम तक प्रस्थानत्रयी का आधारगत उपयोग नहीं किया गया। अठारहवीं सदी के बल्देवत्रिषामुषण ने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्द-नामक भाष्य लिखकर इसे उचित आधार पर स्थित किया। गोविन्द-भाष्य के अतिरिक्त सिद्धांतरत्न, प्रमेयरत्नावली, गीताभूषण, स्तवमाला तथा लघु भागवतामृत की टीका की सृष्टि की। यद्यपि नित्यानन्द एवं अद्वैतानन्द को चतन्य की परम्परा ने महत्त्व दिया है, ता भी दार्शनिक प्रतिपादन की दृष्टि से जीव गोस्वामी एवं बल्देव विद्याभूषण का योगदान स्तुत्य है।^४

ब्रह्म—चैतन्य के मत में विमुक्त आनन्दरमक स्वरूप ब्रह्म का है। वही विशेष्य

- १ डा० आर० जी० मण्डारकर, बन्धुविजय शैविज्य एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स पृष्ठ ११८
- २ डा० बी० एन० के० गर्मा—ए हिस्ट्री ऑफ़ इटैल स्कुल ऑफ़ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ३७६
- ३ डा० आर० जी० मण्डारकर—बन्धुविजय शैविज्य एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ १२२
- ४ 'वेदविज्ञान' शैविज्य एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स. पृ० १२३

है अन्य सभी शक्तियां विशेषण हैं। इन शक्तियों से युक्त तत्त्व को भगवान् कहा गया है।^१ वही अन्तिम सत्ता है। ब्रह्म, भगवान् तथा परमात्मन् ये तीनों नाम एक ही तत्त्व की भिन्न विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हैं। वह निगुण है। उसकी निगुणता, प्रकृति एवं सगुण के स्वरूपतः उसमें न होने से सिद्ध है।^२ उसमें अनन्त गुण हैं। गुण और गुणी का परस्पर अभेद होता है इसीलिये शास्त्रों में उसे गुणात्मा कहा गया है।^३ वस्तुतः वह नित्य एवं अप्राकृत है। भेद जल और उसकी तरंगों की परस्पर भिन्नाभिन्नता के समान है। वैकुण्ठ उसका लोक है।^४ उसके विषय में प्राप्त एकात्मिका और नानात्मिका प्रतीति के मूल में उसकी अपरिचीम शक्तियां हैं। मध्व ने इन्हीं शक्तियों को विशेष कहा है। चतुर्थ मत में उसे ग्रहण कर लिया गया।^५ यह विशेष भेद का निर्वाहिक मात्र है। भेद की वस्तुतः स्थिति है। अपनी अपरिचीम शक्ति के कारण ही वह स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेदों से रहित है। जगत के उद्भव स्थिति एवं सत्य का आधार वही है। जगत की निर्मिति में वही उपादान एवं निमित्त कारण है।^६ उसकी तीन शक्तियां मानी गई हैं।^७ परा अपरा एवं अविद्या। इसी को क्रमशः विष्णु, जीव तथा माया भी कहा जा सकता है। अपनी पराशक्ति के कारण जड़ जगत का वह निमित्त कारण है।^८ अपरा तथा माया शक्ति उपादान कारण हैं। इन तीनों शक्तियों में प्राथमिक शक्ति अपरिवर्तनशील है। इसी को स्वरूप तटस्थ और माया शक्ति भी कहा गया है। स्वरूपाशक्ति भी सचिनी शक्ति और ज्ञानिनी भी है। चित की अन्तिम एवं श्रेष्ठ स्थिति बाद की है, इसीलिए उसे आनन्दात्मक कहा गया है।^९ स्वरूप शक्ति और मायाशक्ति यद्यपि परस्पर विरोधी

१ 'आनन्दमात्र विशेष्य समस्ता शक्तय विशेषणानि विशिष्टो भगवान्।

षट्सदम, पृष्ठ ५०

२ डा० राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी भाग २ पृ० ७६१

३ गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्।" भागवत १०।१।४।७

४ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी भाग ४, पृ० ४६६

५ 'यत्र भेदभावो भेदकामञ्च प्रमिते तत्रैव भेदप्रतिनिविद्योप कल्प्यते।" सिद्धांतरत्न पृ० २३

६ बलदेव विद्याभूषण—गाविन्दभाष्य १।४।२४

७ विष्णुशक्ति परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञात्मा तथा परा।

अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥' विष्णुपुराण ६।७।६१

८ बलदेव विद्याभूषण—गोविन्दभाष्य ३।३।४०

९ वही, ४।१।१

हैं तो भावे ब्रह्म में समाहित हैं।^१ ब्रह्म तीन रूपों में अभिव्यक्त होता है।

महाविष्णु अथवा सवयण जो सम्पूर्ण प्रकृति एवं जीवा का अधिपति है। इसमें जीव तथा प्रकृति अपेक्षक रूप में नियमित है।

प्रद्युम्न—वह सभी आत्माओं—जीवों—का नियामक है। इस रूप में ब्रह्म प्रकृति को छोड़कर केवल जीवा का ही नियामक है।

तीसरे रूप में वह अपने आपना जड़ चेतन सभी की अतिरिक्त स्थिति के नियामक के रूप में, प्रकट करता है।^२ वह ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों से ही युक्त है। उसकी शक्तियाँ अक्षयनीय हैं।^३ इसी ब्रह्म तत्त्व को कृष्ण के रूप में स्वीकार किया है।^४ पटमदभ के लेखक ने भागवत में कहे गए कृष्ण के विग्रह को ब्रह्म से अभिन्न बतलाने के लिए अथवा प्रयत्न किया है। अथम की समस्तता से रक्षा करने के लिए वही परमशक्ति अवतार ग्रहण करती है। अवतार जीव के समान उसमें पृथक् न हाकर अभिन्न है।^५ कृष्ण ही परमशक्ति है। वह इतने गुन्दर है कि काम भी उन पर मोहित हो सकता है। वह चार ध्युहों के माध्यम से ज्ञान, चित्त, स्नेह तथा श्रीडा को अभिव्यक्त करता है।^६ जिस प्रकार मधु में अमर भिन्न हैं किन्तु मधु पीकर वह मत्त हो जाता है। वैशे ही स्नेह से मत्त जीव परमात्म-तत्त्व की आर्काशा रक्षता है। उसी स्नेहिल मत्तता के कारण वह भेद को भूल जाता है। यद्यपि वह ब्रह्म से पूर्णतया पृथक् है। जीव गोस्वामी के अनुसार आत्मगत दृष्टि के कारण वह तत्त्व ब्रह्म, जगत् के स्रष्टा के रूप में सगवान् पद से बोध्य है। बलदेव उसे हरि कहता है, तथा नारायण द्वारा सत्ता, महत्ता एवं कृष्ण द्वारा स्नेह की प्रतीति मानता है। स्नेह और आनन्द के चरम रूप होने के कारण ही वह श्रेष्ठतम है।

जीव—ईश्वर की जीव शक्ति से जीव उत्पन्न होते हैं। स्वरूप शक्ति का सहयोग एतदर्थ प्रभावी होता है। जीव अपने शासक ब्रह्म से पथक है तथा अणुपरि माणी है।^७ जीव असत्य हैं। सत्, रज तथा तम यह तीना गुण जीव से सम्बद्ध

१ ति च स्वरूपशक्तिमायाशक्ती परस्परविरुद्ध यथा तयोवृत्त्य स्वस्वगुण एव परस्परविरुद्धा पि भ्रान्त्य तथापि तासामेव निधान तदेव । पट सद्भ, पृ० ६१

२ डा० एस० एन० दामगुप्ता—एड्विस्ट्री आव इण्डियन फिलॉसफी, भाग ४, पृष्ठ ४०३

३ 'पश्चास्तु कौटिल्यतत्त्वसंस्मरणप्रगम्या वायोरथापि मासो मुनिपुगवानाम् । सोऽप्यस्ति यन् प्रपदसोम्यविचिर्यतत्त्वे गोविन्दमादिपुरुष तमह भजामि ॥ ब्रह्ममहिता ५।४३

४ बलदेव विद्याभूषण—गोविन्दभाष्य ३।३।४७

५ डा० आर० जी० मण्डारकार—वृष्णविजय शक्तिज्म एण्ड अदर भाइनर रिजोजस सिस्टम्स, पृष्ठ १२५

६ बलदेव विद्याभूषण—गोविन्दभाष्य, २।२।४१

हैं।^१ प्रलय के उपरान्त ब्रह्म एकोऽह बहुस्याम' की भावना से भोक्ता जीव तथा भाग्य की सृष्टि करता है। माया के कारण जीव अपने स्वरूप-बोध को भूल जाता है। इसी लिए जीवात्माएँ शरीर को जान सकती हैं, वास्तविकता को नहीं।^२ ब्रह्म का जीव से एकत्व बोध वास्तव में है। दृश्यमान भेद माया के कारण है। यह माया भी ईश्वर की शक्ति है। जीव किरणा के समान है और ब्रह्म सूयमण्डल के समान। जिस प्रकार किरणें सूय की शक्ति से ही हैं उससे पयक नहीं है। जीव के रूप का वैभव इसी तत्व के कारण है।^३ जीव का स्थिति विशिष्टाद्वैत में विशेषण के रूप में है। जबकि चैतन्य जीव को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति मानते हैं। जीव ब्रह्म की कृपा से भक्ति के द्वारा अपने घस्तुबाध को भलीभांति समझ लेता है।

जगत्—ब्रह्म की तीन शक्तियाँ में तीसरी शक्ति से जिसे अविद्या अथवा माया कहा गया है। जड़ जगत् की सृष्टि होती है। माया केवल शक्ति ही है अन्य कुछ नहीं जैसे कि अद्वैतवादी मानते हैं।^४ जड़ जगत् एव उसके प्राणी ईश्वर से भिन्न होते हुए भी उसके अधीन हैं। जड़ जगत् ब्रह्म से भिन्न भी नहीं है तथा सवथा अभिन्न भी नहीं। अद्वैत सम्प्रदाय ने जगत् का भ्रांतिजय माना है। गौडपाद ने इसके लिए अलातचक्र दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया था। चैतन्य मतानुयायी विचारक जगत् को सत्य एव भ्रांतिहीन मानते हैं। जगत् के मूल में स्थित माया नाम की शक्ति ही ईश्वर विरोधी है। वही जीव को ईश्वर विमुख करके दूर ले जाती है। इसी कारण जीव जगत् का दास बन जाता है। यह हरि की बहिरंग शक्ति है। इसकी वास्तविक सत्ता श्रुति प्रतिपाद्य है।^५ विष्णुपुराण में इस अक्षय एव नित्य कहा गया है।^६ प्रकृति अथवा प्रधान को बलदेव विद्याभूषण माया से अभिन्न मानते हुए ईश्वर के ईक्षण व्यापार में गतिवान मानते हैं। जीव ने प्रकृति का ब्रह्म शक्ति के रूप में माना है।^६ प्रलयकाल में भी उसकी सूक्ष्मस्थिति बन में छिपे पक्षी के

- १ डा० एस० एन० दास गुप्ता—ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग ४ पृष्ठ ४००
- २ 'स्वरूपवभवे तस्य जीवस्य रश्मिस्थानीयस्य मण्डलस्थानीयो य आत्मा परमात्मा स एव स्वरूपशक्त्या सवमभूत न तु तत्प्रवेशेन तत तत्र इतर स जीव केनेतरेण करणभूतेन क पदाथ पश्यते न केनापि कर्मोपि पश्यत इत्यथ न हि रश्मय स्वशक्त्या सूयमण्डलातगतवभव प्रकाशयेयु न चाचिपो वह्नि निदहेयु । पटसदभ पृष्ठ ७१
- ३ भीयते अनया इति माया शक्त्या शक्तिमात्रमपि भण्यते । पटसदभ पृष्ठ, ७३
- ४ ईशावास्योपनिषद् ८
- ५ विष्णुपुराण १।२२।५८
- ६ डा० एस० राधाकृष्णन—इण्डियन फिलासफी भाग २ पृष्ठ ७६३

समान रहती है।^१ यह प्रपञ्च भगवान् से एकात्मिक रूप में न तो भिन्न है न अभिन्न। यह भिन्नाभिन्नात्मकता अचिन्त्य है।^२

भक्ति—चैतन्य सम्प्रदाय में भक्ति का अत्यधिक महत्त्व है। भगवत्प्रीति का अनुभव ही मोक्ष है। यह अवस्था बिना भक्ति के प्राप्त नहीं हो सकती, अतः भक्ति महत्त्वपूर्ण आधार है।^३ यह कम की अवहेलना करके उसे अतिश्रुत कर जाती है। पुनर्जन्म से मुक्त होने के लिए भक्ति का आश्रय ग्रहण करना नितांत आवश्यक है। इसके द्वारा जीव ईश्वर के समान स्थिति प्राप्त कर लेता है। यद्यपि वह उससे अभिन्न तो नहीं हो सकता तथापि अत्यधिक सामीप्य की उसे उपलब्धि होती है।^४ भक्ति की प्राप्ति के लिए गुरु पर श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। बिना गुरु कृपा के भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब की स्थिति भी इस क्षेत्र में नहीं है। तब का सम्बन्ध बुद्धि से है भाव का मन से। भक्ति भाव के अधिक समीप है, इस लिए तब का महा कोई स्थान नहीं। भगवदृष्टि में कोई भी प्राणी हेय नहीं है, अतः भक्ति के लिये मानव से सभी के प्रति स्नेह दया, भयता आदि का होना आवश्यक है।

चतुर्थ मन्वीकृत भक्ति का सिद्धान्त का आधार सम्भवतः गद्य के प्रति कृष्ण का प्रेम रहा होगा। सम्भवतः उसी से जीव के प्रति ब्रह्म के स्नेह को स्वाकार किया गया हो। यह आध्यात्मिक स्नेह सामान्य वासात्मक स्नेह से सबथा भिन्न है। ब्रह्म की पराशक्ति अथवा स्वरूपशक्ति की सवितृ एवं ह्लादिनी शक्ति का मन्मिश्रण भक्ति है। सवितृ और ह्लादिनी दोनों भगवान् की शक्तियाँ हैं अतः भक्ति भगवदरूपिणी है। चतुर्थ में दो प्रकार की भक्ति मानी है। विधिनभक्ति तथा हविरानभक्ति। इस मत में अत्यन्त प्रबल कामना के साथ गोपियों की भक्ति को स्पृहणीय माना है।^५ सिद्धान्तरत्न के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक ज्ञान दूसरा विज्ञान। विज्ञान को ही भक्ति भी कहा गया है। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में त्व पद के बोध

१ 'वनलीनविहगवत्' प्रमेयरत्नावली, ३।२

२ 'जीवगोत्वामी—स्वरूपाद्यभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेद भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिमतोर्भेदाभेदावगीकृतौ तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते अचित्यभेदाभेदादेव अचित्यशक्तित्वात्। भागवत्संभारम्भ्य सवसवाग्निनी, पृष्ठ २३

३ 'सच्चिदानन्दंकरसे भक्तियोगे तिष्ठति।' गोपाल तापनी

४ वनदेवविद्याभूषण—गोविन्दभाष्य १।१।१७

५ आराध्यो भगवान्प्रवेशनपस्तद्दामकृदावन,

रम्या काञ्चिदुपासना प्रजवधुवर्गेण या कल्पिता।' विश्वनाथ चक्र—५

से कवल्य ज्ञान मिलता है तथा तत्पद के बोध से भगवत्प्रसाद । किंतु इसके अतिरिक्त विज्ञान अर्थात् भक्ति से ईश्वर को वश में किया जा सकता है अतः वही श्रेयस है ।^१

यह मत रामानुज तथा मध्व दोनों से प्रभावित है । 'डा० राधाकृष्णन का मत कि रामानुज से अधिक प्रभावित' अधिक ग्राह्य नहीं । सिद्धांता को ध्यान में रखते हुए यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि चैतन्य के परवर्ती शिष्या ने अपने समय से पूर्व के प्रचलित सभी मतों से कुछ न कुछ ग्रहण किया है । वस्तुतः इस मत को तो दो चार विचारका ने दार्शनिक सम्प्रदाय बना लिया । जयथा यह तो सगुण भक्ति पर आधारित भावात्मक आन्दोलन था ।

द्वैत वेदान्त का उद्भव और विकास

मंत्र वेदान्त का परम्परा में द्वैतमत अथवा भेदवाद के सत्यापक हैं। व्यापक प्रसार एवं साहित्य की दृष्टि से शंकर रामानुज के उपरान्त इनका स्थान है। श्रुतियों एवं प्रस्थानत्रयी के व्याख्यान में प्रवृत्त पूर्ववर्ती विचार-क्रमा को द्वैत ने मान्यता प्रदान नहीं की। पाश्चात्य चिन्तन में जैसे रहस्यवाद के सहज-शात्रु के समान हेगेल-दशत प्रतिष्ठित हुआ वैसे ही अद्वैत वेदान्त के प्रबल प्रतिद्वन्दी के रूप में द्वैत-वेदान्त की स्थापना हुई।^१ काट तथा हीगेल के विरुद्ध रसल की प्रतिक्रिया मध्य की प्रतिक्रिया के समान मानी जा सकती है।^२ यह विरोध रामानुज की अपेक्षा अधिक कठोर था। प्रवृत्ति सिद्धान्त दोनों ही रूपों में भारतीय चिन्तन, आदर्श और यथाय के सघष से ओत प्रीत है। इसी के द्वारा चिन्तन को क्रमाप्त विकास मिला है। द्वैत-वेदान्त भी उसी सघष की एक शृंखला है।

मध्य ने अपने विचार की स्थापना में प्राचीन साहित्य का पूरा उपयोग किया है। यद्यपि शंकर के सर्वाविषायी अद्वैत ने द्वैत के निर्माण में प्रेरक तत्व के रूप में कार्य किया,^३ यद्यपि श्रुति एवं श्रुत्यनुगत वाङ्मय भी इस मत के स्वीकृत निष्कर्षों का समर्थन करता है, यह धारणा भी इसके मूल में आधारित सन्निविष्ट रही। सभी आस्तिक दशना को अपना प्रमाणीकरण प्राचीन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में ही करता पड़ा है। यह प्रवृत्ति मध्य के खण्डन मण्डनात्मक ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों से भी पात होती है।^४

द्वैत मत के प्रवृत्त आचार्य ने बर्दिक साहित्य के विपुल उल्लेखों के आधार

१ डा० सी० डी० शर्मा—इण्डियन फिलॉसफी पृ० ५३४

२ डा० नागराज शर्मा—रेन आक्र रीपलिज्म, पृ० १

३ डा० बी० एन० के० शर्मा—ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, सप्ट १, पृ० २

४ प्रस्तुत प्रसंग में मध्य की दृष्टि का अनुसरण करते हुए बर्दिक साहित्य का सर्वेक्षण किया गया है।

पर अपने तात्त्विक विवचन को रखा है। वेद में देवों को सबनामयान् कहा गया है।^१ श्रुतिपूवक विष्णु को अथ अोक उल्लेखा के आधार पर स्रकन रूप में स्वीकृत किया गया है।^२ वैदिक साहित्य में मध्व के अनुसार विष्णु ही सभी देवों के आधार एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण देव हैं।^३ अनेक देवों की विस्तृत परम्परा में एवात्मकता की ओर बढ़ते पादक्षेपा से यही सहज एवं स्वाभाविक निष्कर्ष ग्रहीत हो सकता था कि किसी एक देवता को आधार मानकर उस सबप्रमुख कहा जाता। मन्व ने विष्णु का ईदवर एवं सर्वोत्कृष्ट मानकर यही किया।^४ भारतीय चिंतन स्वतंत्र होने पर भी समन्वयहीन दृष्टिकोण नहीं रखता।^५ वैदिक विचारकों ने बहुधा वचनों को परस्पर सखिल्ट किया है।^६ एक देव की यही सर्वोत्कृष्टता द्वैत के विष्णु की सर्वातिशयता की प्रेरणा है।

मन्व एवं ब्राह्मण साहित्य के उपरांत ब्राह्मण ग्रंथों के अग्रभूत उपनिषदों में दार्शनिक विवचन पर्याप्त स्थिरता एवं स्पष्टता के साथ प्राप्त होता है। वेदान्त के विभिन्न मतसंस्थापक आचार्यों ने तत्त्वा का स्वरूप विश्लेषण भी इसी ग्रंथ राशि के आधार पर किया है। आरण्यक एवं उपनिषद् के परस्पर सम्बन्ध को देखते हुए यह निष्कर्ष प्राप्त करना बहुत स्वाभाविक है कि रहस्यवाद एवं प्रतीकवाद पूर्व की अपेक्षा अधिक तात्त्विक एवं समयगत विकास को लिए हुए हैं। श्रुति का मन्व ब्राह्मण भाग देवों को बाह्य रूप में मानता है, आरण्यक सबव्यापकता की ओर सकेत करते हैं तथा उपनिषद् अन्तरात्मा के रूप में अध्यात्मविद्या द्वारा ग्राह्य मानते हैं। इस प्रकार इस क्रमिक विकास में बाह्य दृष्टि अंतर्मुखी होती गई। उपनिषद् की विचार परम्परा स्पष्ट रूप से दो सत्ताएँ स्वीकार करती है। जीवात्मा और परमात्मा। इसी

१ ऋग्वेद १।१३४।४५

‘यो देवाना नामधा एक एव। १०।८२।३

२ वही १०।८२।६

३ अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु परम। तदन्तरा सर्वे देवता।
ऐतरेय ब्राह्मण प्रथम पक्ति

४ मन्व—‘यच्च किञ्चिज्जगत्सर्व दृश्यते श्रूयतऽपि वा।

अतबहिदच तत्सर्व व्याप्य नारायणस्थित ॥

तत्र तत्रस्थितो विष्णु तत्तच्छक्तिप्रबोधक।

एक एव महाशक्ति कुरुत सर्वमजसा ॥’ अनुयाह्यान

५ डा० राधाकृष्णन् इडियन फिलासफी भाग १, पृ० ६२

६ ऋग्वेद— इद्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।

एक सद्विप्रा बहुधा वदत्यग्नि मम भातरिश्वाणमाहु ॥’ १।१६४।४६

लिए आन्तरिक अवस्थाआ का विचार भी उपनिषद् म प्राप्त है। वस्तुतः मन्त्र श्रावण और आरण्यक की अपेक्षा यही तात्त्विक विचार के आधार रहे हैं। यद्यपि पूर्ववर्ती वाङ्मय के विकसित एवं परिवर्तित रूप उपनिषद् हैं।^१ मध्व के अनेक सिद्धांत इस पर पूर्णरूपेण आधारित हैं।^२

उपनिषदा म भी द्वैतात्मकता तथा अद्वयोभुगता दोनों प्रवृत्तियां बहुलता से प्राप्त हैं। इनका परस्पर सघर्ष भी चरन रहा है। यागवत्स्य एक और 'विनातारमर केन विजानीयात्' का उपदेश देते हैं। दूसरी ओर जनन की सना म भेदपरक धारणा का उपयोग करते हैं।^३ उक्त माहित्य म अद्वैतपरक प्रयोग पर्याप्त भाषा म मिलत हैं किंतु उनम विगुह अद्वैत की दृष्टि म अनेकता दुजननाए हैं।^४ श्वेताश्वतर उपनिषद् भेदभावी परम्परा क बहुत समीप है। साम्य दर्शन क विचार भी उसम हैं।^५ इमना प्रारम्भ ही द्वैत को उपलक्षित करता है।^६ जह एव चेतन का भेद स्पष्टन स्वीकृत है। इन दोनों प्रकार के तत्त्वा को ईश्वर के अधीन रहना पडता है।^७ श्वेताश्वतर

१ रानाडे, कास्ट्रुविटय सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी पृ० ६३४

२ 'दा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वनं परियस्वजाते।

तयारम पिप्पल स्वाद्वात्यनदननयो अभिचाकशीति ॥' मुण्डकोपनिषद् ३।१।१

'समानं वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीगया गोचया मुह्यमान।

जुष्ट यदा पश्यत्यमी गमस्य महिमानमिति वीनगाव ॥' ३।१।२

'ईगावारमिदं सर्वं यत्किंच जगत्या जगत्।

तेन त्यक्चन भुजीया मागृष कस्यस्विद्धनम् ॥' ईगावारयोपनिषद् १,

वीगीतवी, ३।६ कठोपनिषद् १।२।२३

३ आदोग्य उपनिषद् ३। ६। ७ ८

४ यद् तन्न पश्यति पश्यच्च तन्न पश्यति न हि दृष्टुदृष्टविपरिलोपो विद्यते

विनाशित्वान्न तु तद्वितीममस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत ॥'

बृहदारण्यक उपनिषद्, ४। ३। २३, १। ४। ४०,

एष हि दृष्ट्या स्पृष्ट्या श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता

विनाशार्त्मा पुरुषः ।' प्रश्नापनिषद् ४। ६

५ रानाडे, कास्ट्रुविटय सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, भाग २ पृ० ३०४

६ कि कारणं ब्रह्म कृतं स्म जाता बीवाम केन क्व च सप्रतिष्ठा ।

अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तमाने ब्रह्मविदो व्यवस्थाम ॥'

७ वही, ४। १३

'यो देवानामधिपो यस्मिंल्लोका अधिष्ठिता ।

य ईतो अस्त द्विपदश्चतुष्पद कस्मै देवाय हविषा विधम ॥'

वही, ६।१

'देवस्यैष महिमा तु नीके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ।'

ईश्वर सम्बन्धी विवेचन मध्व सम्मत विष्णु के स्वरूप के समीपवर्ती है।^१ इसीलिए ब्रह्मसूत्र तथा अन्य अनेक विद्वान इस द्वैतवाद का सम्यक् उपनिषद् मानते हैं।^२ चेतन तत्त्व में ईश्वर एवं जीव परस्पर भिन्न हैं।^३ मानवीय चेतना के आत्यन्तिक स्वरूप की रक्षा अत तक बनी रहती है। ब्रह्म का साम्य पूणत न भी प्राप्त कर सके तो कुछ अशा में तो समकक्ष हो ही जाता है। किंतु अन्तिम अवस्था में भी ईश्वर अथवा उस व्यापक तत्त्व से लघुता बनी ही रहती है।^४ स्वप्नावस्था तथा उससे परे भी ईश्वर एवं जीव का भेद श्रुति को अभीष्ट है।^५ ईश्वर की प्रशंसा एवं भक्ति विषयिणी भाव्यता भी प्राप्य है।^६

उपनिषद् के उक्त सभी तथ्या क प्रति मध्व की दृष्टि गई। स्वभावतः य सभी सूत्र अद्वैत के विरोधी विचार को पुष्ट करने में सहायक सिद्ध हुए। गकर ने इनकी पूण उपेक्षा तो की ही साथ ही इनके अर्थ के साथ अयाय भी किया है। विचार वैदिक साहित्य की इस सीमा तक राह खोजता सा प्रतीत होता है। एक परम्परा एक तत्त्व को इतना अधिष्ठ महत्त्व देनी है कि उसके सामने अन्य सभी तत्त्व तिरोहित हो

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।३

एकक जाल बहुधा विबुधान्मि क्षेत्र सहरत्येय देव ।

भूय सृष्ट्वा पतयस्तथेश सर्वाधिपत्य कुरत महात्मा ॥'

२ डा० राधाकृष्णन इंडियन फिलासफी भाग १ पृ० ५११

३ छांदोग्य उपनिषद् ८।१२।३ ८।५३ ८।२।१०

कौपीतकी उपनिषद् १।३४

४ तत्तिरीय उपनिषद् (आरण्यक) ३।१२।१

अतएव चानयाधिपति । ४।४।६ ब्रह्मसूत्र

वही ४।४।१७

जगद्व्यापारवज प्रकरणादिसनिहितत्वाच्च ।

५ 'स्वप्नान्त उच्छ्वावचमीयमानो रूपाणि देव कुरुते बहूनि ।

उतेव स्त्रीभि सह मोदमान जक्षद्भुतेवापि भयानि पश्यन् ॥ ४।३।१३

कठोपनिषद् २।१।४

स्वप्नान्त जगरितात्त चोभौ यतानुपश्यति ।

महात्त विभुमात्मान मत्वा घीरो न गाचति ॥

बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२१ , ४।३।३५

तैत्तिरीयोपनिषद् २।७

कठोपनिषद् २।३।१८ मुण्डकोपनिषद् ३।१।२

६ मुण्डकोपरिषद् ३।१।१

जात हैं। दूसरी परम्परा अथ तत्त्वा को भी सावकालिक एव आत्यन्तिक स्थिति मानती है। इन परस्पर विरुद्ध विचार प्रणालियां न परवर्ती विचारको के सामन अनेक प्रकार से बर्दिक मात्र दृष्टांता का ध्यान करन का अवकाश दे दिया। शंकर, रामानुज, मध्व निम्बाक तथा यत्तभ आदि अपनी दृष्टि स इनका उपयोग करते हैं।

बर्दिकेतर महाभारत, पुराणादि साहित्य म वैचारिक स्थिरता एव स्पष्टता का थापक्षिक अभाव मिलता है। अनेक परस्पर विरोधी मत उपलभ्य हैं।^१ सामाजिक वानावरण में भी इस विविध वाद मयीन प्रवाह का प्रभाव था। अथ विचारका न सम्भवत इसे व्यामोहपूर्ण मानकर सम्पूर्ण साहित्य की उपेक्षा की है। यह धाड्मयी विकसनशाल वैचारिक दाय का वाहक है। महाभारत एव पुराणादि को चिन्तन के परिप्रेक्ष्य म देखना आवश्यक था। शंकर तथा अथ आचार्यों ने कहीं-कहीं कथ्य सम्पो पणाय उद्धत अवश्य किया है किंतु मुक्त कण्ठ से दार्शनिक आधार स्वीकार करते हुए इनको सकोच होता है। मध्व ने अपने दार्शनिक ध्यात एव आधार के रूप म इनकी भी प्रनिष्ठा की है।

महाभारत के अंतगत हरिवंश पुराण में विष्णु की महता आख्यात है।^२ महाभारत म मुख्य रूप म साख्यानुसारी दृष्टि को स्थान मिला है तो भी उसमें एव एसे महापुरुष की मायता है जो अथ पुरपा का भरण करता है।^३ यह मद्यपि सेवर साख्य के समीप है, तथापि द्वैतात्मक प्रकृति का परिचायक माना जा सकता है। पुराणा का चिन्तन, सृष्टिप्रक्रिया तथा आत्म तत्व विवेचन की दृष्टि से, अद्ययथायवादी प्रतीत होता है। शंकर के मत के अनुकूल ये सिद्धांत नहीं हैं। गीता में भी इसी दृष्टि की प्रधानता है।^४ व्यवृत्त के स्वयं के कृत्य उमकी मुरा एव दुःखोपलब्धि के लिए पर्याप्त नहीं है, उसे इस सद्भ म विष्णु-तत्व की कृपा की अपेक्षा निश्चित रूप से रहती है। उसके सन्तोष का आधार भी वही तत्व है।^५ जीव की स्वयं कोई काय

१ महाभारत, ३।१४।११६

'श्रुतिविभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नको मुनियस्य मत प्रमाणम् ।'

२ हरिवंश, ३।३२३

'वेदे रामायणे च व पुराणे मारते तथा ।

आदावन्त च मध्यं च विष्णु सवत्र गीयते ॥'

३ महाभारत १०।२६।२०

४ डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग ३, पृ० ४६

५ विष्णुपुराण—रामानुज द्वारा उद्धृत—

'वर्णार्थमाचारवना पुष्पण पर पुमान् ।

विष्णुराराध्यत यन नायनत्तोपकारणम् ॥'

करने अथवा न करने का कोई अधिकार नहीं है।^१ उसकी सारी क्षमता किसी अन्य तत्त्व के अधीन है। वस्तुतः कम यही है जो हरि के सन्तोष का कारण हो।^२ नक्षत्रम्य की यह व्याख्या यगत के अर्थ के तर्क सभी सिद्धान्तों को ग्राह्य है।

✓ उक्त नक्षत्रम्य सिद्धांत को गीता में आध्यात्मिक आधार पर प्रस्तुत किया गया। भागवत मत का यह विकास गीता में प्राप्त है।^३ मध्य न इस पांचरात्र संहिताओं का सम्यक् माना है।^४ गीता में उपनिषद् के कम विरोधी अतिवादी स्वर की प्रतिश्रम्य परिलक्षित होती है। गीता की सच्चि प्रक्रिया साख्य-सम्मत है।^५ इसमें यह वही भ्रंश स्वीकार नहीं किया गया कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है अथवा सभी या तो हैं ही नहीं अथवा मिथ्या हैं। माया का भी केवल तीन स्थानों में ही उल्लेख मिलता है। किन्तु यह प्रयोग भी सत्त्व की माया के स्वरूप का आधार नहीं हो सकता। वहाँ भी य उल्लेख नही मिलता कि माया के कारण जगत् की सत्ता है।^६ साथ ही पुण्य के गान्ध तत्त्व और अनेकत्व की अनेकता कहा है।^७

मध्य न अथ साहित्य की अपेक्षा पांचरात्र साहित्य को बल महत्त्व दिया है। इस को श्रुति के समान सीमित अधिकारिता का विषय न मानकर केवल उपबन्धन के लिए सामान्य माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया।^८ पांचरात्र में आप तथा अथ परवर्ती चिन्तका का ज्ञान अनेक रचना में मग्नहीन है। दो सौ से अधिक संहिताओं के रूप में ग्रन्थ हस्तलिखित ग्रन्थागारा में आज भी प्रा

१ महाभारत, १२।२३।५।८४

गीता, ३।६ 'नाह कर्ता न कर्त्तव्यं न कर्ता यस्तु सत्ता प्रभु ।'

२ भागवत, ४।२६।४६—'तदत्रम हरितोपयत् ।

वही, ४।३०।४०—'वर्णोमहे ते परितोषणाय ।'

३ डा० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी भाग १, पृ० ५२६

४ ब्रह्मवैवर्तपुराण अनुव्याख्यान २।२ में उद्धृत—

इति गीता च तच्छास्त्रं संक्षेप इति हीरितम् ।

५ गीता, १।४।३

६ डा० एस० एन० दास गुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग पृ० ४७८

७ गीता, ३।६

८ व्योम संहिता—मध्य द्वारा उद्धृत ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।१

'स्त्रीपूद्रब्रह्मधूना सत्रनाते-धिकारिता ।'

९ श्रेटर, इट्रोडक्शन टू पांचरात्र, पृ० २

है।^१ त्रिचरो की दृष्टि से साहित्य का यह षष्ठ मंत्र ब अधिक समीप है। इसीलिए मन्त्र के अन्त में प्राप्त प्रमाण के रूप में अन्याय का विनाश उपयोग है।^२ रामानुज द्वारा उद्धृत परमसहिता से ज्ञात होता है कि जनादि अनन्त एवं परमाधिक दृष्टि से निश्चिन्त रूप में अचेतन तत्त्व है।^३ ईश्वर को जाना स ही जीव अनादि कम से आवद्ध है।^४ व्यावहारिक क्षत्र में नष्टम्य सिद्धांत की स्वीकृति इन संहिताओं में दी गई है।^५ मन्त्र का नष्टम्य सिद्धान्त म् साहित्य पर ही आधारित है।

पुराणा की रचना तत्र दान का मृजनात्मक पक्ष विकसित होता रहा। इसके उपरान्त व्याख्यानरूप एवं समाहारस्वरूप प्रवृत्ति चिन्तन को प्राप्त हुई। एक ओर पुराणा का ग्रथ यथायथादी चिन्तन तक नवीन योगदान के सूत्र की अविच्छिन्नता रही। दूसरी ओर परस्परविरोधी मापताओं में समन्वय एवं विघटन भी चलता रहा।^६ इसी काल में आम्निक परम्परा की आधार श्रुति के व्याख्यान में कनिषथ साहसपूर्ण एवं मौखिक संकेत प्राप्त किए गए। इन व्याख्यान में आम्न्य एवं यथाय पर आधारित परस्पर संधपरत को प्रवृत्तियां वृद्धिगत होती रहीं। यथाय पर आधारित काम देने पिक साम्य योग तथा मीमांसा दान की प्रणालियां सैद्धांतिक स्वरूप के रूप में उपस्थित हुई। इसके साथ ही गोडपाद तथा उनका अनुकरण करने वाली परम्परा में जादवादी स्वर और भी प्रखर जाता चला गया। वैसे दोनों ही वर्गों का किसी स्थिर एवं स्पष्ट विभाजक रेखा द्वारा विभाजित नहीं किया जा सकता। दोनों में दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियां अनाधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं। फिर भी प्रवृत्ति एवं स्वरूपगत बहुलता के कारण उन्हें दो शिविरों में वर्गीकृत कर लिया गया।

डा० बी० एन० के० शर्मा के अनुसार इन सभी चिन्तन गणिका का निर्माण केवल वैचारिक उलझन के अतिरिक्त अय कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सका।^७ यह मत

- १ श्वेतर ऋग्वेदशत दु पावरात्र पृ० ६ ११
- २ डा० बी० एन० के० शर्मा, ए डिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदांत एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० ५।
- ३ परमसहिता, २।१८, अचेतना परापरिच नित्या सततविक्रिया ।
सह्यनादिरनन्ताश्च परमार्थेन निश्चिता ॥
- ४ मन्त्र द्वारा उद्धृत — 'अनादि कमणा बद्धो जीव समारमडले ।
वासुदेवानया नित्य भ्रमति ॥
- ५ भागवत, १।३।८
'तत्र सातत्वमाश्रये नष्टम्य कर्मणा यत ।'
- ६ डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३५२
- ७ डा० बी० एन० के० शर्मा ए डिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदांत एंड इट्स लिटरेचर भाग १, पृ० १४०

अधिक तकसगत नहीं है। कुछ अग्रा तक इस सत्य माना जा सकता है कि तत्कालीन चिन्तन बौद्ध जैन तथा अन्य आस्तिक विचारों की परम्परा भिन्न भिन्न प्रकार के वाद प्रचलित करता रही तो भी ये सम्पूर्ण अनेकत्रा प्रचलित मत बवल उलभन उत्पन्न कर पाए हा, विश्वसनाय नहीं। साथ ही विज्ञान के सिद्धांत के विपरीत भी है। इस प्राप्त सामग्री का विद्वाना द्वारा उपयोग किया गया। इसका आधार पर ही विभिन्न वादा ने अपने मत में जोर अधिक परिष्कार किया है। य सभी प्रयाग जोर विकासमान पादशेषाके पर्याय है। तो भी यहा पर उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बहुत से तथ्या की अपेक्षा इन आचार्यों न की है।

ब्रह्मसूत्र उपनिषद् तथा गीता के साथ विभिन्न धाराया का स्रोत रहा है। ब्रह्मसूत्र के पूर्ववर्ती वातावरण में बौद्ध साहित्य एवं मान्यताया के प्रति अनास्था थी। यदि विचार ग्रहण भी किया गया तो क्रमाप्त परिवेश छोड़ कर। वादाक तथा अन्य नास्तिक दशानों ने वद की अपौरुषयता एवं सर्वो कृष्णता पर आघात किया। जन समुदाय की सुखाकांक्षी दृष्टि का उस आर उमुख होना स्वाभाविक ही था।^१ बुद्ध धर्म नतिक आवश्यकताया की सम्पूर्ति के लिए अधिक उमुख था न कि जगत् के बौद्धिक समाधान की ओर। वह उस समय जात्मा का उपचारक बन कर उपस्थित हुआ।^२ आत्मा की सत्ता स्वीकार करके जन मत ने अपनी पृथक् स्थिति प्राप्त की। वह कबल्य के अति रजित रूप को प्रचारित करके जनता में प्रभावशाली हा रहा था।^३ बौद्ध एक जन विचारको ने जगत् के कारणभूत किसी एक तत्व का नहीं माना। ऐसी अवस्था में आदर्शवादी वग में बौद्ध साहित्य के बचना के सन्निहित सकलन की अपेक्षा थी। जगत् की व्यावहारिक सत्ता की स्थापना की जोर ध्यान दकर उन मतों की प्रतिक्रिया आस्तिक वग के एक व्यवस्थित ध्यान का विकास हुआ।^४ इसका प्रारम्भ करने वाला वादरायण था।^५

वेदांत के परस्पर विरोधी मत को प्रतिपादित करने के लिए ध्यान के रूप में पूर्वपक्ष और सिद्धांतपक्ष की स्थापना के द्वारा इन सूत्रों की रचना हुई।^६ अस्पष्ट

१ कारपेटर, थीड्रज्म इन मडिबल इंडिया, पृ० ५३

२ वय रिलीजन आफ इंडिया पृ० १२०

३ डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी भाग २, पृ० ५२

४ वही भाग १, पृ० ७८

५ ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।१ वदान्तब्रह्मसूत्रप्रथमाध्यायत्सूत्राणाम्।

वेदान्तवाक्यानि हि सूत्ररूपाहृत्य विवायत। —शंकर

६ डा० वी० एन० के० गर्मा ए हिस्ट्री आफ इट स्कूल आफ ध्यान एंड इटम लिटरचर,

भाग १ पृ० १६८

भाषा में लिखा होन पर भी उसकी मध्य के अनुसार उसकी द्वैतपरकता को बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वीकार किया जा सकता है। जगत् की मध्याय सत्ता मानन के कारण ही सूत्रकार बौद्ध के द्वारा स्वीकृत जगत् की मात्र बौद्धिक स्थिति से सहमत नहीं हैं। क्षणभंगवाद के साथ माय योगाचार मत के गान एव नैय की एकरूपता का भी खण्डन किया गया है। इससे सूत्रकार का अभिमत प्राप्न हो जाता है कि ये जगत् को सत्य, स्थिर एवं वृद्धि से स्वतंत्र मानते हैं।^१ साह्य के मत का खण्डन भी सूत्रकार की उसी दृष्टि की सम्पुष्टि है।^२ उक्त प्रसंग के व्याख्यान में शंकर ने भी इसी तथ्य को इंगित किया है।^३ अर्थात् गानारमक प्रतीति भी बादरायण को इष्ट है। आत्मा और जीव एक ही में निवास करते हैं। आत्मा म अज्ञताए नहीं हैं। यह जीवा को उनके कम क अनुसार फल देना है, अतः उसे दोषी नहीं मानना चाहिए।^४ जीव ब्रह्म का अंश है।^५ डा० दासगुप्ता क अनुसार इन सूत्रों का द्वैतपरक भाष्य ही सत्य के अधिक निकट है।^६ पूर्वपक्ष के रूप में ही सही शंकर मतानुनायिका ने स्वीकार किया है कि सूत्रधार वहीं भी अभेद को स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं करते।^७

शंकर के पूर्ववर्ती विचारका में भी कल्पित यथायवादी थे। शंकर के द्वारा अतिकार के रूप में उपरिणित उपवय को विगिष्टाद्वैत के विचारक अपने मन का पूर्वाशय मानते हैं।^८ टक नामक विद्वान् भास्कर के समान ब्रह्मपरिणामवादी के रूप में विख्यात हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक उद्धरणों से शंकर के पूर्ववर्ती यथायवादी विवेचका को स्मरण किया जा सकता है। किंतु शंकर ने उनको महत्व नहीं दिया। उनकी इस अस्वीकारिता के मूल में सम्भवतः बौद्धों का आदेशवाद था जो ईसा की प्रथम सदी से लेकर पाचवीं तक पुनः जीवित होना रहा।^९ गौडपा, जिनकी वचारिक धराहर को ही अद्वैत वचान्त के रूप में शंकर ने विकसित किया, निदिशत

१ ब्रह्मसूत्र, २।२।२८

२ 'व्यभिच्यन्व ७ स्वप्नादिवत् ।

३ डा० गघाट्टणन इडियन किलासफी, भाग २, पृ० ४४३

४ शंकर, ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।२६

नव जागरितोपलप्य वतु वस्यादिवन्म्याया माच्यते ।'

५ ब्रह्मसूत्र, २।१।३४

६ वही, २।३।६३

७ डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इडियन किलासफी, भाग १, पृ० ६२१

८ आनन्दगिरि, ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य टीका १।३।६

९ वचान्तदेगिक, तत्त्वविद्वत्, ३

१० डा० दा० एन० के० गमा १ हिस्ट्री आफ द्वैत मूल आफ वचान्त, भाग १ पृ० ८८

रूप से अजातिवादी बौद्धा के विमानवाद एवं माध्यमिक सम्प्रदाय में प्रभावित थे। इसीलिए अनुश्रुति ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध माना।^१ ✓

इस एवान्त आदर्शवाद के विरोध में बहुत शीघ्र अनेक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुई। रामानुज, भास्कर, निम्बाक, बल्लभ तथा अन्य अनेक विचारक। शंकर के ही मत में परवर्ती काल में विवरण तथा भामतीप्रस्थान नामक नौ उपभेद एवात्त अद्वैत के प्रति असहिष्णुता को सूचित करते हैं।

ईसा की दसवीं शताब्दी से ही शक्ति में बल्लभ मत द्वारा समर्पित भक्ति का प्रचार बढ़ने लगा था। अतः वेदात्त के मायावादी स्वरूप में परिवर्तन आना बहुत स्वाभाविक था।^२ यामुनाचाय ने पूर्वविस्मृत बोधायन आदि आचार्यों को पुनरुज्जीवित किया। यामुनाचाय एक रामानुज का उत्तम शंकर के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिचायक है। साथ ही इसके द्वारा द्वैतात्मक एवं यथायत्नाती विचारकों की पूर्वगत परम्परा की अविच्छिन्नता की ओर भी संकेत मिलता है। किन्तु रामानुज की प्रतिक्रिया पूर्ण अन्तर लेकर नहीं बढ़ी। चित् और अचित् के परस्पर सम्बन्धों पर आधारित जापेशिन यथायत्नावादी दृष्टि के कारण अनेक मतों का पुनरुत्थन हुआ।^३ इसी बीच छोटी सन्ती ईस्वी से निरन्तर बारहवीं सदी ईस्वी तक विषयसन्तुलित शंकर मत का प्रभाव बढ़ रहा था। नायनमार सत्ता की रचनाएँ बल्लभ मत के विरोध में जनता में प्रभाव स्थापित कर रही थीं। इन सम्पूर्ण वैचारिक परिस्थितियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अतिमायावादी विचारधारा की मध्व द्वारा स्थापना की गई। सातवीं दृष्टि में रामानुज ने केवल वैश्व साहित्य को ही विष्णु के स्वरूप का आधार माना, जबकि मध्व ने पुराण तथा पंचरात्र को भी ग्रहण करके अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया।

मध्व के पूर्व का यह व्यापक साहित्य निर्दिष्ट रूप से द्वैतात्मक प्रतीति के क्रमिक विकास को स्पष्ट करता है। अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के कण्ठस्वर को अपने स्वर में आत्मसात् करते हुए शंकर के पूर्ण विराधी मत की मध्व ने स्थापना की। चित् और अचित् के सम्बन्धों को पांच भागों में मन्व ने विभक्त किया है। यह सत्य है कि इस वर्गीकरण में मन्व कहीं-कहीं अतिवादी भी हैं और कहीं-कहीं पूर्ण पुराणवादी। जैसे जड़ का जड़ से भेद तथा तमोबहुल एवं मुक्त्ययोग्य जीवा की स्वीकृति।

मध्व द्वैत के संस्थापक हैं। यहाँ तक भारतीय दर्शन के विकास में मौलिकता मिलती है। इसके उपरान्त केवल परिभाषाओं के स्पष्टन मन्व में प्रयुक्त सूत्र तर्कों

१ वाणि राजतीथ युक्तिमल्लिका १५६

मायावादमसच्छास्त्र प्रच्छन्न बौद्धमेव च।

२ डा० शर्मा ए हिस्ट्री आफ द्वैत शूल आफ वेदात्त एंड इट्स लिट०, भाग १ प० ६०

के अतिरिक्त कोई नई विचारधारा प्राप्त नहीं मिलती। मध्य तक ही चिन्तन की मौलिक परम्परा है।^१

पद्मपुराण में मध्व के मत को ब्रह्मा से प्रारम्भ माना गया है।^२ मध्वसम्प्रदाय के मठों में प्राप्त सूची के अनुसार मध्व के आचार्य अच्युतप्रेक्ष्य थे।^३ मध्व अथवा उनकी परम्परा के द्वारा भले ही आचार्यों का उल्लेख मिले किन्तु उनमें से किसी के कोई ग्रन्थ नहीं मिलते। मध्व ने अपना सम्बन्ध स्वयं व्यास से स्थापित किया है। मध्व की जन्म तिथि ११६७ ई० विद्वानों द्वारा स्वीकार की गई है।^४

मध्व की जीवनी के विषय में कोई आधिकारिक सूचना प्राप्त नहीं होती। 'मध्व विजय नामक नारायणाथ विरचित ग्रन्थ से ही हम उनके विषय में जानकारी प्राप्त कर पाते हैं। किन्तु यह सूचना इतने अधिक श्रद्धातिरेक एवं पौराणिक प्रसंगों से आपूरित है कि उनमें से तथ्याचार्य का ग्रहण व्यर्थ कठिन है। त्रिविक्रम पंडित के वदनात्मक छूटा म भी जीवन-वृत्त-मन्व-धी सकेत प्राप्य हैं। मध्व को वासुधा अवतार माना गया है। शृंगेरी से पश्चिम की ओर, चालीस मील दूर उडिपी के समीप रजतपीठ के निवासी मध्यमेह मट्ट के पुत्र में। उडिपी आज भी मध्वसम्प्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है। 'रजतपीठ' नामक स्थान को आधुनिक कल्याणपुर माना जा सकता है।^५ मध्व अच्युतप्रेक्ष्य के शिष्य थे तथा सत्यस्त के उपरांत पूणप्रज्ञ एवं आनन्दतीर्थ के नाम से अभिहित किये जाते थे। पहले गङ्गा के भवन का रहने अध्ययन किया। बाद में उससे सहमत न होने के कारण उन्होंने पृथक मत की स्थापना कर ली। अच्युतप्रेक्ष्य के साथ उन्होंने शनिग-यात्रा की और विष्णुमगल ग्राम में पहुँच।^६ इसके उपरान्त धनुकोटि एवं रामेश्वर की यात्रा की। तदनंतर उत्तर भारत में अपने मत का प्रसार किया। मध्व विजय में मध्व के उन प्रयासों का श्रद्धातिरेक स्वरो में वर्णन है जो उन्होंने अपने मत के प्रसार के हेतु किए।^७

मध्व के ग्रन्थों की संख्या ३७ है। इन सभी कृतियों को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

१ प्रस्थानत्रयों का भाष्य—ब्रह्मसूत्र गीता तथा प्रमुख उपनिषदों की द्वैतपरक टीका।

- १ मणिमजरी, ८।३३
- २ डा० बी० एन० के० गर्मा, इट्टोडवगन द्वा चतुस्तुत्री मध्व भाष्य, पृ० २४
- ३ गुणध्व विजय ५।३
- ४ डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, भाग ४, पृ० २५
- ५ वही, पृ० ५६
- ६ नारायणाचार्य, मध्व विजय, ५।३०
- ७ मध्व विजय, ५।८ १६

- २ दश प्रकरण—द्वैत विचारों के प्रतिपादक, स्वतंत्र रूप से लिखे गए सण्डन मण्डन-परक ग्रन्थ ।
- ३ भागवत तात्पर्य निणय एव ऋग्भाष्य ।
- ४ अथ अस्पृष्ट रचनाए ।

भाषा अत्यन्त सामान्य एवं सरल है । सामासिक एवं दुरूह प्रयोगों की ओर मध्व की रुचि तो है ही नहीं साय ही शंकर के समान गद्य एवं पद्य का रूप न तो उतना प्रसन्न है और न ही प्राजल । प्रकरण ग्रन्थों की भाषा यद्यपि सरल है तो भी अस्पष्टता के कारण बिना टीका के सद्भासिक भाव हृदयगम करना कठिन है । डा० गर्मा के अनुसार भाषा के कारण ही मध्व के ग्रन्थों का भारतीय भाषा एवं विदेशी भाषा में अनुवाद नहीं हो सका ।^१ निस्सन्देह भाषा का प्रसार अथवा उपेक्षा में, महत्त्व अवश्य रहता है किन्तु उतना नहीं जितना डा० गर्मा ने उक्त दिया है । द्वैत के संस्थापक मध्व अवश्य हैं, किन्तु उनका व्याख्यान विषय प्रतिपादन की दृष्टि से, अपर्याप्त एवं अस्पष्ट है । अपूर्णता एवं संकेत मात्र दे देना मध्व की प्रवृत्ति है । प्रतिपादन को देखते हुए शंकर और रामानुज से वह पर्याप्त हीन कोटि का है । दार्शनिक मत के नाते द्वैत को प्रतिष्ठा वस्तुतः जयतीर्थ के प्रयासों से मिली । व्यासतीय ने इस ओर भी थोड़ा तात्विक घरातल पर स्थापित किया । अतः उपेक्षा के दो कारणों की ओर संकेत किया जा सकता है—भाषा तथा विषय का अपुष्ट प्रतिपादन ।

डा० गर्मा से असहमत होते हुए यह भी स्वीकार करना आवश्यक है कि भाष्यकार के रूप में मध्व अधिक प्रखर नहीं हैं । कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रसंगों की उपेक्षा की गई है जिसे परवर्ती टीकाकारों ने परिष्कृत किया । मध्व के असह्य उद्धरण भी संगोषकों के लिए समस्या हैं । इनके स्रोत का कहीं पता ही नहीं चलता । इसके कारण वष्य के प्रामाण्य पर ही शंका होने लगती है । प्राचीन आचार्य अप्य दीक्षित तथा आधुनिक विद्वान् मठारकर, वेत्वेत्कर तथा राघवेन्द्राचार आदि इसी प्रश्न को अनेकशः उठाते हैं । मध्व की भाषा में व्याकरण के सौष्ठव का भी अभाव है । कहीं कहीं तो अपाणिनीय प्रयोग भी मिलते हैं ।^२ मध्व ने अपने भाष्य ग्रन्थों की अस्पष्टता के कारण का स्वयं संकेत किया है ।^३ किन्तु 'यह भाष्य किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं

१ डा० बी० एन० के० गर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० ११०

२ अनुव्याख्यान १।४।८, २।२।१२

पतिना गृह्य जनयिता के लिए जनिता, समासात् प्रत्ययों का अप्रयोग जैसे आदिराजान आदि ।

३ ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।१

है।^१ घाट का यह कथन अविचारिताभिधान है।^२ दंगन के ग्रन्थों में तात्त्विक समीक्षा प्रमुख एवं भाषागत मौलिक गीण है। मध्व ने नूतन अथवा लुप्तप्राय विचार-क्रम का बीजारोपण किया है।

मध्व ने अपने जीवन काल में ही अष्टमठा की स्थापना कर दी थी।^३ सम्भवतः इनका प्रारम्भ कृष्णा पूजा के लिए हुआ था। किन्तु इतनी प्राथमिक व्यवस्था एवं स्वरूप के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। वैचारिक एवं आचारगत प्रचार की दृष्टि से मध्व ने स्वयं इस स्थान का अपने क्षेत्र के रूप में विकसित किया। इन मठों में द्रव्य मन के आचार्यों एवं साहित्य की सूचनाओं का व्यापक महत्त्व है।

मध्व के उपरांत इनकी परम्परा में ऋषिवेदांत की सम्प्रदाय पद्धति उत्प्रेक्षनीय है। इसमें मध्व के जीवन वक्त के साथ साथ उन सम्प्रदाय के आचार-व्यवहार सम्बन्धी विवचन भी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमाश्रमियों के विषय में महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है।^४

मध्व के अनुग्रह विष्णुगीत ने भी माता पिता की मृत्यु के उपरांत सहायता किया। उस सान्त्वित्य में महान् योगी के नाम से सम्बोधित किया गया है।^५ सत्यस्त व्यक्तियों के कृत्यों का निर्माण करने वाला चार अध्यायों का 'सहायसविधि' नामक पद्यात्मक ग्रन्थ विष्णुगीत ने लिखा। इनमें विष्णुभक्ति के अधिकारों का विवचन भी है।^६

प्रारम्भिक रचनाकारों की गणना में मध्व की अनुज्ञा कल्याणदेवी का नाम उल्लेखनीय है। उनमें कण्ठस्तोत्र, अणुवायुस्तुति तथा लघुतारतम्य स्तोत्र इन तीन ग्रन्थों की रचना थी।^७ परम्परानुसार त्रिविधम पठित की भगिनी कल्याणदेवी ने भी लघुवायुस्तुति नामक ग्रन्थ की रचना की।^८

त्रिविधम पठित का इनके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। मध्व विजय

- १ डा० बी० एन० के० गर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर भाग १ पृ० १६८
- २ मध्व विजय १४।१३१
- ३ सम्प्रदायपद्धति, १८
- ४ मध्व विजय १५।६१-६६
- ५ डा० बी० एन० के० गर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १ पृ० २७६
- ६ मध्व विजय, २।३५
- ७ स्तोत्र महोदधि, पृ० २४६-५०

नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के ललक नारायणाच्य का वह पिता था। बारहवीं सदी की समाप्ति के लगभग कुम्बल के नासक जयसिंह का यह पंडित मन्व के मत में, अद्वैत छोड़कर सम्मिलित हो गया। इसने मध्व के भाष्य पर तत्वप्रदीप नामक टीका लिखी।^१ उसके पुत्र ने मन्व विजय में त्रिविक्रम का जीवन चरित्र भी विस्तार से लिखा है।^२ त्रिविक्रम का अनुज शंकराचार्य मध्व का ग्रन्थालयाध्यक्ष था। उसीक द्वारा त्रिविक्रम का मन्व का साहित्य पत्रन का मिला। विष्णुमगलग्राम में मध्व से पराजित हान पर वह उनका अनुगत बन गया।^३ उसने युवावस्था के प्रारंभ में ही उपाहरण नामक नौ सर्गों का महाकाव्य लिखा।^४ उपाहरण महाकाव्य में गोमूत्रिका मुरजद-रंजित विनकाव्य श्लेष असकार मालिनी एव शादू लविक्रीडित छंदा का प्रयोग किया गया है। वहिमें काव्या की परम्परा में इसकी भी गणना की जा सकती है। पद्मनाभ के उपरान्त तत्वप्रदीप नामक दूसरी टीका त्रिविक्रम पंडित ने लिखी। भाषा पदाप्त आलंकारिक है। मध्व के सिद्धान्तों को उनके जय ग्रंथों का आधार पर प्रतिपादित किया है। शंकराय अथवा शंकराचार्य त्रिविक्रम पंडित के अनुज के द्वारा भी 'सम्बन्ध दीपिका' नामक ग्रंथ लिखा गया। किन्तु वह कोई अत्रि महत्त्वपूर्ण कृति नहीं है।

नारायण यतीन्द्र त्रिविक्रम का तीसरा पुत्र था। उसने त्रिविक्रम पंडित की वदना बड़ आदर से की है।^५ नारायण की रचयिता मध्व विजय नामक मध्व के चरित्र ग्रंथ पर आधारित है। मध्व के समकालीन होने के कारण अतिशयोक्ति छोड़कर अथ प्रसंग अपेक्षाकृत विश्वसनीय मान जा सकते हैं। जय पंडिता पर मन्व का विजय का अतिवादी चित्रण इसमें मिलना है। मन्व के शिष्या की गणना में निष्पक्ष

१ डा० बी० एन० के० शर्मा ए हिस्ट्री आफ द्वत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर भाग १ पृ० २००

२ मन्व विजय सग १३ एव १४

३ वही सग १४

४ डा० बी० एन० के० शर्मा लाइफ एंड वर्क आफ त्रिविक्रम पंडित—जनरल आफ अनामनाई यूनिवर्सिटी २१२

५ नारायण मध्वविजय (भावप्रकाशिका) अंतिम श्लोक—

त्रिविक्रमगुणनिधे सुनिष्या सुता ।

सतामभिमतास्त्रयो दस्तुतीयोऽत्र नारायण ॥

वही ११४

तमोमुत्तममवापलोकस्तत्वप्रतीपाकृति गोगणेन ।

यदस्य गीतागुभुवा गुरस्तास्त्रिविक्रमार्यान् प्रणमामि वयान् ॥

६ वही ११५ १७

होकर नारायण ने उनकी मदबुद्धि का भी उल्लेख किया है।^१ द्वैतमतानुसारिणी परम्परा इसे महाकाव्य मानती है। अत्यधिक सौष्टवपूर्ण भाषा एवं व्याकरणसम्मत दुन्दुभ्य पदरचना का इसमें प्रयोग है।^२ किंतु शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य की अनेक सविधानिक एवं शास्त्रीय ब्राध्यताएँ इसमें दृष्टिगोचर नहीं होती। अद्वैतमतानुयायियों की बहुत ही बड़ी शब्दाभ्युत्थान सम्बोधित किया गया है। अपशब्दा की इस परम्परा का श्रीगणेश मध्य न किया किंतु परवर्ती ग्रंथा में निम्नस्तरीय अपशब्दों का प्रयोग हुआ।^३ नारायण ने नगमग वीस श्रया की रचना की है। उनमें से चारह प्रकाशित हो चुके हैं। जय हस्तलिखित ग्रंथा के रूप में है। कृष्ण कबल उद्धरणों का माध्यम ही नव है।^४ विष्णुत्व निगम की टीका तत्त्वमजरी का जन्म जगत्पति तीर्थ न किया है।^५ अनुयायियों की योग्यद्विजा नामक टीका में नगम तथा त्रिवान्तरहित प्रसंगा का समावेश किया गया है। अनुमध्यविजय, भावप्रकाशित तथा प्रमयनवमालिका आदि ग्रंथ उसके द्वारा प्रणीत हैं।^६ भावप्रकाशित पतिहासिक तथा भगिनजरी द्वैत वेदान्त के पौराणिक उद्भव की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। शुभाश्व, पारिजातहरण काव्य एवं योगदीपिका उपासना-सम्बन्धी ग्रंथ हैं। इनके अनिर्दिष्ट भी बन्धुत्व भावपरक स्तुतियाँ प्राप्य हैं। नारायण के निम्न जयदा पुत्र न जगुभाष्य पर टिप्पणों की रचना की।^७

पद्मनाभतीर्थ (१३१८-२४)—प्राचीन टीकाकारों में पद्मनाभतीर्थ का स्थान स्मरणीय है। मध्यभाष्य पर सर्वप्रथम टीकाकार की प्रतिष्ठा इसी का प्राप्त है।

१ नारायण, मध्य विजय १।१।३६ १६७

२ वही १।१७ ३१ ३८

३ वादिराजनीय युविनवल्लिका, प्रथम सर्ग के प्रारम्भिक दशोक्त।

४ डा० श्री० एन० के० गर्गा, ए हिस्ट्री आफ् द्वैत स्कूल आफ् वेदान्त एण्ड इट्म लिटरेचर, भाग १, पृ० २८५

५ भावप्रदीपिका पृ० ३६

६ मद्रास ओरियण्टल लाइब्रेरी डिस्ट्रिक्टिव कटलाग २१।१२।४४

मुमध्वविजयाभिध व्यक्तिभावदीपाह्वयम्।

प्रमयनवमालिका पुनरिमा दशां च तापम्।

सता भवणभूषणा व्यननुत्तप नारायण ॥

७ आनन्दमाला भूमिका का इलाह—अन्यवेदान्ततन्त्रनातसारव्याख्याविष्टा रान्द्वि
भक्तिसिद्धान्तम्।

त्रिविक्रमार्थान्तरम गुरुमे नारायणार्थाच्च गुरुन नतोऽस्मि ॥

पद्मनाभ गोदावरी के तट पर उत्तरी कर्नाटक का निवासी था।^१ वह बहुत विद्वान् एव मध्व के वरिष्ठ शिष्या म से था।^२ लगभग पंद्रह हस्तलिखित ग्रन्था का उल्लेख मिलता है। जयतीथ के पूर्ववर्ती टीकाकारों म उसका महत्त्व स्पष्ट ही है। मध्व के दसा प्रकरण ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र भाष्य गीता भाष्य एव अनुयायमान पर उक्त आचार्य की टीनाएँ हैं। इनम से अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों के ही रूप म आग भी पड़ी हैं। मध्व क समकालीन टीकाकार होने के नाते नवीन मत के अस्पष्ट विचारों को तदनुसार समझने के लिए नितांत उपयुगी है। प्रक्रिया एव स्वरूप दोनों हा दृष्टि से जयतीथ पद्मनाभ के ऋणी हैं।^३ जयतीथ की विद्वत्ता क आवरण म उसका यत्नित्व तिराहित हो गया। यही कारण है कि उसके अधिक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सके।

नरहरितीथ—मध्वविजय मे उल्लेख न मिलने पर भी श्रीकुरम् तथा अय स्थलो के अभिलेखा से ज्ञात होता है कि वह भी मध्व का प्रत्यक्ष शिष्य था। किन्तु उनके जीवनवक्त के विषय म कोई जानकारी नहीं मिलती। नरहरिस्तोत्र म प्राप्त सकेत अविश्वास एव कपोलकल्पनाओं से घिर हुए हैं। क्या को सत्य न भी माना जाय तो भी कलिंग म उसका प्रभाव अभिलेखा के आचार पर स्पष्टतया सिद्ध है। पद्मनाभ तीथ के उपरान्त वही मठाधीश था। अनेक ग्रन्थों के उल्लेख तो मिले हैं किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ गीताभाष्य की भावप्रकाशिका नामक अनेक स्थानों पर राण्डित टाका ही है।

अक्षोभ्यतीथ—उस मध्व के प्रत्यक्ष शिष्यों म अतिम पीठाधिपति के रूप म द्वत परम्परा स्मरण करती है। साम्प्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार अद्वत वेदान्त के प्रमुख विचारक विचारण्य के साथ 'तरवमसि' इस महावाक्याय पर विचार हुआ था।^४ जयतीथ अपने आचार्य की दुर्वादिबिदारण क्षमता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है।^५ जयतीथ को द्वत-सम्प्रदाय का अनुगत बना देना अक्षोभ्य का महत्त्वपूर्ण कार्य था।

प्राचीन टीकाकारों के रूप म प्रसिद्ध ^१ यहाँ तक के विचारक मध्व के शिष्य

१ मध्वविजय १५।१२७ कर्नाटकोत्तरादेहि पद्मनाभमुनेरक्षी। गुहचर्या ४

२ मध्वविजय ६।१७ १६

३ जयतीथ 'यायमुधा १।४

४ सम्प्रदाय मे प्रचलित श्रुति

विचारण्यमहारण्यमक्षोभ्यमुनिरच्छिनत्।

५ भावप्रकाशिका ४

६ डा० बी० एन० के० गर्मा ए हिस्ट्री आफ द्वत स्कूल आफ वेदान्त एंड इटस लिटरेचर भाग १ पृ० ३२०

परम्परा में प्रत्यक्षन गृहीत हैं। वेदांत सम्प्रदायों के विभिन्न आचार्यों से, भिन्न परिस्थितियों में प्राप्त साहित्य का यथासंभव दृष्टि से मध्व ने उपयोग किया। इन समकालीन विचारकों ने उस पर विचार किया। उनके विचार की समुच्चिका यह प्रयत्न, परिमाण में उल्लेखनीय है किंतु योगदान में सामान्य है। व्याख्यानों में सुदृढ़ता एवं गम्भीर सूक्ष्म दृष्टि का अभाव है। परिणामतः अनेक प्रतिस्पर्धी मतों की तुलना में शास्त्रीयता का परिचय इनमें नहीं है। मध्व ने पूर्ववर्ती सम्पूर्ण साहित्य— उपनिषद्, पुराण तथा पंचरात्र आदि से स्वमतानुरोधी उल्लेखों का सक्लन किया है। वह भी सैदान्तिक दृष्टि से अप्रबुद्ध अथवा कहीं कहीं आत्मविरुद्ध है। ऐसे प्रसंगों में भाषा और भी अधिक नीरस तथा अस्पष्ट है। इन सम्पूर्ण अभावों को पूर्ववर्ती रचनाकारों द्वारा पूरा किया जाना अपेक्षित था। दिग्बिजया के उल्लेख करने वाले ग्रंथ अतिवादी होने के साथ ही, प्रभाव विषयक समाचार मात्र उपस्थित करते हैं। विविध मत तथा उक्तों के समान अर्थ टीकाकारों ने यद्यपि उपबृंहण प्रस्तुत किया है तथापि न तो वह इतना मौलिक ही है और न साम्प्रदायिक ही।

इन टीकाकारों के उपरान्त महत्त्वपूर्ण स्थान जयतीय का है। उसमें पूर्व द्वैत-वेदान्त की परम्परा में उसके समान विचक्षणता, पाण्डित्य एवं निष्ठा का अभाव है। जयतीय के मूल स्थान के विषय में पर्याप्त मतभेद है। गुरुवर्या के अनुसार वह वट्टिमेष्ट ग्राम का निवासी था।^१ व्यासतीय द्वारा लिखित अनुश्रवणीयविजय एवं बहुजयनीय विजय में जयमन्याय के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसका पिता का नाम रघुनाथ था। जयतीय का समय १२४७ में १२६८ ईस्वी है। अथास्य-तीय के सम्बन्ध में द्वैत मत ग्रहण किया।^२ कुछ विद्वानों का मत है कि पद्यनाम जयतीय के गुरु थे।^३ टीकाकार के रूप में उनका द्वैत परम्परा में नितांत स्पृहणीय स्थान है।^४ द्वैत मत के रूप त्रिमुनि में यह कामधुक है।^५ पूर्वाचार्यों के ग्रंथों को

१ डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इटियन फिलसफी, भाग ४, पृ० १२

'वट्टिमेष्टापिपो घोण्डो रघुनाथानिय प्रभु ।'

२ डा० बी० एन० के० दामो, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स इति-
नेचर, भाग १, पृ० ३२२

३ डा० एच० मत्सर्गन मध्वाच्य फिलसफी इन विष्णु ग्रीसेन पृ० ५२

४ व्यासामृत प्रारम्भिक दलित

'गुरुभाव व्यजयन्ती भानि श्री जयतीयवाच ।

जयतीयानुति, १

५ 'जयार्यो कामधुक् स्मृत ।' (साम्प्रदायिक अनुश्रुति)

नितांत श्रद्धा के साथ आत्मसात करके, अत्यधिक प्रौढता एवं विद्वत्ता के साथ जयतीथ ने ग्रन्था का निर्माण किया।^१ भारतीय चिंतन में तात्त्विक क्षमता की दृष्टि से वह अद्वितीय है।^२ अद्वैत के अनेक आचार्यों की विशेषताओं का समाहार जयतीथ में मिलता है। जयतीथ ने मध्व के प्रायः सभी ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। वादावली एवं प्रमाणलक्षणपद्धति^३ ये दो स्वतंत्र प्रकरण ग्रन्थ हैं।

जयतीथ के उपरांत अनेक आचार्यों ने विशेष रूप से अद्वैत के खण्डन के लिए ग्रन्थों का निर्माण किया। विष्णुदासाचार्य (१६०-१४४०) व्यासतीथ के पाचवें गुरु तथा राजेन्द्रतीथ के शिष्य थे।^४ उक्त प्रकार के सधर्मपरक खण्डनात्मक ग्रन्थों का सामान्यतः प्रारम्भ इन्हीं से होता है। वादरत्नावली की रचना विष्णुदासाचार्य ने की। व्यासतीथ का काल उक्त आचार्य में लगभग एक शताब्दी उपरांत है। जयतीथ के माय का अनुमरण करने वाले विचारणा में व्यासतीथ का स्थान बहुत ही महत्व का है। न्यायिक प्रक्रिया की तर्कोंपणा जयतीथ की अपेक्षा अधिक है। गणेश उपाध्याय द्वारा प्रचारित माय का व्यासतीथ ने पूर्ण उपयोग किया। इसके परिणामस्वरूप द्वैत एवं अद्वैत लेखकों के द्वारा परस्पर प्रतियोगिता साहित्य का विपुल निर्माण हुआ।^५ डा० दासगुप्ता का यह मत पूर्णरूपेण ग्राह्य है कि जयतीथ और व्यासतीथ की तात्त्विक क्षमता एवं प्रौढ पाण्डित्य अद्वैत एवं विनिष्ठाद्वैत विद्वानों में नहीं है।^६ इनकी सम्मानता में केवल हृषीकेश एवं चिन्मुख का ही ग्रहण हो सकता है। द्वैत साहित्य में व्यासराय व्यासतीथ व्यासस्वामी के नाम से प्रसिद्ध यह आचार्य ब्रह्मण्यतीथ का शिष्य था।^७ सोमनाथ द्वारा लिख गये व्यासयोगिचरित की उपलब्धि के पूर्व तक व्यासतीथ की पूर्ण जवहेलना की गई * इसके अतिरिक्त पुरंदरदास के गीत एवं अभिलेखों के आधार पर उसके जीवनवृत्त की स्थूल रूपरेखा बनाई जा सकती है। ईस्वी १४६० में यह मसूर राज्य के बन्नूर ग्राम में उत्पन्न हुआ।^८ चर्च

१ तीर्थप्रबन्ध ३ १८

२ डा० एस० एन० दासगुप्ता ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग ४, भूमिका पृ० २

३ डा० बी० एन० के० गर्मा जीनियोलॉजिकल टेबल ३

४ के० के० चतुर्वेदी पोलेमिकल लिटरेचर इन द्वैत वेदान्त, मालविका भाग १

५ डा० एस० एन० दासगुप्ता ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी भाग ३, पृ० १११

६ डा० बी० एन० के० गर्मा जीनियोलॉजिकल टेबल ३।

७ डा० बी० एन० के० गर्मा ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर भाग २ पृ० २४

८ सोमनाथ व्यासयोगिचरित पृ० १६४

पटन के ब्रह्मण्यनीय की वृषा से बलनण्य मुमनि की एक कथा तथा दी पुत्र हुए ।
 वमम सबम होते पुत्र का नाम यनिदास था । यही बाद म व्यासतीथ के नाम से
 प्रसिद्ध हुआ । अध्ययन के उपरान्त अपनी पूव प्रतिपातुगार ब्रह्मण्यनीय न दूसर पुत्र
 का ल लिया । १४३५ ३६ के अवाल में ब्रह्मण्यनीय की मृत्यु हुई । सम्भव है कि
 व्यास इस समय पीठारिषति हुए हा इसीसे उमके जम का नन् १४६० अनुमानित
 है । १ कि कु टस निधि का विषय म मतभद है । सभी दागतिक मता का अध्ययन
 काची एव श्रीपात राजमुलबागता के आश्रम म किया गया । कातवीष न जिस प्रकार
 दत्तत्रेय का पूजन किया वम ही चन्द्रगिरि के नरग न व्यासतीथ का सम्मान किया । ३
 अनुश्रुतियों के अनुसार तिष्ठपति की पहाडी पर श्रीनिजाम के पूजन का स्थापना करके
 उमका भार अपने अनुचरो पर ड़ाढकर लणिक की जोर गए । ४ पाद्वहत्रो सगी के मध्य
 म विजयनगर के शासक के जाध्यात्मिक निर्देश के रूप म बहा गए तथा जीवन के
 अन्तिम क्षणा तक वही रहे । ५ इस पद की प्राप्ति के लिए व्यासतीथ को वामत्रभट्ट
 के ननुत्व म गठित विद्वान्मण्डली से तीस दिवमाय विवाद करना पडा था । ६ तत्का
 लीन शासन वार नरसिंह तथा वृष्णदेवराय द्वारा भी उनको बहुत सम्मानित किया
 गया । सोमनाथ के अनुसार राय उमे अपने कुतदेव म कम नहीं मानता था । ७
 १४६ मे व्यासतीथ का बरकाड ग्राम दिया गया जिसका नाम बाद म व्यासममुद्र
 रगा गया । ८ माच १/३९ की व्यासतीथ की मृत्यु हुई ।

व्यासतीथ द्वत मन के बरिष्ठतम आचार्यों म हैं । जपतीथ के द्वारा प्रारम्भ
 की गई परम्परा को व्यासतीथन अपन प्रगाड पाण्डित्य से ममुञ्जल बनाया एव पाय
 की गैली मे मध्य विद्वान को पूण शास्त्रीयता प्रणा की । अनुक्त कथन व्यास की
 सफरता का आधार है । ९ अनुश्रुति उसे अक्षयिन् सम्मानास्पद एव बह्वधीत के रूप
 म मानती है । १० सोमनाथ ने वृष्णदेवराय के द्वारा व्यास के पूजा का मासिक वषण

-
- १ हा० बी० एन० के० शर्मा, ऐड्विंट्री आरु द्वत स्कूल आफ ब्यात एंड इन्स
 निटरेचर, भाग २, पृ० १२६
 २ श्रीवण्ट शास्त्री टाहलपमट आफ ससृत एड रिजयनगर, पृ० १७
 ३ सामनाथ, व्यासयोगिचरित, पृ० ६०
 ४ बी० बरोबाराक मध्व दु व्यास, पृ० १८
 ५ व्यासयोगिचरित पृ० ५४
 ६ वही, पृ० ६१
 ७ वही, पृ० ७१ ५
 ८ पायामृग, १।१ अनुननयनात्मनि मकनाञ्ज मम थम ।'
 ९ य तीव लण्यीन यानधीन लण्यधीतम् ।
 पापररिपणा गारणि विना नवीनव्याधेन ॥ शास्त्रगयिन अनुश्रुति ।

किया है।^१ कर्नाटक के अभिलेखाय साश्य भी उसकी महत्ता को पुष्ट करते हैं।^२ वस्तुतः इस मत के विकास में 'यास द्वितीय सस्थापक' के रूप में स्थित हैं। यहाँ से परस्पर खण्डन मण्डन के स्वतंत्र ग्रन्थों के लेखकों की परम्परा चली। 'यासतीथ न भ्यायामृत तात्पयचन्द्रिका तत्कताण्डव भेत्तोज्जीवन, मायावादखण्डन-दारमजरी प्रपचमिययात्वानुमान खण्डन-दारमजरी उपाधिखण्डनमन्तारमजरी तथा तत्त्वविवेक-मन्तारमजरी की रचना की।^३ द्वत परम्परा व्यासतीथ को 'चित्तमणि मानती' है।^४ यासतीथ का एक अर्थ खण्डनात्मक ग्रन्थ का सन्दर्भ अभी हाल में ही प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ का नाम सत्त्वविलास है। इस व्यासतीथ न मायावादखण्डनटीका मन्तारमजरी में सन्निहित किया है। इसका प्राप्ति किसी भी हस्तलिखित ग्रन्थागार में नहीं हुई। इसका मिलाकर इस लेखन की ग्रन्थ सरया नो हो जाती है।

विजयी द्वितीय—(१५३८-६५)—श्रीपादराजाष्टकम् के अनुसार विजयी द्वितीय तथा वादिराजतीथ दोनों ही यासतीथ के शिष्य थे।^५ परम्परानुसार इसने एक से चार ग्रन्थों की रचना की। किंतु हस्तलिखित एवं प्रकाशित रूप में केवल तीस ही उपलब्ध हैं। जड़न मत के प्रसिद्ध विद्वान् अप्पयदीक्षित का यह समकालीन था। अधिकांश समय वह कुम्भकोणम में रहा।^६ दस प्रकरणा के टीकाकार के रूप में रचात होने पर भी तत्त्वोद्योत एवं तत्त्वसंख्यान पर ही टिप्पणी मिलती है। सूत्र प्रस्थान में मन्व के ब्रह्मसूत्रभाष्य 'यासविवरण तथा अनुव्याख्या पर टिप्पणियाँ लिखी हैं। मन्व त्रयमजरी 'यायामृत की टीका लघु आमो' चन्द्रिका की टीका 'यायमौक्तिकमाला' ^७

१ सोमनाथ 'यामयोगिचरित' पृ० ७२

यावत्यो घनसम्पदो गुणगणो यावांश्च यावद्यगस्तावत्कतु मियय पूजनमसो श्रीव्यासभिक्षो न प ।

२ एपिग्राफिका कर्नाटिका

पुराणापुरूपध्यानपुण्यत्पुष्कलमूनय । मन्वाधायमन्ताम्भोजमातण्डायितमूतये ॥
ब्रह्मण्यतीथगिण्याय ब्रह्मनिमलमूतय । ध्यासतीथयनीद्राय विद्विदिनेवरेण्वे ॥

३ डा० वी० एन० के गर्ग ए हिस्ट्री ऑफ द्वत स्कूल आफ वदात भाग २, पृ० ५८

४ चि तामणिस्तु व्यासाः मुनित्रयो मुत्ताहृतम् । परम्परागतस्याति ।

५ ३।६

६ मैसूर जाफियालाजिकल रिपोर्ट

७ भेत्तविव्याधिनास पृ० २४

८ आर० नामराज गर्ग रत्न आफ रिगतिवम इन इडियन फिनासफी पृ० ३

प्रमाणपद्धतिग्रन्थाया, अधिहरणमाला चन्द्रिणीनाहृतयापविवरणम् अप्यवकपालच पटिका मन्वाध्वकणकोद्धार चक्रमीमामा याममुकुर, परतत्वप्रकाशिका यामसग्रह मिद्धा तसारासारविवक प्रथम तथा द्वितीय भाग, आनदतागन्यवादाय यामावदी पिका, श्रुनित्तात्पपकीमुनी उपमहरविजय नयपचक्रमाला वाग्देवरी नागयणराज्याय निवचनम्, प्रणवत्पगण्डनम् पिण्डपामोमामा^१ कुचोत्कुठार, अद्वतगिशा, युत्वय सार तथा वसवस्वखण्डनम् जादि प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राप्य है। दार्शनिक ग्रन्थों के अनि गिनत काव्यशास्त्रिक ग्रन्थों का भी प्रणवत् विजयोद्भ ने किया है।^२

व्यास के विरुद्ध मधुसूतनमरस्वनी ने अद्वत सिद्धि की रचना की। अद्वतसिद्धि का उत्तर ध्वसराभाषाय ने यामामृततरगिणी में किया। आनन्दट्टारक ने भी इसी परम्परा में वायसुभागवधनीपिका नामक ग्रन्थ लिखा। वनमार्तिमिश्र नामक प्रसिद्ध विद्वान् तरगिणी के विरोध में रचित ब्रह्मानन्द सरस्वनी की गुह- चन्द्रिका एवं लघुचन्द्रिका का खण्डन तरगिणी सौरभ एवं यामामृतमोक्ष व्य मे किया।^३ खण्डमार्त वेदांतसिद्धांतमुक्तावली, भक्तिरत्नाकार मन्वमुखालकार,^४ ज्ञानचरा भेदधिकार प्रमाणसग्रह अभिनवपरिमल तथा अद्वतमिद्धिखण्डन आदि ग्रन्थों का प्रणयन श्री वनमालि ने किया।^५

वादिराजतीर्थ (१६०० ईस्वी) — रामनीय के प्रत्यभ गिप्य होने के कारण महत्वपूर्ण है। वादिराज द्वारा रचिन लम्बी ग्रन्थ परम्परा सुनी जाती है। उपयाम रत्नमाला, तत्वप्रकाशिकागुवधनीपिका, यामसुभागवधनीपिका ईगोपनिषद्दिप्पणी गीताभाष्यदिप्पणी, एकीपचपादिका, विवरणरणम् पारणखण्डनम् युस्तिमल्लिका, यामरत्नावली मध्ववाग्यत्रावली, वृद्धवताश्रयान, श्रुनितत्वप्रकाश कल्पलता, लना- लकार, महाभारतात्ययनिणयपर भावप्रकाशिका ब्रह्मसूत्रनिवद्धाधिकरणनामावली, नैव लसमपणप्रकाश श्रीपादराजशतकम् वैकुण्ठवणनम् ह्यग्रीवपचक्रम्, वेगादिचतुर्विदानि मूलिलक्षस्तुति, त्रिक्रमस्तोत्र आपास्तोत्र, कृष्णस्तुति, श्रीशगुणपण, वकटगमाला- ष्टक, प्राथमादगाव रोप्यनीठपुरकृष्णस्तुति, प्रन्तावली, हरिभक्तिमार, स्तोत्रमाला वनसारसग्रह तथा दीनत्रयनिणयआदि ग्रन्थ वादिराज रचिन है। वादिराज के कवि

- १ आर० नागराज शर्मा, देन आफ रियलिज्म इन इण्डियन फिलासफी, पृ० २४
- २ मुभद्रा घनजय, समपग्रस्तराहुदयदा रपक तथा अप्य का विधमामासा के विरोध मे चिन्तीप्रामाण्यण्डनम्
- ३ बी० एन० शर्मा, 'ए हिम्नी आफ द्वैत स्कून आफ वगान एट इटस विटनेचन, भाग २, पृ० १५०
- ४ म० म० गोपीनाथ द्वारा सम्पादित
- ५ मन्वुखानराज की रचना सम्पादक म० म० गोपीनाथ रचित, पृ० १

मम व परिचायक रुक्मिणीविजय एव मरसभारतीविलास है। वात्सिराज का अर्थ लेखका की तुलना में विगिष्ट ग्रन्थ तीर्थप्रबन्ध है। मम जनक भारतीय तीर्थों का विवरणात्मक एवं शिवाजी के आधार पर वर्गीकृत वर्णन है।

द्वन्द्व के अहम्माय एवं परम्परागत ज्ञान के विद्वन्मय विचारात्क रूप म सत्यध्यानयति (१६४८-१६७४ ईस्वी) उत्तरवर्ती है। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर उमक द्वारा बारह ग्रन्थों की रचना की गई। सत्पन्नययिष्यणी अमनिय पर कम प्रकाशिता टीका, यासमुधा पर परशु नामक टीका किन्तु यह अप्राप्य है। अभिनवचरित्रका श्रृंगारप्रतिष्ठा अभिनवामृत अभिनवताण्डवविजयनामा तथा अप्पय दीक्षित के विरोध में लिखित अभिनवगदा।^१

अपने आपको नारायणभट्ट का विषय कहने वाले गौतमपूर्णादि चरित्रवित्नु का समय तथा जीयनी अज्ञात है। सात्रों के आधार पर उस सत्रहवीं सदी का माना जा सकता है।^२ इसका प्रमुख ग्रन्थ सत्यमुक्तावली अथवा मायायात्रागत रूपना है। इसने अनिरिक्त अर्थ अनेक टीकाकारों एवं ग्रन्थकारों की ध्यापक परम्परा में मम मत की श्रीवृद्धि की। प्रायः व सभी ग्रन्थ दृष्टलिखित पोषिया के रूप में ही गुरांति हैं।

वसाल का भक्तिपरक वर्णन सम्प्रदाय ध्यापक शास्त्रा म मध्व म प्रभावित था। यद्यपि चतयन मायास अद्वैतमतानुयायी सिक्कन म तिया ती भी उम परम्परा के तेषक बल्देव विद्याभूषण आदि की मायतागुमार अधिरय भेदाभेद का आधार मन्व चिन्तन ही है। इसीलिए इस माध्वगोडीय सम्प्रदाय भी कहा जाता है। किन्तु एस० के० ड तथा अर्थ वग विद्वान् मध्व व गिद्वान्ना से भिन्न सिद्धांतों को मानने के कारण इसे पृथक् मानते हैं। उनका अनुसार परवर्ती लेखका न स्वच्छा से गुण परम्परा का निर्माण करके मन्व से उसका सम्बन्ध स्थापित कर लिया। डा० गर्मा न वतिपय उद्धरणों एवं गुणपरम्परा के आधार पर चतय को मध्वानुगत माना है।^३ कुछ अज्ञान म यह मत भले ही सत्य हो किन्तु पूर्णरूपेण मध्वानुगत मानना उचित नहीं। विष्णुसर्वोत्कृष्टता तथा उसकी वृषा पर आधारित भक्ति मध्व के अतिरिक्त, अर्थ वदान्त म भी है। सम्भव है कि वहा स चतय ने उसे ग्रहण किया हो। सम्भव है कि उम भक्तिधारा की ओर किसी मध्व के मत व आचार्य ने उन्मुख किया हो

१ अभिनवगदा १।३

सदापय दीक्षितस्य भृवे दुरभिमानिन ।

पानयामि शिरस्यद्य गुर्विमभित्वा गदाम् ॥

२ डा० बी० एन० के० गर्मा ए हिस्ट्री आफ् द्वन्द्व शूत आफ् वदात एड इटस लिटरेचर भाग २ प० २७५

३ वही, पृ० ३३२

और उसे ही अतिशयता के साथ परवर्ती लेखका ने गुल्परम्परा के साथ सम्बद्ध कर दिया। महाराष्ट्र तथा अन्य भूमिगत न यह मत फाटा।^१

सन् १८३० के उपरान्त द्वैत वेदान्त के विकास में तत्काल युग का मूलपान हुआ। समाज-जमिंदार आधुनिक युग के द्वारा किया जा सकता है।^२ इस काल में अष्टादश शताब्दी विद्वानों का उद्भव हुआ। आठवीं शताब्दी के अन्तिम, काशीनिम्नमण्डल का हुजुगी श्रीमध पत्याचार्य आनेप्याचार्य, काशी ग्याचार्य भागवत सामण्यचार्य तथा आतारा राधक प्याचार्य जन्म विख्यात आचार्य हैं।

वर्तमान शती के प्रारम्भ में नई जिज्ञाशीलता के अनुसार द्वैतमत ने नया रूप बदला। निरपत्ति में १८७० ईस्वी में श्रीमध्वसिद्धांत उन्नाहिनी समाज की स्थापना हुई। किन्तु उसके मर्यादा के परस्पर मतभेद के कारण वह समाप्त हो गई। कुम्भ कोणम के टी० आर० कृष्णमाचार्य ने द्वैत वेदान्त के प्रकाशन का कार्य किया। सुब्बा राव ने ब्रह्मसूत्रभाष्य तथा गीताभाष्य का प्रथम आख्यानवाद किया। पद्मनाभाचार्य ने आत्मभाषी तथा कानड भाषा में आठ एण्ड टीविंग आफ मध्व की रचना की। इन्हीं के परिणामस्वरूप रत्नसर्प ने 'मध्वराज फिलासफी डेस डिप्लोमलावेन (लिपिजिग १९२३) प्रकाशित हुआ। श्रीकृष्णराव की 'श्रीमध्वराज आठ एण्ड टीविंग (१९२६ ईस्वी) शोध रचना प्रकाशित हुई। १९२६ ईस्वी में मध्वमुनि सेवा मठ की स्थापना हुई। आर० नागराज शर्मा ने रत्नसर्प रिपब्लिशिंग इन इण्डियन फिलासफी (१९३७, मद्रास विश्वविद्यालय) प्रकाशित की। आर० नागराज शर्मा ने ही अन्य पुस्तक 'श्रीमध्व आठ एण्ड टीविंग सुब्बा की रचना की जो अभी तक अप्रकाशित है। डा० एन० एन० गणगुप्ता ने 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी' के चौथे भाग में मध्वमत की प्रामाणिक विवेचना प्रस्तुत की। एन० एन० राधकेंद्राचार ने द्वैत फिलासफी एण्ड इट्स प्लेस इन वेदान्त (१९४१, मद्रास) की रचना की। पी० नागराजराव ने 'आत्म बली का अनुवाद तथा प्रामाणपद्धति पर आधारित 'एविट्यानाजी आफ मध्व की रचना की। 'नेशनल सेन्टर आफ साइंटिफिक रिसर्च, मान' ने अनुव्याख्यान का फल अनुवाद प्रकाशित किया। भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित 'मध्वराज टीविंग इन हिज ओन वाड्स' तथा 'ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर' दो भागों में डा० बी० एन० के० शर्मा ने लिखा। द्वैत सिद्धान्त कार्यालय, पूना तथा मध्व महामण्डल बंगलौर, प्रचार एव प्रकाशन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ

१ मध्वविजय, १०।४

शानेद्वारी, १।१५ १।१७, १।१११ ४६, १।१।७०१, २।३५७ ६

२ डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर भाग २, पृ० ३४५

प्राप्त कर रहे हैं। अनन्तकृष्णशास्त्री के नवनिर्मित संस्कृत ग्रन्थ के विराट् ३३ अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। डा० ए० के० नारायण न आउट लाइन आफ मध्य पिता सफी' की रचना की।

द्वैतात्मक चिन्ता की इस व्यापक एवं निरन्तर विकसनशील परम्परा का स्वरूप भारतीय दर्शन के इतिहासकारों द्वारा प्रायः उपक्षिप्त रहा। दक्षिण भारत के जन-जीवन पर आज भी इसका बहुत गम्भीर प्रभाव है। उक्त उल्लेख उस विस्तृत ग्रन्थराशि की ओर संकेत मात्र ही हो सकते हैं। यथायथा ही दृष्टि के परिपापकों इस मत का ऐतिहासिक मूल्यांकन अभी अपक्षिप्त है।

तृतीय अध्याय द्वैत-वेदान्त में पदार्थ-विवेचन

तत्त्व की अनेक परिभाषाएँ विभिन्न शास्त्रकारों ने उल्लिखित की हैं। माध्य-मिककारिका के अनुसार—निर्विकल्प प्रपञ्चा से अप्रसञ्चित, अनेकाक्षरहित एव ज्ञान यह आर्यों के निमित्त, तत्त्व का लक्षण है एव लौकिक दृष्टि से जानने के उपरांत भी, वह वही नहीं रहता जो जाना गया है उससे भिन्न भी नहीं रहता, न उच्छिन्न है न शाश्वत उसी को तत्त्व कहेंगे।^१ माध्यमिककारिकाकार की उक्त परिभाषा बोद्ध दृष्टि से सवलित है।

पायभाष्यकार ने तत्त्व क्या है ? इसके उत्तर में व्यक्त किया कि, 'सत् का सत् मात्र होना एव असत् का असत् मात्र होना ही तत्त्व है। अर्थात् जो जैसा है, उस उसी रूप में ग्रहण करना तत्त्व है।'^२

अथ जिस रूप में अवस्थित है उसमें ही अवस्थित रहकर जो तथा भूत प्रत्यय का निमित्त बनता है, वह तत्त्व है।^३

शंकर के अनुसार, 'द्रव्य का अविकृत होना ही तत्त्व है, क्योंकि उसमें दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती। विकार तत्त्व नहीं होना, क्योंकि उसके लिए अपरसहयोग अपक्षित है।'^४

'जो अथ जिस रूप में स्थित है उनका वसा होना तत्त्व है।'^५

अमरकोशकार ने 'तत्त्व' को 'ब्रह्म और यथाय का पर्याय माना है। (तत्त्व ब्रह्मणि याथायर्थे।)
जयतीय ने 'स्वरूप, प्रतिनि एव प्रकृति तीना प्रकार की सत्ता से अथ का

१ माध्यमिककारिका—१८।११ १०

२ 'पायभाष्य १।१।१

३ 'पायवातिक १।१।१

४ शंकर—द्रव्यस्य हि तत्त्वमविक्रिया, परानपेक्षत्वात्। विक्रिया न तत्त्व परापेक्षत्वात्।' तत्ति० उप० भा० पृष्ठ ३८१

५ 'यो यो यथावन्वितस्तथा तस्य भजनमित्यथ।' तत्त्वापराजवातिक १-२ ५

युक्त होगा, तत्त्व माना है।^१

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि 'तत्त्व' की परिभाषा में विचारका में यत्किञ्चित् अन्तर अवश्य है। यह अन्तर उनकी दार्शनिक मायता के स्थापन के परिणामस्वरूप है। फिर भी 'यथायता' के पर्याय के रूप में, सामान्य रूप से, सभी चितका ने तत्त्व पद के अर्थ का ग्रहण किया है। जयतीथ ने स्वरूप, ज्ञान एवं ध्यापार को लक्ष्य करके यथायता को और अधिक स्पष्ट किया है। सत्ता का उक्त प्रविचय के आधार पर होना अपेक्षित है किन्तु वह अनारोपित अवश्य होना चाहिए। किसी प्रकार का आरोप वस्तु की सत्ता को तिरोहित कर देता है। वही तथ्य पूर्वोक्त 'यायभाष्यकार का परिभाषा से भी उपलभ्य है।

मन्व की परिभाषा तत्त्वम् अनारोपितम्^२ से प्रश्न उठा कि क्या केवल सत्ता तत्त्व है? अथवा सत्ता का ज्ञान तत्त्व है? अथवा काल और आकाश में स्थित रहना तत्त्व है? अथवा प्रत्यक्ष काल और सम्पूर्ण आकाश में रहना तत्त्व है? जो है वह सभी वास्तव हो यह सम्भव नहीं। अतः मात्र 'रहना' तत्त्व की परिभाषा नहीं हो सकती। यदि यही ग्रहण किया गया तो फिर भ्रम की स्थिति ही नहीं रहेगी। इस अनादि सत्ता में प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण से प्राप्त होनेवाले ज्ञानों में भ्रान्ति और वास्तविकता दोनों ही प्राप्त होते हैं।^३ आभासमात्र वस्तुता नहीं है। सत्ता किसी विशेष काल एवं देश से सम्बन्धित स्थिति पर भी आधारित हो सकती है। यह आवश्यक नहीं कि सत्ता के लिए सर्वेशकालसम्बन्धित हो।

तत्त्व के निणय के निमित्त अथक्रियाकारित्व भी एक आधार है। काल्पनिक रजत से कोई भी पात्रादि का निर्माण नहीं कर सकता। सप के भ्रम के प्रसंग में, जहाँ भ्रमादि की प्रतीति हो रही है,^४ वहाँ सत्ता का भाग अवश्य है क्योंकि उसमें अथक्रियाकारित्व है। उस भ्रम में रज्जु भय का कारण नहीं है अपितु सपप्रतीति ही भय का हेतु है और वह सत् है यह दूसरी बात है कि उसे यहाँ भ्रमवशात् ग्रहण कर लिया गया है।

तत्त्व नहीं बोद्धा के अनुसार केवल क्षणिक है और न अद्वैत वेदांतियों के अनुसार शाश्वतिक रूप में नित्य तथा देशत एव कालत अव्याहृत हो।^५ कोई वस्तु

- १ जयतीथ—स्वरूपप्रभितिप्रवृत्तिलक्षणा सत्ता त्रिविध्यम्।^१ तत्त्वसत्यानटीना, पृष्ठ १
- २ मन्व—तत्त्वसम्मान, पृष्ठ १
- ३ जयतीथ—अनादौ च ससारे शि प्रयतिग शब्द ज येपु जानेपु द्वयो गतिमनुसदधत्।
यायमुधा पृष्ठ २१८
- ४ जयतीथ—तज्ज्ञानस्यैव भयकम्पान्निजनक्त्वात्।^१ वादावती, पृष्ठ ४६
- ५ वही—न हि सत्ता सकलदेशकालसत्ता भवित्तयमिति नियामकमस्ति।
यायमुधा पृष्ठ २१७

द्वैत वेदांत में पदार्थ विवेचन

कालत देशत सीमित होने पर भी तत्त्व हो सकती है। तत्त्व होने के लिए त्रिकालगत नियेष का अभाव होना चाहिए। किसी वस्तु का विनाश उसकी सत्ता का बाध नहीं है अपितु त्रिकालिक दृष्टि से किसी वस्तु की सत्ता के नियेष को बाध कहा जा सकता है। यदि किसी एक काल में ही किसी वस्तु की सत्ता प्राप्त है तो फिर उसे अस्तव-प्राप्त सहकृत इसी पारणा को स्वीकार किया है, कि यदि वस्तु किसी देशकाल से सम्बन्धित है, तो उसे सत्त्व मान लेना चाहिए, भले ही पूर्वापरवर्ती काल में एक अन्य उसकी स्थिति न हो। शकर के द्वारा ग्रहीत व्यावहारिक सत्ता प्रातिभासिक सत्ता तथा पारमार्थिक सत्ता आदि-सनागत भेद व्यर्थ हैं। सत्ता सदैव पारमार्थिक ही होगी। वस्तु या तो होगी ही नहीं अथवा होगी। यह सम्भव नहीं है, कि कोई तत्त्व व्यवहारतः सत् हो किन्तु परमायत असत् हो। अतः मध्व मिथ्यात्व को पूणतः अस्वीकार करते हैं।

'तत्त्व' की उक्त स्वरूप के ग्रहणोपरान्त 'सत्ता' गत श्रेष्ठता आदि के क्रम का भी विवेचन अपेक्षित है। जगत्, जीव आदि सभी तत्वों में एक ऐसे तत्व का आकलन अनिवार्य है जो इन सबका आधार हो, स्वतंत्र हो तथा अन्य सभी जिसके अधीन हो। इस तत्व का निर्धारण इसलिए भी आवश्यक है कि इनके न मानने पर जगत् में प्राप्त व्यवस्था का समाधान क्या होगा? मध्व ने इस 'तत्व' को हृदया से प्रतिपादित किया है।^२

सत्ता का सर्वोत्तम रूप सनातन है। यह क्रिया एक जैन्य दोनो आचारा पर होना चाहिए। इसी तथ्य की सर्वोत्कृष्टता को 'उक्त' करने के लिए पराधीन तत्व को असत् भी कह दिया जाता है।^३ जयतीय के मत से स्वरूप, प्रमिति एवं प्रवृत्ति गत सत्ता के लिए पराधीन न होना स्वतंत्रत्व है। स्वतंत्र 'तत्व' की मायना अन्य दार्शनिक मतों में भी स्वीकार की है कि तु ईश्वर को स्वतंत्र तत्व का स्थानापन्न अथ मतो न ग्रहण नहीं किया। शकर का अद्वय ब्रह्म, जयतीय की उक्त परिभाषा के अनुसार स्वतंत्र तत्व के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। विशिष्टद्वैत में भी विनिष्टरूप ब्रह्म में भी परानपेक्षत्व नहीं है। परानपेक्षत्व के लिए पर का तथा

१ जयतीय—'हिं विनाशो बाध अपितु कालत्रयसत्तानियेष । न एकस्मिन्काले सत स सम्भवति ।' वि० तत्वविनि० टीका, पृष्ठ ६५

२ मध्व—'यस्तिष्ठत हृदयेते वस्तु सस्थान तदुदीरितम् । समय हृदिरेवास्य जगतो मुनिपुंगव ॥' भा० ता०, पृष्ठ १३

३ वही—'वस्तु स्वतंत्रमुद्दिष्टमस्वतंत्रमवस्तु च । स्वाधीन सदिति प्रोक्त पराधीनमसत् स्मृतम् ।' भा० ता०, पृष्ठ १०८

उसकी अपेक्षा का अभाव होना आवश्यक है।

ईश्वर का 'स्वतन्त्रत्व' 'सर्वदोषविनिमुक्तत्व' भास्कर, यादवप्रकाश एवं निम्बाक आदि आचार्यों के द्वारा भी स्वीकृत है। ब्रह्म के परिणामी रूप एवं प्रक्रिया में उनमें अंतर अवश्य है किन्तु ब्रह्म की 'स्वतन्त्र स्थिति' उनको मान्य है। ईश्वर पूर्ण है। 'तत्त्व' परिगणन के पूर्व स्पष्ट रूप से उनका स्वरूप विषयक-बोध रहना चाहिए। उसी रूप में उनको जानना श्रेयस्कर है।^१

द्वैत विचारका ने तत्वों को दस पदार्थों के वर्गों में वर्गीकृत किया है। वे—

- (१) द्रव्य
- (२) गुण
- (३) कम
- (४) सामान्य
- (५) विशेष
- (६) विशिष्ट
- (७) अक्षि
- (८) शक्ति
- (९) सादृश्य एवं
- (१०) अभाव

इनमें से द्रव्य गुण कम सामान्य विशेष एवं अभाव आद्यवशेषिक मत में भी स्वीकृत हैं। वे समवाय को मिलाकर सात पदार्थ मानते हैं जबकि मध्य मत में समवाय न लेकर अय चार वर्गों के समायोजन से पदार्थों की सत्या दस है।

(१) द्रव्य— गुण और क्रिया का आश्रय द्रव्य यह आद्यवशेषिक की परिभाषा प्रायः सर्वतोप्रहीत है। इसके अतिरिक्त द्वैत विचारक द्रव्य के दो आवतक घम मानते हैं एक तो द्रव्य का उपादान कारण के रूप में होना, दूसरा परिणाम एवं अभिव्यक्ति^२ का होना। यह दो घम जिस तत्व में ही उसे द्रव्य कहा जाता चाहिए। द्रव्य में उपादानत्व अवश्य होना चाहिए। जसा कि प्रकृति में हैं। द्रव्य की अभिव्यक्ति होना भी आवश्यक है उदाहरणतः ईश्वर एवं जीव। इन दो रूपों में (परिणाम एवं अभिव्यक्ति), जिसका परिवर्तन ही वह द्रव्य है। मध्य मत में अभिव्यक्ति के आश्रय

१ जयतीर्थ—'परतन्त्रप्रमेय हि स्वतन्त्रायत्तया विदित नि श्रेयसाय भवति। अन्यथा गमावालुकापरिगणनवदिदं तत्त्व-सत्यानमपायकं स्यात्।

तत्त्वसत्यान-टीका पृष्ठ ५

२ पद्यनाम—उपादान—परिणामो अभिव्यक्तिश्चेद्विधम्।'

इत वेदांत में पदाथ विवेचन

को भी उपादान के अंतगत ही ग्रहण किया गया है, अत उपादानत्व जिस तत्व में हो, वह द्रव्य है।

पदाथ सग्रह के अनुसार द्रव्य बीस (२०) प्रकार के हैं।

- (१) इन्द्र
- (२) लक्ष्मी
- (३) जीव
- (४) अयाहताकाश
- (५) प्रकृति
- (६) गुणमय
- (७) महान्
- (८) अहकार
- (९) बुद्धि
- (१०) मन
- (११) इंद्रिय
- (१२) तन्मात्राएँ
- (१३) भूत
- (१४) ब्रह्माण्ड
- (१५) अविद्या
- (१६) वण
- (१७) तम
- (१८) वामना
- (१९) काल
- (२०) प्रतिबिम्ब

(१) इन्द्र—स्वतंत्र और अस्वतंत्र दो प्रकार के तत्व तत्व सत्थान' में वर्णित है। स्वतंत्र' तत्व भगवान् विष्णु तथा अथ सभी परतंत्र हैं।^१ वह सभी प्रकार के दोषों में रहित है। सभी प्रकार के अनंतगुणों से परिपूर्ण है। अथ सभी द्रव्यों के गुण सीमित हैं किंतु ईश्वर के असीमित गुण हैं। वह सबव्यापी है। जीव एवं जड म भिन्न है।^२ वह जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय का कारण है। ज्ञान अज्ञान, बंध एवं मोक्षान्ति उसी के अधीन हैं। वह पूण नित्य तथा मान एवं आनन्द

१ मध्य—'स्वतंत्रमस्वतंत्र च विविध तत्वमिदमे। स्वतंत्रो भगवाविष्णुः ।'
तत्व० सं० पृ० १

२ पद्यनाम—पदाथमग्रह, पृष्ठ ७० ७४

से आपूरित है। ईश्वर आनन्द एव पान की नित्य एव अविनाशि आकृति से युक्त है।

(२) लक्ष्मी—यह तत्व भी कथत ईश्वर के जाधीन है अथ सभी तत्वों से स्वतन्त्र एव ईश्वर से नित्य रूप से सम्बद्ध है। यह ईश्वर के ही समान नित्य एव ब्रह्मादि से मुक्त है। उसका कोई भौतिक आकार नहीं है। ईश्वर इसी के माध्यम से जगत् को उत्पन्न स्थित एव विलीन करत है। द्वत मत में लक्ष्मी के स्वरूप की सिद्धि के लिए कोई विशेष यत्न नहीं किया गया है। केवल श्रुति के आधार पर उसकी मायता को ग्रहण कर लिया है।

(३) जीव—प्रत्येक जीवित आकार में चतय के वेद को जीव कहा गया है। पान और चतय-युक्त होने पर भी उसकी विशेषताएँ सीमित हैं। वह अज्ञान मोह भय एव दुःख का भी आश्रय है। पंच महाभूता से निर्मित आकार के संयोग के कारण वह ध्वंस का विषय है। द्वत मत में सभी जीवों यहाँ तक कि ब्रह्मा को भी पांचभौतिक आकार ग्रहण करना पड़ता है। आकार एवं मानसिक विशेषताओं, अज्ञान वासनादि के कारण वह दुःख पूर्ण ससार में आवद्ध है।

जीवों के तीन प्रकार हैं।^१ मुक्ति योग्य नित्य ससारा एव तमोयोग्य। प्रथम वर्ग में देव ऋषि तथा अन्य सभी जीव हैं जो जागतिव मुख दुःख से परे हैं। दूसरे वर्ग के जीव ससार से आवद्ध हैं। तीसरे वर्ग के जीवों में राक्षस पिशाचादि का ग्रहण है। तमोगुण के कारण वे अपनी स्थिति से ऊपर उठ ही नहीं सकते। इस प्रकार के जीवों की मायता केवल इसी सम्प्रदाय में ग्रहण की गई है।

(४) अशकृत आकाश—यह दिव्य रूप है।^२ यह अविनश्वर सर्वतोव्याप्त तथा सृष्टि एव प्रलयवस्था में अपरिवर्तनीय है। अपरिवर्तनीय होने के कारण ही इस अशकृत कहा गया है। सातिन के द्वारा हुए भान के आधार पर ही उसका सत्ता है। यदि जाफाश न माता जाय तो विश्व की सम्पूर्ण वस्तुएँ सम्बन्धभाव की स्थिति में रहेंगी। किसके उत्तर में दक्षिण में कीन है? यह धाघ ही नहीं रहेगा।^३ भूताकाश से यह अशकृताकाश भिन्न है। भूताकाश अहकार के तम रूप से उद्भूत होता है।

(५) प्रकृति—साक्षान् अथवा परम्परा से जो तत्त्व सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है वह प्रकृति है।^४ विश्वोत्सृष्टि की इच्छा वाले ईश्वर के कारण यह रूप परिवर्तन करती है। इसकी प्रथम सृष्टि वात है तथा त्रिगुण महत् अहकारादि भी इसी से उत्पन्न होते हैं। वात एव गुण त्रय की यह प्रत्यक्षत उपादान कारण है एव

१ पद्मनाभ—पद्मसप्तमह, पृष्ठ ७६

२ अत्र दिग्ब्रह्मवमव्याकृतानागत्य नश्यन्म्। मानसिद्धा तसार पृष्ठ ८०

३ पद्मनाभ—पद्मसप्तमह पृष्ठ ६४

४ वही —साक्षात्परम्परय वा निर्वोपादनम् प्रकृति। पृष्ठ ६३

द्वत वेदात् मे पशय विवेचन

महत्, अहंकार तथा सम्पूर्ण जगत् के प्रति उसका उपादानत्व परम्परया है। जगत् के उपादान होने के कारण ही इसे जड कहा गया है। यह नित्य एव सब व्यापी है। नित्य इस अर्थ में है कि परिणामा के उपरांत भी वह कभी नष्ट नहीं होती। जैसे मिट्टी के सारे पात्रों में मिट्टी ही व्याप्त है उसी प्रकार सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों में प्रकृति की व्यापकता है। यह परिणामी तत्त्व है।^१ प्रकृति के साक्ष्य सम्मत एव म च स्वीकृत रूप में अन्तर है। साक्ष्य में तीनों गुण, तीन धामों के समान, परस्पर भिन्नकर प्रकृति रूप होते हैं। किंतु मध्व मत में तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। तीनों गुण उसका अवयव न होकर काय हैं, प्रकृति इनका उपादान कारण है।

(८) गुणत्रय—सत्, रज एव तम इन तीनों गुणों के समुच्चय को त्रिगुण अथवा गुणत्रय कहा जाता है। यह प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। ईश्वर ने जगत् की सृष्टि के निमित्त इनकी उत्पन्न किया। यही महत् अहंकार तथा जगत् आदि के उपादानत्वेन स्थित हैं। सबसे पहले गुड सत्व गुण का प्रकृति ने उत्पन्न किया। इसके उपरांत रज एव तम् उत्पन्न हुए। सत्व एव तमोगुण के सम्मिलन से रजोगुण की निर्मिति हुई।^२ सृष्टि में यह तीनों गुण प्रकृति से निर्मिति होते हैं प्रलय में इसी अविलीन हो जाते हैं।^३

(७) महत्—महत् के उपादान कारण त्रिगुण है।^३ सतोगुण के दस भाग रज एव तमोगुण के एक एक भाग मिलकर महत् की सृष्टि करते हैं। प्रलयावस्था में इसी अनुपात में महत् तीनों गुणों में विलीन हो जाता है।

(८) अहंकार—महत् के तम भाग से अहंकार की सृष्टि है।^४ इसमें सत् रज एव तमो गुण का अनुपात १० १ ११० है। अहंकार के तीन प्रकार हैं—व्यकारिक, सैजस एव तामस।

(९) बुद्धि—अहंकार भी बुद्धि के समान ही महत् से प्रादुर्भूत है। इसमें सत् रज एव तमो गुण का अनुपात १० १ ११० है। अहंकार के तीन प्रकार हैं—व्यकारिक, सैजस एव तामस।

(१०) मनम्—बुद्धि के समान मन भी द्रव्य एव इन्द्रिय रूप द्विविध है।^५ द्रव्य रूप मन व्यकारिक अहंकार से उत्पन्न है। इसमें भिन्न मन एक इन्द्रिय के समान है। यह नित्य और अनित्य दोनों स्थिति से युक्त है। इसका नित्य रूप साक्षि होना है।^६ यही जीव का वास्तविक रूप है। अनित्य रूप जीव के स्वरूप का बाह्य रूप

१ मध्वसिद्धांतसार—प्रकृति अध्याय।

२ वही —त्रिगुणाध्याय।

३ पशयसप्रह, पृष्ठ १०५

४ वही —पृष्ठ १०८

५ वही —पृष्ठ ११५

६ वही —पृष्ठ, ११८

है। मन के नित्य और अनित्य रूपों का अंतर यही है कि नित्य रूप मन जीव का मूलस्वरूप है अनित्य रूप उससे बाह्य है। मन बुद्धि, अहंकार, चित्त एवं चेतन यह अनित्य मन के पांच प्रकार हैं। मन का काम सकल्प विकल्प करना है।^१ बुद्धि निश्चय का, अहंकार कर्तृत्व बोध का चित्त स्मृति का कारण है। चेतन चित्त तत्व का वह भाग है, जो क्रिया की शक्ति रूप में अभिव्यक्त होता है।

मध्व का अहंकार बुद्धि एवं मन (द्रव्यरूप) का स्वरूप अयं मता से भिन्न है। यह प्रकृति की मृष्टि की विवक्षित स्थितियाँ हैं।

(११) इन्द्रिय—अपने अपने विषय के प्रतिप्रवाहित होने की शक्ति से सम्पन्न द्रव्य को इन्द्रिय कहना चाहिए।^२ इन्द्रियों का त्रिविध वर्गीकरण प्राप्य है। द्रव्य-अद्रव्य रूप इन्द्रियाः चानेन्द्रिय एव कर्मेन्द्रिय नित्य तथा अनित्य। कर्मेन्द्रिय एव ज्ञानेन्द्रिय द्रव्यरूप हैं तथा अनित्य हैं। वे तजस अहंकार से उत्पन्न हैं। जीव का स्वरूपभूत साक्षि ही नित्य इन्द्रिय है। यह भी द्रव्य रूप है। इसके अतिरिक्त ईश्वर सम्भो तथा मुक्तात्मा आ की इन्द्रियाः नित्य हैं।

(१२) तन्मात्राएँ—जा इन्द्रिय का विषय हो उसे मात्रा कहते हैं। ये तन्मात्राएँ रूप रस एवं गन्ध के रूप में पांच प्रकार की हैं। मनस आदि के समान द्रव्य एव अद्रव्य में यह भी वर्गीकृत हो सकती है। तामस अहंकार से उत्पन्न तन्मात्राएँ द्रव्य रूप हैं। गुणरूप मात्राएँ आकाश वायु अग्नि जल एवं पृथ्वी के गुणरूप स्पर्श रूप, रस एवं गन्ध हैं।

(१३) भूत—भूत अयं मता के समान पांच ही हैं। ये आकाश वायु तेज आप एवं पृथ्वी हैं। तन्मात्रा आ के माध्यम से यह तामस अहंकार से उत्पन्न हुआ है।

(१४) ब्रह्माण्ड—वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है जिसमें सारे तत्व परस्पर सम्बद्ध हैं। यद्यपि सभी द्रव्यों का सम्मिलित रूप ब्रह्माण्ड हो सकता है तो भी मध्व ने इसे पृथक् द्रव्य के रूप में ग्रहण किया है। पृथक् रूप में ग्रहण करने के समर्थन में तर्क दे हुए कहा गया कि, यकिन्यों की पृथक् पृथक् स्थिति से उनकी सामूहिकता भव्या भिन्न है।

(१५) अविद्या—जीव में अविद्या नित्य रूप में स्थित है। मृष्टि के काल में ब्रह्म अविद्या को अपने शरीर में उत्पन्न करता है। इस स्थूल अविद्या का उपादान कारण पांच भूता में स्थित तम है। अविद्या की मोह महामोह तामिस्र अचाना-

१ पद थ सप्रह पृष्ठ ११६

२ स्वस्वविषयद्रव्यशक्तिमत्त्वम् इन्द्रियलक्षणम्।

मध्वसिद्धान्तसार इन्द्रिय प्रकरणम्।

३ मध्वसिद्धान्तसार पृष्ठ ५२

मिथ्य एव तत्र य पाच स्थितिर्मां है। एक अय वर्णिकरण के अनुसार उसके चार प्रकार हैं। जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, चाँवला एव माया।^१

(१६) वण—ध्वनिमा भी द्वैत मत म द्रव्य के रूप में स्वीकृत हैं। वण सब व्यापी, अनादि नित्य एव ५१ प्रकार के हैं।^२ उनके सयोग से बहिर लौकिकादि सभी प्रकार के शब्द बनते हैं। द्वैत का यह व्याख्यान मोक्षा एव व्याकरण के अनुकूल है, किन्तु 'याय-वर्णिक' के वण के स्वरूप को मध्व न ग्रहण नहीं किया।^३ वण द्रव्य है, व्यापक होने के कारण आकाश के समान।^४ व्यापकता एव गुण है। वण उसका आश्रय है। अतः वण को द्रव्य मानना चाहिए।

(१७) तम—अक्षर भी एक द्रव्य है। इसको द्रव्य के रूप में ग्रहण करने का हस्तु अनुभव है। कान अथवा नीते वण का सवतो-व्याप्त अक्षर अनुभववेध होता है। वह भ्रम नहीं है, क्योंकि उसका बाध नहीं होता। इस प्रकार अक्षर में गुण (कृष्णात्) क्रियात् (गतिगीत होना) पाय जान है। अतः यह द्रव्य है। याय अक्षर को प्रकाश का अभावमात्र मानता है किन्तु पिप्पु के द्वारा अक्षर का विनाश का उल्लेख तथा जयद्रथ वध के लिए अक्षर को कृष्ण द्वारा उत्पन्न किए जाने सम्बन्धी उद्धरणों के आधार पर मध्व उसकी सत्ता श्रुति प्रतिपाद्य भी मानत है।^५ साथ ही अक्षर का स्थिति विषयक अनुभव भी प्राप्त है। अतः उसे स्वतन्त्र-द्रव्य के रूप में ग्रहण करना उचित है।

(१८) वागना—स्वप्न एव स्वप्न विषयों के उपादान कारण के रूप में वागना है।^६ सम्पूर्ण स्वप्न सत्य है तथा ईश्वर प्रणीत है। ईश्वर निमित्त कारण बनकर, वागना का उपादान-कारण के रूप में उपयोग करके, स्वप्ना का निर्माण करता है। जो उपादान कारण होता है, यह द्रव्य होता है, अतः वागना द्रव्य है। अय वागना के समान 'जाग्रत अवस्था के अनुभवा से वागनाए बनती हैं' मध्व भी यही मानत है। अतः कारण म वागनाए रहता है, जो उनका उपादान कारण एव आश्रय है। मद्यपि वागनाए कावविषय म उत्पन्न होती एव नष्ट होती है, किन्तु उनका प्रवाह अविनाशक है।^७

१ पदनाम—पद्मपदहृष्ट १७७

२ वही—पृष्ठ १७६

३ मध्वमिहान्तमार पृष्ठ ३८

४ वही—पृष्ठ ६०

५ पदनाम—पद्मपदहृष्ट—'स्वप्नपदाशेषोवापि वागना।' पृष्ठ १८३

६ वही, —'पूर्वानुभवमजा मनो-ज्ञा एव प्रवाहो-नाद्या।' पृष्ठ १८३

(१६) काल—जो आयु की व्यवस्था करे वह काल है।^१ समय आदि और अन्त युक्त है कि तु वासना के समान उसका प्रवाह भी नित्य है। प्रत्येक वस्तु काल में ही सत्तावान होती है अतः उस उन वस्तुओं का आश्रय माना है। वही प्रत्येक प्रकार की सृष्टि का कारण है। काल की प्रकृति के द्वारा सृष्टि होती है।

२०) प्रतिबिम्ब—बिम्ब के समान एव उससे अविभाज्य तत्त्व प्रतिबिम्ब है।^२ प्रतिबिम्ब की सत्ता एव क्रिया बिम्ब पर आधारित है। प्रतिबिम्ब नित्यानित्य रूप द्विविध है।^३ सभी जीव जो ईश्वर के प्रतिबिम्ब अनित्य हैं। प्रतिबिम्बों की नित्यता एव अनित्यता को निर्धारित करने का आधार उपाधि है। बिम्ब की प्रतिच्छवि जिस प्रकार की उपाधि पर पड़ती है वह प्रतिबिम्ब उस उपाधि के आधार पर नित्य अथवा अनित्य होता है। जीवोपाधि अविनश्य है। ईश्वर का अंश कहा गया है। अतः ईश्वर का वह प्रतिबिम्ब नित्य है। दूसरे उदाहरणों में उपाधि के विनाश होने के कारण प्रतिबिम्ब भी विनाश ही रहेगा।

प्रतिबिम्ब को बिम्ब के अतिरिक्त स्वतंत्र तत्त्व के रूप में अयं मत—अद्वैत वेदान्त यायादि स्वीकार नहीं करते। पारमार्थिक दृष्टि से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में कोई अंतर नहीं है। यह अद्वैत मत की मायता है। मध्व इस अभेद को न मानते हुए तक प्रस्तुत करते हैं कि जब कोई व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब पानी में अथवा दपण में देखता है तब उसमें यह बोध रहता है कि प्रतिबिम्ब उससे भिन्न है। भिन्नात्मक अनुभव होने पर दोनों को अभिन्न कैसे माना जा सकेगा।^४

(२) गुण—वर्गीकरण में दूसरा वर्ग गुणों का है। गुण द्रव्य के समान स्वतंत्र स्थिति योग्य नहीं होते। अपनी स्थिति के लिए दूसरों पर इसे आश्रित होना पड़ता है। यह सबदा द्रव्य पर आश्रित रहता है। सामान्यतः गुणों के अलगतः सदगुण एव दुर्गुण दोनों प्रकार के गुण रह सकते हैं किंतु मध्व ने दुर्गुणों को इस क्षेत्र में अलग करके केवल सदगुणों का ग्रहण किया है।^५ गुणों की सरथा अन्त है। गुणों में केवल बाह्यतः उपलब्ध विषयभूत गुण ही नहीं अपितु मानसिक गुण शमदमादि भी ग्राह्य हैं। विषय मुख्य गुणों का ही उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग में सम्भव है।

(३) रूप—जिसके कारण हम शुक्ल पीत वृष्ण आदि का प्रयोग कर सकें

१ पद्मनाभ पदाथ सग्रह आयुव्यवस्थासक काल । पृष्ठ १८६

२ वही —पदाथसग्रह पृष्ठ १६३

३ वही पृष्ठ २००

४ मध्व विद्वान्तसार पृष्ठ ६७

५ पद्मनाभ—दोषभिन्नत्व गुणत्वम् । पदाथसग्रह पृष्ठ २०४

द्रव वेदात्त मे पदाय विवेचन

वह रूप है।^१ यह सात प्रकारों में प्राप्य है। गुक्ल, नील, पीत, लाल हरित, कपिल एव अनेक वण युक्त।^२ जब ये नित्य द्रव्यों में आश्रित रहते हैं, तब नित्यरूप तथा अनित्यद्रव्याश्रित (जलादि) होने पर, अनित्यरूप हाते हैं। पद्मसग्रह के अनुसार प्रकृति के तीन वण नित्य हैं। गुक्ल, लोहित एव कृष्ण।^३ ये तीनों वण सत्व, रज एव तम इन तीन द्रव्यों के हैं जो प्रकृति प्रसूत हैं। अनित्यरूप में आकाश का नीलापन जल की शुभ्रता वासना ज प स्वाप्न विषयो की वणगत विविधता अनित्यरूप की सूचक है। गुण और द्रव्य के सम्बन्ध को हम अनुभव के द्वारा ही जानते हैं।

(४) रस—जिसके कारण मधुर तिक्त कषाय आदि प्रयोग हो सकते हैं। इस प्रकार के प्रयोग का हेतु रस है। वह छ प्रकार का है—मधुर तिक्त अम्ल लवण बटु और कषाय। यह भी रूप के समान आश्रय के कारण नित्यानित्य है।

(५) गन्ध—जिसके कारण मृदान ज्यवा कुत्रास का अनुभव होता है वह गन्ध नामक गुण है। यह 'सु' एव 'कु' उपगम पूर्वक दो ही प्रकार का है। ईश्वर 'र'मी एव मुपता माश्रम म केवल सुगन्ध एव ज'पय सुगन्ध एव दुगन्ध दोनों ही स्थिति है।

(६) स्पर्श—जिसके कारण धीत उष्णादि की प्रतीति होती है उसका आधार यही गुण है। यह तीन प्रकार का है नीत उष्ण एव त नीत त उष्ण। रूपादि के समान यह भी नित्यानित्य है।

(७) सख्या—वस्तु का वह गुण सख्या है जिसके आधार पर एक दो आदि व्यवहार किया जाता है। वैज्ञानिक भी सख्या की यही परिभाषा मानते हैं। सख्या में भी एत नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की हैं। शेष मन्त्र ए अनित्य हैं। एकत्व सर्वगामी होने के कारण नित्य है। मन्त्र मत म सख्यागत विवचन 'यायनुक्ल है।

(८) परिमाण^४—वस्तु का वह गुण जिसके द्वारा वस्तुओं को मापा जा सके। जिसके द्वारा ही छोटा, बड़ा सबव्यापक आदि होना जाना जाता है। अणु, महान् एव मध्यम यह तीन परिमाण के प्रकार हैं। ये सभी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के हैं। जीव अणु परिमाण के हैं, अतः जीव के गुण के रूप में वह नित्य है। अय अनित्य द्रव्यों के गुण के रूप में अनित्य, प्रकृति, अव्याहृत आकाश एव वण आदि गत महत्परिमाण नित्य हैं। समय के भाग क्षण, तव आदि के गुण के रूप में महत्परिमाण अनित्य है। मध्यम-परिमाण प्रायः उत्तरा होता है जो उत्पन्न हुए हैं।

१ पद्मनाभ—पद्मसग्रह पृष्ठ २०५

२ वही—तच्च गुक्ल-नील-पीत रजन हरित-कपिल-चित्रभेदात्मन्तवियम्। पृष्ठ २०६

३ वही—पृष्ठ, २०७

४ पद्मनाभ—पदायसग्रह, पृष्ठ २०८ ६

वे अनित्य ही होते हैं। ईश्वर और लक्ष्मी तीनों प्रकार के परिमाणवान् होने में सम्यक् हैं।

(९) सयोग—सयोग के कारण दो पृथक् वस्तुओं का संप्रपन्न होता है। यह भी नित्यो म आधित होने पर नित्य एव अनित्यो म आधित होने पर अनित्य दोनों ही प्रकार का है।^१ वशेषिक के अनुसार मध्व भी स्वीकार करते हैं कि, 'उन दोनों म किसी एक की क्रिया से सयोग होता है।^२ वशेषिक क्रिया के अतिरिक्त सयोगज भी मानने हैं, जैसे शरीर और पुस्तक का सयोग। पुस्तक का सयोग हाथ से है। पुस्तक एव शरीर का सयोग हस्त एव पुस्तक के सयोग से है।^३ मध्व केवल कमज सयोग को ही ग्रहण करते हैं। सयोगज सम्बन्ध गुण के रूप से पृथक् स्वीकार नहीं किया है।

(१०) विभाग—दो परस्पर मिली वस्तुएँ जिस गुण के कारण पृथक् प्रतीत हा वह गुण विभाग है। यह भी दो वस्तुओं म से किसी की भी क्रिया से उत्पन्न होता है। यह नित्याधित होने पर नित्य अनित्याधित होने पर अनित्य रूप से दो प्रकार का है।

(११) परत्वापरत्व—वस्तुओं म जिसके कारण पूर्ववर्तित्व एव परवर्तित्व जात हा वह गुण पुरत्व एव अपरत्व है।

वस्तुतः ये सभी गुण न होकर सम्बन्ध ही है फिर भी मध्व न वशेषिक मत के सादृश्य के कारण इनको गुण के रूप म ग्रहण कर लिया।

इनके अतिरिक्त अथ कतिपय विषयगत गुणों की प्रतिष्ठा भी मध्व म है जो प्रायः वशेषिक मत के समान हैं। स्नेह गुह्यत्व द्रव्यत्व मृत्त्व काठिन्य आदि।

(१२) बुद्धि^४—बुद्धि हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं एव व्यापारों का कारणभूत गुण है। यह भी नित्यानित्यरूप द्विविध है। यथाथ एव अयथाथ रूप से भी इसका वर्गीकरण प्राप्य है। ईश्वर लक्ष्मी तथा अथ श्रेष्ठ एव मुक्तात्माएँ यथाथ और नित्य ज्ञान धारण करती हैं। रागसादि अनित्य और मिथ्या ज्ञान से मुक्त है। ब्रह्मा से लेकर लघुतम जीवों म यथाथ एव नित्य तथा अयथाथ एव अनित्य ज्ञान दोनों प्रकार का रहता है। ज्ञान की अनुभव एव स्मृति के रूप म भी वर्गीकृत किया गया है। अनुभव जय ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान एव शब्दरूप त्रिविध है।

मुक्त दुःख, द्वय इच्छा प्रयत्न धर्म एव अधर्म आदि आत्मा के गुण हैं। तथा

१ पञ्चनाभ पत्राय सप्रह पृष्ठ, २३७

२ वही अयतरकमज । पृष्ठ २४०

३ तत्कमप्रह—दीपिका पृष्ठ ५५

४ मन्वसिद्धांतसार पृष्ठ ८१

य नित्य और अनित्य दोनो प्रकार के हैं ।

(१३) सस्कार^१—सस्कार वेग, भावना योग्यता एव स्थिति स्थापक इन चार प्रकारो म विभक्त हैं । वेग ईश्वर लक्ष्मी, प्रकृति, अव्याकृताकाश तथा वण म आश्रित होने पर नित्य अप्रभ्र अनित्य हैं । भावना का क्षेत्र सम्पूर्ण दृश्यमान जगत है । यह स्मृति का कारण है । 'योग्यता नामक सस्कार के कारण अनान से मोक्षा-वस्था तक की जीवात्मा-जा का क्रम स्थित है । इसी योग्यता के कारण मुक्तावस्था के पास पहुँचा जीव अन्य जीवा से भिन्न है । स्थिति स्थापक नामक सस्कार वस्तु का पुरुरूप पट्टवने म महायक होता है । इस प्रकार इन सस्कारो म सं वेग और स्थिति स्थापक का सम्बन्ध जगत स है तथा अन्य दो भावना और योग्यता का स्वरूप विषयिगत है । ईश्वर और लक्ष्मी को छोड़कर सभी जीवा म भावना होती है । इन्द्रादि का ज्ञान स्मृति रूप न होकर सबदा प्रत्यक्ष एव तात्कालिक होता है । वहा स्मृति का प्रसंग नहीं है ।^२

(१४) आलोक—इसी गुण क कारण रूप का दखा जा सकता है । यह भी नित्य और अनित्य दोना प्रकार का है । ईश्वर लक्ष्मी मुक्त जीवा म रहनवाले आलाक नित्य, तज आदि म रहनवाला अनित्य है ।

उन गुणो क अतिरिक्त जा कि प्राय विषय रूप है, मध्व ने अनेक एसे गुणा का भी ग्रहण किया है जो गुणन विषयिगत हैं । इन गुणा का उल्लेख वैशेषिक मत म नहीं है । य गम दम तितिक्षा, कृपा बल भय, स्वय, लज्जा, सौन्दर्य, घँघ औ दाय मोभाग्य आदि जनेक प्रकार के हैं ।

इस प्रकार दूत सम्प्रदायो क प्रथा म जिन गुणा का वणन हैं उनकी सख्या द्वावाजीस (४१) के लगभग है । कि तु मध्व के अनुसार गुण अनन्त है । यहा तो उनम स प्रमुख गुणा का ही वणन प्रस्तुत किया गया है ।

(३) कम—वर्गीकरण के अतगत कम को तीसरे वग क रूप म वणित किया गया है । त ता यह द्रव्य है न गुण अपितु दोना से ही भिन्न है । गुण के समान कम भी द्रव्याश्रित है । गुण का द्रव्य के साथ रहना स्थायी है जबकि कम का अस्थायी। कम को पाप एव पुण्य का असाधारण कारण कहा गया है ।^३ बिना कम के पाप पुण्य दोना ही सम्भव नहीं हैं ।

१ मध्वसिद्धा तसार पृष्ठ ६०

२ पद्मनाभ—'शुलक्ष्मीमुक्तानाम् स्मरणाभावान भावना ।' पदायसग्रह, पृष्ठ ३२३

३ 'साक्षात्परम्परया वा पुण्यपापासाधारणकारणम् कर्मेति कमसामान्यलक्षणम् ।' मध्वनिदातसार, पृष्ठ १

विहित निपिद्ध एव उदासीन ये कर्मों का त्रिविध विभाग है। विहितकर्म वेदाशास्त्रोक्त कर्म है जिनकी विधि एव प्रक्रिया शास्त्रो म प्रतिपादित है। विहितकर्म भी काम्य एव अकाम्य इन विभागा म विभक्त है। काम्य किसी अभिलाषा की पूर्ति के लिए किए गए कर्म तथा अकाम्य बिना किसी अभिलाषा के लिए सम्पन्न कृत्य। अकाम्य कृत्या का उद्देश्य केवल ईश्वर को सन्तुष्ट करना है^१ काम्य कर्मों के प्रारंभ एव अप्रारंभ ये दो रूप हैं। प्रारंभ व कर्म है जिनका फल प्रारम्भ हो गया है तथा अप्रारंभ वे जिनका फल या तो अभी मुक्त नहीं है अथवा मुक्त हो चुका है। अप्रारंभ को इष्ट और अनिष्ट इन दो रूपा म विभक्त किया है। आज जो इष्ट है वे कल प्रारंभ बन सकते हैं तथा अनिष्ट वे जो समाप्त हो चुके हैं एव जिनके फल अब प्राप्त होने वाले नहीं है।

निपिद्ध-कर्मशास्त्र के द्वारा निपिद्ध हैं जैसे ब्रह्म हत्या आदि। यह कर्ता को अप्रमत्ता प्रदान कर सकते हैं।

उदासीन कर्म न तो विहित हैं, न निपिद्ध। य क्रिया शील होत हैं तथा कर्णे पिक मत के अनुसार चेतन एव अचेतन दोनों प्रकार के द्रव्य मे रहते हैं।^२ ये उत्थपण अपक्षेपण आकुचन, प्रसरण गमन आगमन भ्रमण वमन वपन, भोजन विदारण आदि अनेक प्रकार के हैं। मध्व स्वीकृत गुणों के समान इन कर्मों की भी कोई सरयागत सीमा नहीं है। ये उदाहरण तो उदासीन कर्म को समभान मात्र के लिए दिय गए है। इनम से प्रारम्भिक पाँच बशेषिक मत ने भी स्वीकार किए है।

कर्मों का एक अय विभाजन नित्य एव अनित्य के रूप म भी है। ईश्वर एव मुक्त जीवों के कर्म नित्य हैं। तथा अयों के अनित्याधित होने से अनित्य हैं।

यदि ईश्वरादि के सृष्टितयादि कर्म नित्य हैं तो यह कभी उपराम नहीं लेग निरंतर बने ही रहेंग। मुक्त जीवों के भी नित्य कर्म सबदा उनस सम्बद्ध ही बने रहेंगे। य कर्म मध्व के अनुसार ईश्वर की शक्ति के रूप मे लयावस्था मे रहते हैं। वे अभिप्रेतवितरूप से उन कार्यों म दृष्टिगोचर होते हैं। यही यान्या मुक्त जीवों के कर्मों की भी दी जा सकती है।

(४) सामान्य—साहृदय के कारण जब भिन्न वस्तुओं मे समानता की प्रतीति होती है तो उसका कारण सामान्य है। उदाहरण के लिए "मनुष्य" शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के मनुष्यों के बोधक के रूप मे है। इस प्रकार सामान्य का रूप अत्यन्त व्यापक है। इसको किसी भी प्रकार से अस्वीकार करना सम्भव नहीं है। मध्व ने सामान्य की विषय रूप सत्ता स्वीकार की है। अय किसी भी पदार्थ मे इसे न रख

१ मन्वसिद्धांत सार, पृष्ठ २

२ पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह पृष्ठ १०

सकने के कारण स्वतंत्र बग के रूप में परिगणन आवश्यक है। यह क्रिया एव गुण का आश्रय न ज्ञान से द्रव्य नहीं है। प्रागस्तपाद के अनुसार भव न भी स्वतंत्र सत्ता के रूप में इसकी स्थिति मानी है।

दृष्टिकोण की समानता ज्ञान पर भी दोनों मता वापिक एव मध्व, म सामान्य के स्वरूप में अंतर है। वापिक के अनुसार यह नित्य, एक एव अनेकानुगत है। तथा अनुवृत्ति प्रत्यय का कारण है। जाति केवल एक में रहनेवाली माननी चाहिए न कि अनेक में इसलिये यह अनित्य है। प्रत्येक द्रव्य गुण की पृथक् पृथक् जाति है। उनका अर्थ में सादृश्य जाति की सब पापकता का आभास प्रदान करती है। किसी विरोधता का अनेक वस्तुत्वा में पाया जाना मात्र यदि सामान्य अथवा जाति है तब तब एव रूप को भी जाति मान लेना चाहिए ?

सामान्य के व्यापक एव नित्य रूप को निषिद्ध कर देने पर अनुमान की मूल आधार व्याप्ति का ग्रहण कमे होगा ? यदि रसवती एव पवत के घूम में एक ही जाति नहीं है, तब व्यापित ग्रहण कमे सम्भव होगा ? मध्व के अनुसार हतु के रूप में घूम का उपयोग करने के लिये उनका सादृश्य ही पर्याप्त है। जैन मत के अनुसार सामान्य अनेक अनेकानुगत एव अनित्य है। पृथक् पृथक् तत्त्व के साथ ही वह उत्पन्न एव विनष्ट होती है। मध्व और जैन मत का सामान्य सम्बन्धी विवेचन समान है। उक्त सामान्य का स्वरूप मध्व के अनुसार केवल अनित्य विषयो से सम्बद्ध सामान्य के लिये है। जीवादि में रहनेवाली जाति नित्य है।

सामान्य के उक्त निरर्थक वर्गीकरण के अतिरिक्त मध्व ने जाति एव उपाधि यह दो रूप भी ग्रहण किए हैं। जिसको हम साक्षात् जानते हैं वह उपाधि जैसे गाय का सादृश्य। उपाधि अपने शेष के लिए सबदा पराश्रित रहती है।^१

(५) विशेष—वस्तुतः मध्वमत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण मायता है। द्रव्य और गुण का पारस्परिक सम्बन्ध दर्शन का एक महत्वपूर्ण, किंतु अत्यंत विवादास्पद, प्रसंग है। गुण द्रव्य से भिन्न और अभिन्न दोनों रूपों में जात होते हैं। मध्व में इसका समाधान इसलिए भी आवश्यक है कि ईश्वर को इस मत में अनन्तगुणयुक्त कहा गया है। वह सबज्ञ, सबव्यापी तथा अथाप्य गुणा से पूर्य है। व यद्यपि ईश्वर में हैं फिर भी उससे भिन्न हैं। इस समाधान के लिये विशेष नामक तत्त्व स्थापित किया गया है। भेद के न रहने पर भेद के व्यवहार के कारणभूत तत्त्व की विशेष अभिधा है।^२

इस समस्या के महत्व को जानने के लिए द्रव्य एव गुण के पारस्परिक सम्बन्ध

१ "इतरनिरूपणाधीननिरूपकत्वमुपाधिलक्षणम्। मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ६

२ 'भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विरोधा। मध्वसिद्धान्तसार,

की ओर ध्यान दना आवश्यक है। घट और उसका कृष्णवर्ण इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? क्या ये एक हैं अथवा परस्पर भिन्न, अथवा भिन्नाभिन्न हैं? यदि दोनों में कोई भेद नहीं है तब घट और उसकी कृष्णता यह एक ही हुए। साथ ही फिर एक को घट दूसरे को कृष्ण कहना भी व्यर्थ होगा। यदि इन दोनों को एक दूसरे से भिन्न स्वीकार किया जावे तो इस भिन्नता का बाध कस होता है। इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिल सकेगा। तीसरा विकल्प ही अवशिष्ट है कि उनमें भेदाभेद है। किन्तु एक ही साथ भेद और अभेद होना आत्म विरुद्धोपपास हुआ। इस प्रकार का विरोध के समाहार के लिये मध्व ने विशेष 'नामक पन्था की स्थिति स्वीकार की। अभेद एवं भेद इन परस्पर विरुद्ध धर्मों की एकत्र अवस्थिति के हेतु विशेष ग्रहात किया है।'^१

'सामान्य के समान, विशेष पन्था भी विषय-रूप हैं, तथा सभी पदार्थों में स्थित हैं।^२ अपने जायम में रहने वाले ये विशेष असत्य हैं। इनके द्वारा अनेक प्रकार के गुणा की अभिव्यक्ति होती है। जनतगुणयुक्त ईश्वर में जनत विशेष हैं।

इस विशेष को स्वीकार करने के लिये जयतीर्थ का कथन है कि किसी वस्तु की अनेक विपयताएँ केवल काल्पनिक नहीं हैं। वे मानस गृष्टि मात्र न होकर वस्तुतः हैं। कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो अभिव्यक्त नहीं हानी। कुछ प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होती हैं एवं विषय से पृथक् नहीं दिखती—जैसे सूय का प्रकाश। किन्तु ये गुण उन आश्रयों से भिन्न हैं।

शुक्ल घट इस प्रयोग में शुक्ल और घट न तो पयाय है और न ही सहचारी। जब किसी से शुक्ल वस्तु लाने को कहा जाता है तो वह घट ही लेकर नहीं आता। जब कोई आका व्यक्ति वस्तु को स्पष्ट करके नाम प्राप्त करता है तब यह घट है या पट तब उसे शुक्लादि की प्रतीति नहीं होती। अतः इससे यहां निष्कर्ष प्राप्त होता है कि घट की प्रतीति एवं शुक्ल की प्रतीति परस्पर भिन्न हैं। अतः द्वय और गुण का भिन्न होना भ्रान्ति न होकर सत्य ही है।^३

इसके साथ ही गुणा का द्रव्याविरक्ति पाना भी सम्भव नहीं। 'गुण पट' कथन

१ जयतीर्थ— परस्परविरुद्धयोर्भेदाभेदयोरेकत्रावस्थानघटनायामपि विशेषस्यागीकरणीयत्वात्। 'यायसुधा पृष्ठ १०६

२ पञ्चनाभ—सर्वपदायनिष्ठा। पदायसग्रह पृष्ठ २२

३ जयतीर्थ— नश्यते च भेदकार्याणि। पटशुक्लयद्वयारभूतानविरक्ति विषयत्वाभावः। तच्छब्दोपरपर्यायत्वम्। अपर्यायिणास्मारकत्वम्। महारजनसम्बन्धेण शुक्लत्ववत् पटस्याप्यावतत्वाभावः। पटवद्वा शक्यस्याप्यनावतत्वाभावात् इत्यवभादीनि। न चपा प्रतीतिभ्रान्तिः। 'यायसुधा पृष्ठ १०६

द्वत वेदान्त में पदाद्य विवेच-

में समानाधिकरण्य के कारण अभेद है। इस प्रकार की प्रतीतियों के परस्पर विरुद्ध होने पर भी यह तो अवश्य ही ज्ञात होता है कि पट म कोई न कोई अतिघय भेद-निर्वाहक तत्त्व अवश्य है जिसके कारण यह सभी सम्पगतया ग्राह्य हो सके। वह अभिन्न होने पर भी विशेष रूप प्रदान होने के कारण 'विशेष' नामक पदाद्य माना जाता है।^१

यह वस्तु की ही ऐसी विशेषता है, जिसके द्वारा वस्तु के अभिन्न होने पर भी, उनकी भिन्नता को व्यक्त किया जा सकता है। वस्तु की एक स्वतन्त्र स्थिति को रखते हुए भी इसी के सहारे असह्य दृष्टिकोण के यथाय को उसमें प्रमाणित किया जा सकता है। इसी शक्ति के कारण सामान्य से व्यक्त को, द्रव्य से गुण को, शक्तिमान् को शक्ति से, स्वरूपिन से स्वरूप को भिन्न बोधित किया जाता है। यद्यपि ये अपने-अपने आश्रय से अभिन्न से प्रतीत होते हैं।

द्रव्य ही अनन्तविशेषा से युक्त है। विशेषा के कारण ही उसके व्यवहार में अनन्तत्व है।^२ जैन मत में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक माना है। यह तथ्य मध्य के निष्पत्त्य के समान है किन्तु जैन मत ने विशेषा नामक पृथक् तत्त्व ग्रहण नहीं किया उक्त विवेचन के आधार पर 'विशेषा' को एक प्रकार का गुण नहीं मान लेना चाहिए। यह अय के साथ सम्बन्ध का माध्यम बनता है, तथा जहाँ आवश्यक होता है वहाँ भेद स्थापित करता है। डा० रामाकृष्णन् ने विशेषा पदाद्य के ग्रहण के विरोध में कहा है कि—'यदि विशेषा आश्रय से भिन्न है तब इसका आश्रय से सम्बन्ध नहीं रहा, यदि उमम भिन्न नहीं है तो फिर यह विशेषा नहीं है।'^३

यह विरोध विशेषा के स्वरूपाकलन में भ्रान्ति के कारण है। 'विशेषा पदाद्य की ही शक्ति है उससे भिन्न कुछ अय अय नहीं' अतः यह कथन कि 'यदि वह अभिन्न है तो विशेषा नहीं कहा जा सकेगा' भ्रान्तिमान है।

- १ जयतीर्थ—तदेतयोर्भेदभेदाययो प्रतीत्योरययानुपपत्त्या निमैदपि पट अस्ति कश्चनानिगयो नप्रतिनिधि यद्वादिद सब समजस स्वादित्यन कपनीयम्। सचातिगयो भिन्नेपि विगेषकत्वाद्य विशेष इति गीयते। 'यायसुया पृष्ठ १०६
- २ मध्य—'द्र यमन ततो नन्तविशेषात्मतया स्थित। अनुयायान, पृष्ठ ५६ नाना व्यवहृतहैतुरनन्तत्व विशेष'।
- ३ डा० एन० रामाकृष्णन्—दृष्टियन फिलामफी भाग २, पृष्ठ ७६६
- ४ जयतीर्थ—'श्वनिविवाहको विशेषो नाम पदाद्यगित्तरभिपिच्यताम्।' वादावली, पृष्ठ ६७ पदाद्यगित्तरिति न वस्तवन्तम्।' राघवेन्द्रनीय उसी पर टीका।

यदि द्रव्य एव गुण के सम्बन्ध की व धारणा की दृष्टि से विनेप नामक नवीन पदार्थ का ग्रहण मध्य द्वारा किया जाय, तब एक दावा हो सकती है कि विनेप और द्रव्य में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक अय विनेप के लिए अय विशेष की। इस प्रकार अनवस्था प्रसंग होगा। इसका समाधान मध्य के अनुसार है कि 'विनेप स्वनिर्वाहक' है। अर्थात् अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उस किसी अय विनेप की अपेक्षा नहीं है। परिणामतः अनवस्था प्रसंग का प्रश्न ही नहीं है।^१ नित्य पर आश्रित रहने पर नित्य एव अनित्य पर आश्रित होने पर अनित्य विनेप का दोना प्रकार के रूप प्राप्त होते हैं।

वैशेषिक मत में ग्रहीत 'विशेष' पदार्थ तथा मध्य प्रतिपादित विनेप पदार्थ में पर्याप्त अंतर है। वैशेषिक मत में विनेप केवल नित्य द्रव्य में रहता है जबकि मध्य सम्मत विशेष की नित्यानित्य वृत्ति है। वैशेषिक मत में 'विनेप' नित्य को एक दूसरे से पृथक् करने वाले पदार्थ के रूप में आख्यात हैं। उनको व्यावृत्तक विनेप कहा गया है।

मध्य मत में 'विशेष' का वाय केवल भेद प्रतिपादन करना नहीं है अपितु घन एव घनिक के अभेद की सिद्धि भी करना है। वह उनमें भेद कथन के निर्वाह की व्यवस्था भी करता है। मध्य ने विशेष वही स्वीकार किया है जहां वास्तविक भेद का अभाव हो।

इस प्रकार एक का उद्देश्य भेद का ही प्रतिपादन करना है दूसरे का अभेद का प्रतिपादन करते हुए भेदकथन का निर्वाह करना है। अतः वैशेषिक-मत एव मध्य मत के उद्देश्य एव प्रक्रिया में पर्याप्त अंतर है। भेदाभाव ग्रहण होने पर ही विशेष की प्रवृत्ति होती है। भेद के प्रमाणावसित होने पर वहाँ विशेष की स्थिति ही नहीं रहेगी।^२

(६) विशिष्ट^३—विशेषण के सम्बन्ध के उपरान्त विशेष्य का जो रूप ही जाता है उसे विशिष्ट कहते हैं। विशिष्ट को अलग तात्विक बग के रूप में मध्य ने ही प्रतिश्रुत किया है। जब यह द्रव्य और गुण के सम्बन्ध से ही सिद्ध हो जाता है तब अलग से स्वीकार करने में क्या लाभ है? इस प्रश्न के उत्तर एव अपनी स्थापना के

१ पद्मनाभ, पदार्थ संग्रह पृष्ठ २३

२ जयतीर्थ—यत्र भेदाभाव प्रमाणावसितो भवेत्तत्रैव विशेषो व्यवहारनिर्वाहको ऽङ्गीक्रियते। गवादिषु तु भेदस्यैव प्रमाणावसितत्वात् न व्यवहारो विनेपनिष्ठ घनमिति।' गीता० ता० यायदीपिका, पृष्ठ १८२

३ पद्मनाभ—विशेषणसम्बन्धेन विशेष्यस्य य आकार तद्विशिष्टम्। पदार्थसंग्रह, पृष्ठ २६

समयन मे अनेक तक द्वैत मत के आचार्यों ने स्थापित किए हैं ।

'विशिष्ट' तत्व का अनुभव द्रव्य गुणादि का सम्बन्ध मान नहीं है अपितु वह सम्पूर्णता के रूप में बोधगम्य होता है । दण्डीपुरुष की एक पूण प्रतीति विशिष्ट को पृथक् तत्व के रूप में स्वीकार कराती है ।

(७) अग्नि—'विशिष्ट' के समान अग्नि भी एक पृथक् वग है । विशिष्ट की स्थापना के लिए जो तक दिए गए हैं वह इसके लिए भी सम्भव हैं ।^१ यह एकत्व-प्रतीति, यदि स्वतंत्र पदाय के रूप में कल्पित नहीं की गई तो वह अज्ञात ही रह जावेगी । अग्नि को पृथक् पदाय के रूप में न मानकर 'वायवैशेषिक' के समान समवाय के आधार पर अवयव-अवयवी का समवाय ग्रहण करके अग्नि का विवेचन किया जा सकता है, किन्तु मध्व ने 'समवाय' नामक पदाय ही स्वीकार नहीं किया । समवाय न मानने का कारण है—

(क) जिन स्थानों पर समवाय का होना बताया गया है, जैसे कपडा, वस्त्र की गुलता आदि, वहा वह दृष्टिगोचर उही होता ।

(ख) तन्तु और पट के सम्बन्ध में उपस्थित समवाय की जानने के लिए अय समवाय की कल्पना करनी होगी । इस प्रकार यह अनवस्था प्रसंग होगा ।^२ इस प्रकार वैशेषिक सम्मत समवाय विशेषण विशेष्य, अवयव अवयवी आदि, बोध कराने में अनवस्था प्रसंग से दूषित होता है अत अग्राह्य है । समवाय के अभाव में अग्नि नामक पृथक् पदाय ग्रहण करना अपेक्षित है ।

(ग) शक्ति^३—'शक्ति' एक सादृश्य जैसे तत्वा को पृथक् पदाय स्वीकार करने के मूल में सम्भवत मध्य पर मीमांसा दर्शन का प्रभाव है । शक्ति को अय किसी पदाय के अंतगत नहीं रखा जा सकता । अचित्य, आधेय, सहज एक पद आख्यात से शक्तियों चार प्रकार की हैं । अचित्य शक्ति ईश्वर तथा अय देवात्माआ म रहनी है, जो अघटित घटना के सम्पन्न की क्षमता से सम्पन्न है ।^४ अनेक विरोधी तत्व ईश्वर से होने के सकेत श्रुति में प्राप्त होते हैं । इस प्रकार के सम्पूर्ण अन्तर्विरोधा^५ का समाधान ईश्वर की यही शक्ति करनी है । यह शक्ति मनुष्य में नहीं रहनी ।

आधेय शक्ति किसी अय माध्यम से प्राप्त की गई शक्ति को कहते हैं ।

१ मध्वसिद्धांतसार, पृष्ठ ११

२ मध्वसिद्धांतसार, पृष्ठ ११

३ पद्मनाभ—पदायसंग्रह, पृष्ठ ३०

४ अघटितघटनापटीयस्याचित्यशक्ति । मध्वसिद्धांतसार, पृष्ठ १३

५ भासोनी दूर व्रजति शयानो याति दूरत ।' कठोपनिषद् १।२।२१

उदाहरण के लिए किसी मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा से जिस शक्ति का आधान होता है वह आधेय शक्ति है। प्राण प्रतिष्ठा के द्वारा ही मूर्ति में एक नई शक्ति आती है।

सहजशक्ति^१—वस्तुओं में रहने वाली काय-शक्ति को सहज शक्ति कहा गया है। यह शक्ति प्रत्येक काय के कारण में स्वभावतः रहती है। यह अभिव्यक्त भले ही न हो किन्तु कारण में रहती है। वह कभी नष्ट नहीं होती। सहज शक्ति को एक ऐसा विशेष तत्त्व कहा गया है जो अतीन्द्रिय तथा काय को उत्पन्न करने में सक्षम है।^२ आश्रय के आधार पर वह भी नित्य एवं अनित्य दो प्रकार की है।

पदशक्ति—मीमांसक एवं वैयाकरण पद में अर्थ व्यक्त करने की शक्ति को पदशक्ति मानते हैं। शब्द और उसके उद्देश्य अर्थ के सम्बन्ध को पदशक्ति कहा गया है। इसके अभाव में पद अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ हैं।

(६) सादृश्य^३—पृथक् पदार्थ के रूप में 'सादृश्य' को स्वीकार करने से द्वत मत पर प्रामाणिक मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दो वस्तु की समानता सवेद्य है। उस समानता का ज्ञान तब तक ग्रहीत नहीं होता जब तक सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ स्वीकार न किया जाए।

इस पदार्थ को पृथक् रूप से स्वीकार करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में कहा जा सकता है कि दूसरे अर्थ में दिखाई देने वाली समानता समान गुणा का दूसरे आधार पर पुनरीक्षण मात्र है। जब यह कहा जाता है कि 'गवय गो सदृश है।' तो इसका अभिप्राय है कि गो एवं गवय के समान धर्मों को गो से भी न आश्रय गवय में दूसरी बार देख लिया गया है, अतः सादृश्य को अलग से पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? सादृश्य का ग्रहण तो प्रत्यक्ष से ही हो जाता है।

किन्तु मध्व का इसके विरोध में कथन है कि किसी वस्तु का गुण उस वस्तु से पृथक् करके नहीं पात होता। गवय में जो सादृश्य दृष्टिगोचर है क्या वह गाय की ही कोई विशेषता है? अथवा गवय की? पहला पक्ष सवधा अप्राह्य है इसलिए कि कितना ही महान् तार्किक हो वह एक का गुण दूसरे में प्रमाणित नहीं कर सकता।^४ यदि गवय में गाय के गुण मान लिए गए तब गवय गाय के समान न होकर गाय ही हो जावेगा। यदि इसका सवधा केवल गवय में है तब गो के सादृश्य का क्या अर्थ? अतः सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना चाहिए।

प्रथमतः सादृश्य के ग्रहण के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि गो एवं

१ कायमात्रानुक्ता स्वभावरूपा सहजशक्ति । पदा० स० पृ० ३३

२ कार्योत्पत्त्यनुक्तीन्द्रियकारणधर्मविशेष । मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १४

३ पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ४२

४ मध्वसिद्धान्तसार पृष्ठ १७

गवय के सादश्य में बोध के विषय समान धर्म हो सकते हैं। अतः सादश्य पृथक् पदाय कथों माना जाए ?

यदि समानधर्मों को बोध का विषय ग्रहण किया गया तो इनके समान धर्मों की समानता का ग्रहण कैसे होगा ? गवय के बोध्य धर्मों में ऐसी कोई समूचक स्थिति नहीं है, जो बता सके कि वह गाय के समान है। इसीलिए समानता के ग्रहण के लिए पुष्ट आधार एवं यथायथादी विषयगत दृष्टि के समाधान के लिए सादश्य नामक पृथक् पदाय ग्रहण करना होगा।

सात्त्विक नामक पृथक् पन्था, प्राभाकर एवं माध्व मत में समान रूप से ग्रहण करने पर प्राभाकर मत में सात्त्विक एक ही है माध्व में सात्त्विक अनेक हैं। यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समान है तो वह किसी तीसरी वस्तु से भिन्न भी है।^१ अतः उभय एक न मानकर अनेक की ग्रहण करना उचित है।

पन्थासंग्रहकार^२ के अनुसार सात्त्विक भी नित्यानित्यरूप द्विविध है। जब मुक्त जीव साहचर्यमुक्ति—अर्थात् ईश्वर के सादश्य—को प्राप्त करते हैं तो वह नित्य सात्त्विक है। तथा जब भी एक गवयादि सादस्या का ग्रहण होता है तब वह सादश्य अनित्य है।

(१०) अभाव—उत्तरकालीन नैयायिकों के समान मत में भी अभाव का एक स्वतंत्र पन्था स्वीकार किया है। जब एक व्यक्ति को देते हैं, तब न केवल वह व्यक्ति प्रत्यक्ष है अपितु उसमें अन्य व्यक्ति का अभाव भी प्रत्यक्ष ही है। वेदांत में अद्वैत मतवादी एवं प्राभाकर मीमांसका का कथन है कि वस्तु का यह तो स्वभाव ही है कि 'वह वही है अन्य कुछ नहीं।' यदि दूसरा तत्त्व पहले में, अपने अभाव के ग्रहण में महत्वपूर्ण नहीं है तब 'पहला व्यक्ति पहला ही है तथा 'वह दूसरा नहीं है' में दूसरा अनुभव का होता है जो दूसरी वस्तु से सम्बद्ध है। ब-वन्ध्यायिका के समान निषेध नहीं भी सिद्ध के समकक्ष नहीं होता। इस अनुभव के लिए अभाव का पृथक् पन्था के रूप में ग्रहण आवश्यक है।

एक स्वतंत्र प्रमेय के रूप में अभाव की स्थिति है। तथा भावरूपानान, सिद्ध्यात्वेत् एवं कारण काय प्रसंग में यह इन सभी के मूल में स्थित है। पृथ्वी में घट नहीं है। इस जान का प्रथम रूप निषेध ही है। अतः निषेध या अभाव भाव से भिन्न रूप में प्राप्त होता है।

प्रागभाव प्रध्वसाभाव अयोयाभाव तथा अत्यन्ताभाव से चार प्रकार के अभाव मध्य-मत में स्वीकार किए हैं। उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु का न होना प्रागभाव

१ मन्वसिद्धांतसार, पृष्ठ १

२ पद्मानाभ—पदायसंग्रह पृष्ठ ४६

है। वस्तु के विनाश के उपरांत उत्पन्न अभाव प्रध्वसाभाव है। प्रागभाव अनादि एव सात है। प्रध्वसाभाव सात्वि एव अनन्त है। दो वस्तु में एक-दूसरे का अभाव अयो-याभाव है। उदाहरणतः राम में कृष्ण का अभाव है एव कृष्ण में राम का। इस प्रकार दोनों में एक दूसरे का अभाव होने के कारण अयो-याभाव है। अयो-याभाव वस्तु का स्वरूप है।

जो वस्तु किसी भी प्रमाण के द्वारा नैय न हो उसका अभाव अत्यन्ताभाव है।^१ गग शृंग गगन कुसुम आदि का अभाव इस अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। अतः भूत भविष्य एव वर्तमान सभी कालों में जिसका अभाव हो वह अत्यन्ताभाव का उदाहरण है।

मध्व का उक्त पन्नाथ विवचन उसके चिन्तन की मूर्त यथाथ परक दृष्टि का परिचायक है। उसने अथ द्वाय सम्प्रदाया में भी तत्त्वों के ग्रहण में किसी प्रकार सकोच नहीं किया है। पन्नाथों के स्वल्प एव वर्गीकरण सम्बन्धी उल्लेख मात्र साहित्य में कम किन्तु उसके परवर्ती तदनुयायी लेखकों में अविश्रमात्रा में स्पष्ट एव विकसित रूप में प्राप्य हैं। अथ दशना की तुलना में मध्व ने सर्वाधिक सत्या में पदाथ माने हैं।

चतुर्थ अध्याय

भेद का स्वरूप एवं पञ्च भेद

पञ्च भेद द्वा-मत् के चिन्तन की आधार भित्ति है। यही पाच प्रकार के परस्पर-
रिक्त भेद अद्भुत मत से न केवल अन्तर प्रमाणित करते हैं अपितु उसे, वेदान्त के ही
अंतर्गत पूर्णरूपण दूसरी कोटि में भी स्थापित करते हैं। दाकर के परवर्ती सभी
चरणव विचारण मुक्ति व साधन की दृष्टि से भक्ति को पान से अधिक महत्व प्रदान
करते हैं। यदि पञ्चभेद की स्थिति द्वात वेदान्त में स्वीकृत न की गई तो भक्ति की भी
व्या उपयोगिता रह जायेगी। भक्ति आराधक एवं आराध्य के मध्य पर आश्रित है।
स्वयन् एवं अस्वतन्त्र तत्त्व का वर्गीकरण भी मध्य तमी ग्रहण कर सकते हैं जब वे
पञ्च भेद की स्थिति को स्वीकार कर लें। भेद की स्थिति के अभाव में मध्य मत का
अस्तित्व ही नहीं रहता। यही कारण है कि मध्य सम्प्रदाय के विचारका ने अत्यंत
विस्तार पूर्वक भेद के स्वरूप का विवेचन एवं परमत का खण्डन किया है।

भेद के स्वरूप निर्धारण में, दार्शनिकों में परस्पर सम्मोह मतभेद प्राप्त होते
हैं। भेद की परिभाषा को "पारमान भ भले ही अत्यंत कष्ट साध्यता हो, तो भी
उसके अस्तित्व का नकारा नहीं जा सकता। भेद सवजन सबध है। उसकी स्थिति
सुस्पष्ट एवं सुद्ध प्रत्यक्ष पर आधारित है। यदि कोई विचारक किसी एक प्रकार स
भेद के स्वरूपाकलन में अममथ है तो वह किसी अन्य प्रकार का उपयोग, उसके
पान के लिए कर सकता है। किसी विशेष प्रक्रिया के उपयुक्त न हो पान के कारण
भेद की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया जाए, यह "यायस त नहीं होगा। प्रक्रिया
की अमाध्यता के कारण वस्तु का ही परित्याग कर देना अधिक अहितकर है।^१ अत
यदि किसी एक विधि स अभीष्ट अथ की उपलब्धि नहीं होती है तो दूसरी विधि का
प्रयोग करना चाहिए। स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने वाल भेद का किसी विशेष रूप
में ही सिद्ध अथवा असिद्ध होना चाहिए अथवा नहीं, इस प्रकार विचार करके,
त्याज्य नहीं मान लेना चाहिए।^२ इस प्रकार की उद्दिष्ट अथ से निर्वाचित चिन्तक

१ जयनीय—'न हि प्रक्रिया परिसयो वस्तुपरिणयादगरीयान ।'

मिथ्यात्वानुमानखण्डन टीका, पृष्ठ २

२ 'किञ्च स्पष्टं भेद द्वात प्रकारान्तर कल्पयिष्यति अस्मिन्नेव वा प्रकारे
कल्पयान्तरविशेष कल्पयति न तु निवर्तते।' विष्णु तत्व निणय टीका, पृष्ठ ५२

की प्रकृति के अनुकूल नहीं मानी जा सकती। दशन में यह स्वस्थ परम्परा नहीं है।

भेद की सत्ता स्वतः सिद्ध है। किसी भी वस्तु का ज्ञान दूसरी वस्तु से भिन्न रूप में ही होता है।^१ उदाहरण के लिए कोई भी बोध अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न वस्तु के रूप में होता है। इसलिए भेद की सत्यता अथवा स्थिति के विषय में किसी प्रकार के संदेह की सम्भावना नहीं है। किसी भी वस्तु के विषय में—इस वस्तु की अन्य वस्तुओं से भिन्नता या समानता है। इस बोध से वस्तु की प्रतीति के साथ ही भेद का भी आकलन हो जाता है। अस्तु, वस्तुगत प्रतीति भङ्गगत प्रतीति के प्रामाण्य का प्रतिपादन करती है।

गणक मत में ज्ञान का स्वरूप मध्व के समान विविक्त या विनिष्ट नहीं है। ज्ञान का मूल आधार चेतना है। यह चतुर्धर निर्विशेष एक अखण्ड है। उसका व्याख्यान भी नहीं किया जा सकता। मध्व का ज्ञान का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न प्रकार का है। वह सर्वविध विषयरूप एक ध्यायेय है। दोनों मता में परस्पर अत्यन्त विरोध है। मध्व की ज्ञान विषयक उक्त धारणा के ही कारण भेद का वस्तु के स्वरूप के रूप में ग्रहण अनिवार्य हो गया। इसी को न मानने के कारण गणक ने केवल एक ही तत्त्व को पारमार्थिक प्रतिपादित किया है। द्वितीय का वहाँ कोई स्थान नहीं है। अद्वय तत्त्व ही वहाँ प्राज्ञ है। मध्वानुयायी इसके सर्वथा विपरीत भेद की वास्तविक सत्ता मानते हुए जगत् की सत्ता को किसी भी तर्क के द्वारा निराकृत करने योग्य नहीं मानते। जगत् जीव एक ईश्वर सभी तत्त्व सत्ता की दृष्टि से सत्य हैं। सम्भवतः इसी पारस्परिक अन्तर को सूचित करने के लिए दोनों मता को द्वैत और अद्वैत कहा गया है।

मध्व मत तथा अन्य मतों की दार्शनिक मायताओं के अन्तर को जानने के लिए भेद और अभेद सम्बन्धी विवेचन आवश्यक है। अभेद प्रतीति के लिये भी भेद स्वरूप व्याख्यान अनिवार्य है। बिना भेद ज्ञान के अभेद ज्ञान कम प्राप्त होगा? मधुसूदन ने भी अपने व्याख्यान के प्रारम्भ में ही कहा कि भेद के मिथ्यात्व को प्रमाणित करने पर ही अभेद का सत्यत्व सिद्ध होगा।^२ यही तथ्य प्रकारांतर से द्वैत

१ H N R ghavendrachar—'A Particular thing is Particular because it is different from other things of the World So there is difference in a particular thing from other thing P 185 The Dvaita Philosophy and its place in Vedanta

२ मधुसूदन, अद्वैत ब्रह्मनिधि पृष्ठ २

मतानुयायी भी कह सकते हैं कि, 'अद्वैत, अभेद, के निराकरण से द्वैत की सिद्धि स्वतः हो जायेगी।'^१

भारतीय-द्वैत में भेद की स्थिति को वास्तव मानने वाले मतों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। वर्ग भेद में अभेद अथवा अभेद में भेद मानता है। दूसरा भेद की ही सम्पूर्ण सत्ता स्वीकार करता है। भेदाभेद मानने वाले मत भास्कर एवं जनों का त्रिदण्डि सम्प्रदाय है। कारण और वाय दोनों जिस प्रकार परस्पर भिन्न और अभिन्न पाए जाते हैं, उसी प्रकार किसी भी वस्तु में भेदाभेद दोनों की ही उपलब्धि होनी है। दूसरे वर्ग के विचारक अभेद में भिन्न प्रसंगों में भेद की वास्तविक सत्ता मानते हैं। भेद की सत्ता को पृथक् मानने वाले दार्शनिकों के चार प्रमुख वर्ग हैं।

(१) भेद वस्तु का स्वरूप है।

(२) भेद वस्तुओं का अयोग्यता है।

(३) दो वस्तुओं में वैधर्म्य भेद है।

(४) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने के कारण भेद पृथक् द्रव्य है।

पहला मत साम्य-योग द्वैत में मान्य है। दूसरा 'वाय, तीमरा कुमारिल तथा चौथा वर्णिक सम्प्रदाय में सम्बद्ध है।^२ प्रभाकर के अनुसार भेद अपने आश्रय का स्वरूप मात्र ही है। इस प्रकार मायादि के समान ही उगकी धारणा है। कुमारिल का मत भेद की सत्ता मानने की दृष्टि से प्रभाकर के समान ही है। व दोनों, 'जिस प्रमाण में भेद का ग्रहण होता है?' इस प्रश्न में परस्पर भिन्न हैं। प्रभाकर के अनुसार आश्रय के प्रत्यक्ष से ही भेद का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। कुमारिल अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा भेद का ग्रहण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भेद दो वस्तुओं में वैधर्म्य है। वर्णिक भेद का पृथक् द्रव्य के रूप में इसलिये ग्रहण करते हैं कि, वे ज्ञान के विषय का किसी न किसी प्रकार का द्रव्य मानते हैं।

भेदाभेद मत के अतिरिक्त भेद के सम्बन्ध में भारतीय विचार-क्रम में उत्त चार मत प्राप्त हैं। इन सभी का संक्षिप्त संकेत किया गया। मध्व का द्वैत-योग भेद की सत्ता मानने वाले विचारकों के प्रथम-वर्ग के अंतर्गत है। वह इसे वस्तु का स्वरूप ही मानते हैं। अद्वैत सम्प्रदाय के विचारकों ने इन सभी भेदों को ग्रहण करने या न आचार्यों के मत का विस्तार-पूर्वक खण्डन किया है। उन विचारकों ने इन मतों में तात्त्विक असंगति सूचित करते हुए उनकी सत्ता को ही निरस्त करने का प्रयास किया

१ डा० के० नारायण, किटीक थाफ मध्व रीफूटिंग आव वदान्त, पृष्ठ १७७

२ मधुसूदन अद्वैतब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १३०

है। भेद की प्रतीति आभास के कारण ही है। 'नकारानुवर्ती लेखक अपने मत के समयन की अपेक्षा परमत खण्डन में ही अधिक व्यापृत हैं। भेद को परमत कृत परिभाषा एवं स्वरूप विवेचन ही उनके विराध के आधार है।

ज्ञान के ग्रहण की मात्र सम्मत मायता विषय को अथ विषया से भिन्न रूप में ही ग्रहण करती है इसलिये परिगणित पदार्थों के अतिरिक्त नवीन पदार्थ के रूप में भेद का ग्रहण नहीं हो सकता और न स्वतंत्र गुण के रूप में। वह तो वस्तु का स्वरूप ही है।^१ वस्तु का भविष्य रूप से वह अभिन्न है।^२ अतः वह वस्तु का स्वरूप ही है। यही मात्र का स्वरूप भेदवाद है। यह भेद स्वरूप से भिन्न कोई अथ तत्त्व नहीं है। न ही यह वस्तु का गुण है। सामान्यतः भेद को सजातीय विजातीय एवं स्वगतभेद के रूप में त्रिविध माना गया है। समान एवं असमान वस्तु से भेद का ग्रहण करने की स्थिति को तो मात्र स्वीकार करते हैं किन्तु स्वगत भेद स्वीकार्य नहीं है।

द्वैत मत का भेद के उक्त स्वरूप के ग्रहण के मूल में उनकी विषेय नामक मायता है। यह विषेय ही वस्तु की प्रतीति का आधार है। यह विशेष केवल विशेषण के समान यावृत्तिकारक मात्र नहीं है अपितु अवयव अवयवी गुण गुणा आदि की अभेद प्रतिपत्ति एवं वस्तु के असंग्य प्रकार की प्रतीतिगोचरता का आधार भी यही तत्त्व है। भेद का ग्रहण भी इसी तत्त्व के सहारे ही होता है। वस्तु का विषेय उस अथ स भिन्न प्रमाणित करता है। अतः भेद का वस्तु का स्वरूपमात्र होना इसी विषय नामक पदार्थ के द्वारा ग्राह्य है।

त्रिगुण पदार्थ का मायता मध्व की अपनी देन है। उसी पर मध्व की भेद मीमांसा आधारित है। इसीलिए मात्र के उपरान्त अद्वैत मत के विचारका न बहुत विस्तार से मध्व की स्वरूपभेद की मायता का खण्डन किया। मध्व के पूर्व तक 'याय एवं मीमांसा के भेद स्वरूप विवेचन का विरोध ही चित्तुम्ब आदि आचार्य करते रहे।^३ जस ही इस नए मत ने भेद की प्रबल स्थापना करके श्रुति वाक्या का सहयोग लेकर पक्षभेद प्रमाणित किया, वस ही इसके बाद क अद्वैत मत के आचार्यों ने विस्तार से इसी मत का खण्डन किया। उनके असह्य तर्कों में से कतिपय निम्नलिखित हैं।

'यदि वस्तु के स्वरूप से भेद को अभिन्न माना गया तो एक ही व्यक्ति में असह्य भेद रहने। उदाहरण के लिए 'क नामक यत्ति म त्व ग' 'घ आदि अनेक

- १ व्यासनीय—'भेदस्तु वस्तुना स्वरूप नात्र संग्य । यायामृत पृष्ठ ५५८
- २ वस्तुतस्तु अस्मिन्मते भेदा वस्तुना सविशेषाभिन्न ।' यायामृत, पृष्ठ ५६२
- ३ डा० बी० एन० के० गर्मा—फिलासफी आर्य श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ ५८

भेद का स्वरूप एवं पच भेद

से भेद पृथक्-पृथक् रहेगा। अतः व में असंग्य भेदों की स्थिति माननी होगी।
 किन्तु मध्य विचारक केवल भेद को एक ही मानते हैं।
 'श्री हृष का वचन है कि यदि भेद वस्तु का स्वरूप है तो वस्तु के पान प्राप्त
 करने का अभिप्राय उसको सम्पूर्णतः अथ वस्तु-आप्त भिन्न जान लेना है। ऐसी
 स्थिति में अथ सभी वस्तु से विविक्त रूप में पान प्राप्त कर लेने के कारण वस्तु स
 सम्बन्धित सदेह नहीं रहना चाहिए, भ्रम भी नष्ट रहना चाहिए। अर्थात् सदेह
 अथवा भ्रम रूपी कोई भी मन स्थिति के प्राप्त होने की सम्भावना तक नहीं रहनी।
 यह सब इसलिए होगा कि वस्तु का स्वरूप अथवा व्यावृत्त ही जात होता है। अतः
 अथपरक सदेह अथवा भ्रम का प्रसंग ही नहीं होना चाहिए। किन्तु सदेह अथवा
 भ्रम वस्तुतः अनुभवगम्य हैं। भ्रम एवं सदेह की इस प्रकार की अनुभवगम्य स्थिति
 व उपरांत, भेद का वस्तु के स्वरूप में होने का समाधान कैसे होगा? १

यदि यह माना जावे कि घट में रहने वाला भेद उसी में रहता है। उससे
 भिन्न अथ वस्तु-आप्त में भी भेद की स्वरूपता ही स्थिति है, तो इसका यह अर्थ हुआ
 कि भेद के अतिरिक्त वस्तुओं की कोई व्यवक्तिव सत्ता नहीं है। यदि भेद की ही
 सबसत्ता मान ली गई तो घट-पट आदि व्यवहार करने की स्थिति भी नहीं रहनी।
 भेद का व्यवहार न करके घट-पट आदि का व्यवहार अनुभवगम्य है। अतः वस्तु का
 स्वरूप भेद को कैसे माना जा सकता है? २

'भेद ग्रहण में प्रतियोगी का ग्रहण भी अनिवार्य है। घट के भेद के आकलन
 के लिए पट की उपस्थिति भी आवश्यक है। अतः भेद में प्रतियोगी की स्थिति है।
 अतः घट के स्वरूप के रूप में भेद मान लेने पर भेद में ही स्थित पट को भी घट के
 स्वरूप में मानना होगा। अर्थात् आश्रय में पट रहेगा। क्याकि भेद बिना प्रतियोगी
 के अपूर्ण रहता है। ३

'भेद से भिन्न वस्तु की कोई सत्ता नहीं है, अर्थात् घट पट भेद के अतिरिक्त
 कुछ नहीं है। भेद ही वस्तु का स्वरूप, मध्य मत में, प्रतिपादित किया है। किन्तु
 पान के क्रम पर विचार करने से जात होता है कि, घट के पान के उपरांत पट का
 पान होता है, तथा ये दोनों ज्ञान एक-दूसरे से भिन्न हैं। अतः घट की पट भेद से
 भिन्न कुछ-न-कुछ स्थिति अवश्य है। अर्थात् भेद के अतिरिक्त भी घट का अपना
 स्वरूप है। अतः भेद को घट का स्वरूप मानना अनुचित है। ४

१ श्री हृष—यदि स्वरूप भेद स्यात्तदा घमिणी दृष्टे स्वरूप दृष्टमिति क्वचिन्न
 सदेह स्यात्।' खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ २१०

२ अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १३३

३ श्रीहृष—खण्डन खण्डखाद्य, पृष्ठ ११२

४ चित्तुख—तत्त्व प्रदीपिका, पृष्ठ १६८

माध्य मत के अनुसार घट और पट का यदि प्रत्यक्ष जानना है, तो जब यह घट ज्ञान प्राप्त हो रहा है तब घट का प्रतियोगी पट होगा। भेद घट का स्वरूप है। भेद का ग्रहण प्रतियोगी के बिना सम्भव नहीं है। अर्थात् 'घट ज्ञान के हेतु पट का प्रतियोगी के रूप में उपयोग होगा। इसी भाँति पट के ज्ञान में घट प्रतियोगी होगा। अतः घट पट इन दोनों के ज्ञान में अयो-याश्रयता नामक दोष है। एक के ज्ञान के लिए दूसरे की अपेक्षा है दूसरे के ज्ञान के लिए पहले की। इन दोनों को अपने ज्ञान के लिये अयो याश्रय ग्रहण करना पड़ेगा।

नृसिंह शर्मा के अनुसार किसी भी वस्तु के भेद के ज्ञान को प्राप्त करने में वस्तु ज्ञान विशेष्य होता है तथा भेद ज्ञान विशेषण। उदाहरण के लिए घट के भेद के ग्रहण में घट ज्ञान विशेष्य है तथा भेद ज्ञान विशेषण। द्वैत मत के अनुसार यदि भेद वस्तु का स्वरूप है तब विशेषण एवं विशेष्य को एक ही तत्त्व मानना कैसे सम्भव होगा? क्योंकि विशेषण एवं विशेष्य दो पृथक् तत्त्व हैं। रक्त रण एवं गौ दोनों का पृथग्बोध प्राप्त होता है। इसलिए विशेषण विशेष्य के पृथक् ज्ञान का समाधान, भेद को वस्तु का स्वरूप मान लेने पर कैसे दिया जा सकेगा? १

भेद को यदि वस्तु का स्वरूप माना गया, तब वस्तु में सर्वांगत भ्रमात्मक एवं सदिग्ध ज्ञान का समाधान कैसे होगा? भ्रम पूर्ण ज्ञान अनुभव का विषय तो है ही। यथित की होने वाले भ्रम तब सदिग्ध ज्ञान की सत्ता निर्विवाद है। इन प्रसंगों में वस्तु भिन्न ज्ञात होती है। भिन्न ज्ञात होने पर भी, वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं है। भेद के वस्तु स्वरूप मान लेने पर भेद बोध होने पर वस्तु बोध मानना चाहिए। भ्रम सदिग्ध ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान के जबसरो में भेद बोध तो होता है पर वस्तु का वास्तविक बोध नहीं होता अतः यही निष्कर्ष ग्रहण करना होगा कि भेद वस्तु का स्वरूप नहीं है।

सर्वकारमभुनि के अनुसार प्रत्येक सापेक्ष पदार्थ मिथ्या है। नद भी सापेक्ष है अतः वह भी मिथ्या है।

भेद का यारयान दो ही प्रकार में किया जा सकता है। वह धर्म स्वरूप हो अथवा धर्म स्वरूप। यदि भेद को वस्तु का धर्म कहा जाय तब अयो-याश्रय एवं अनवस्था दोष हाने। यदि उसे धर्म में सबथा भिन्न मानें तो भी वही दोष हाने। २

भेद और वस्तु में अभेद मानने पर भेद की स्वयं की स्थिति ही सदिग्ध हो उठेगी। यदि वस्तु और भेद में अभेद है तब अभेद के कारण एतद् ही तत्त्व रहेगा। वह तत्त्व वस्तु ही होगा। वस्तु न रह कर केवल भेद रह यह सम्भव नहीं है। दोनों

१ तत्त्वप्रदीपिका पृष्ठ १६६

२ डा० क० नारायण एन आउट लाइन आफ मध्व फिलोसफी पृष्ठ ६७

अभिन्न है। इसलिए एक का ही स्थित ही पाना सम्भव होगा। ऐसी दशा में स्थिति वस्तु की ही होगी। यदि वस्तु ही न रही तो वस्तु के अभाव में भेद का भी अभाव मानना होगा। जो वस्तु जिससे अभिन्न है वह उसके अभाव में स्वयं भी नहीं रह सकेगी। अतः भेद को वस्तु स्वरूप नहीं माना जा सकता।^१

भेद को यदि धर्मस्वरूप कहा गया तो भी वस्तु का बोध नहीं हो पावगा। भेद का स्वरूप विदारक होना है। अर्थ से पृथक्ता प्रतिपादित करना ही उसका उद्देश्य है। वस्तु में अर्थ अनेक वस्तुओं की विचारकता देखते हुए निष्कर्ष ग्रहण करना होगा कि भेद भी अनेक हैं। यदि भेद वस्तु का स्वरूप है तथा विदारक होने के कारण वह अनेक है तो उससे अभिन्न वस्तु में भी अनेकत्व होगा। यदि वस्तु के स्वरूप बोध के पूर्व ही उसका एकत्व नष्ट हो गया, तब उसका बहुत्व अथवा अनेकत्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि बहुत्व एकत्व के उपरान्त ही, सम्भव है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप शून्य होगा।^२

अद्वैत वेदांत के उपयुक्त तर्कों के आधार पर भेद के स्वरूप निर्धारण के प्रयत्न का सफलता नहीं मिल सकी। भेद को अविद्याजनित मानने के कारण उसका प्रबलविरोध हम मल की विद्वानों द्वारा किया गया। भेदाभेदवादी विचारकों भर्तृहरिप्रसाद, भास्कराचार्य, रामानुज एवं निम्बार्क आदि के द्वारा भेद के स्वरूप के विषय में एक भिन्न दृष्टिकोण को उपस्थित किया गया। इनके अनुसार वस्तुओं में भेद और अभेद दोनों ही रहते हैं। कारण की दृष्टि से विचार करने पर मूर्तिका में निर्मित सम्पूर्ण पदार्थों में अभिन्नता है। काय की दृष्टि से घट दीप आदि में परस्पर भिन्नता है। इस प्रकार वस्तु में भिन्न और अभिन्न दोनों ही स्थितियाँ पाई जाती हैं। भेद की वास्तविकता अभेद से किसी भी प्रकार से हीन नहीं है।

भेदाभेद का यह व्याख्यान बादा के सूत्रवाद एवं वेदांत के अद्वैतवाद के अनुकूल नहीं था। परिणामतः इन दोनों पक्षों के विचारकों द्वारा इसका विरोध किया गया। उक्त मत में वस्तुओं में भेद और अभेद उनके वैशिष्ट्य के कारण है। वस्तुओं की व विवेकताएँ कौन-सी हैं जो इन वस्तुओं के भेद एवं अनेकता को प्रमाणित करती हैं? क्या वे भिन्न हैं अथवा अभिन्न? यदि वस्तु से ये विवेकताएँ अभिन्न हैं, तब अभिन्न होने के कारण या तो भिन्नता ही रहेगी अथवा अभिन्नता। भिन्नता और अभिन्नता की

१ मुद्देवर— भेदे तु एवमेव तच्च धरत्वव । न भेद एव । वस्तुभावे तस्याप्य-
भावाद् । इष्टसिद्धि, पृष्ठ १६

२ धान-दयोध— विदारणात्मनो भेदस्य वस्तुस्वरूपत्व न विचार्य वस्तु स्यात् ।
एव च गणयत्व तात्त्विकी विश्वस्याप्येत । 'याय मकरन्',
पृष्ठ २२

एक साथ वहा स्थिति सम्भव नहीं होगी। भिन्न मानना भी अनुभवगम्य नहीं है। विशेषण विशेष्य से भिन्न रूप में ज्ञात नहीं होते। न तो विशेषण वस्तु से पूणत भिन्न है और न अभिन्न, अतः इन दो विकल्पा के अस्वीकृत हो जाने पर विशेषण और विशेष्य का परस्पर भिन्नाभिन्न मानने के अतिरिक्त अन्य कोई माग नहीं रहता। विशेषण जो वस्तु के भेदाभेद के समूचक हैं स्वयं भी वस्तु से, विशेष्य से भिन्नाभिन्न रूप में सम्बद्ध है इस प्रकार भेदाभेद को सिद्ध करनेवाले विशेषण, स्वयं की सम्बद्धता के लिए भी भिन्नाभिन्नता पर आधारित हैं। यह दगा अनवस्था दोष का ही प्रमाणित करेगी। अद्वैत विचारक अनवस्था दोष के कारण ही भेदाभेदविषयक सिद्धांत स्वीकार नहीं करते।^१

मध्व मत में वस्तु का स्वरूपभूत भेद वस्तुतः सत्य है।^२ किन्हीं भी दो वस्तुओं में पारस्परिक भिन्नता होने पर दोनों का एक दूसरे से भिन्न होना स्वरूप ही है। मध्व ज्ञान का स्वरूप भिन्न एव विशेषयुक्त मानत हैं। जो वस्तु विशेषणों से सम्बद्ध होगी, वह विशेषणों के ही कारण अथवा सभी वस्तुओं से भिन्न होगी। इस ज्ञान के विशिष्ट एव भिन्न स्वरूप के ममानांतर ही मध्व की भेद सम्बन्धी मायता है। भेद न तो पृथक् रूप से ग्रहीत कोई विशेषण है और न स्वतंत्र पदार्थ। भेद वस्तु का स्वरूप ही है। वस्तु के सविशेषरूप को ही भेद का अपर पर्याय कहा जा सकता है।^३ वस्तु विशेषणयुक्त एव भावात्मक है। वह भेद अभिन्न है अतः भेद भी भावात्मक है। वस्तु की निश्चित भावात्मक स्थिति उसकी अन्यत्र स्थिति की सम्भावना को निषिद्ध करती हुई, भेद प्रतिपत्ति है। इस प्रकार भेद को अयोयाभाव के रूप में भी व्याख्यात किया जा सकता है।^४ भेद का अयोयाभावरूप निरूपण उसके भावात्मक रूप को प्रमाणित करने के हेतु सहायक सिद्ध ही सकता है क्योंकि अयोयाभाव में दो वस्तुओं की भिन्न सत्ता की उपस्थिति अनिवाय है। बिना भेद ग्रह के अयोयाभाव के प्रसंग की भी कोई सम्भावना नहीं रहती। इसी लिए मध्वमतानुसार भेद वस्तु स्वरूप है। वह सत् है। वस्तु से भिन्न जगत् की अथ सम्पूर्ण वस्तुओं की सत्ता के समान सत्ता में है।

✓ भेद की यही मायता मध्व मत को स्वीकार्य है। इसी को स्वरूपभेद कहा गया है। भेद वस्तु के स्वरूप से अभिन्न है स्वरूप ही है। यह विचार अद्वैत वेदांत ✓ के समर्थकों के विचार से सदा भिन्न है। अद्वैत विचारक भेद को मिथ्या एव

१ काश्मीरक सदानन्द—अद्वैत—ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १३७

२ 'यामतीथ—सत्यम् भेदवस्तु वस्तुना स्वरूपम् नात्र सहाय ।' यायामृत, पृष्ठ ५५८

३ वही — वस्तुतस्तु अस्मिन् मत भेदो वस्तुना सविशेषाभिन्न ।' पृष्ठ ५६२

४ वही —पृष्ठ ५५१

✓ अनिवचनीय मानते हैं। मध्य मत के विद्वानों ने इस मत के तर्कों का खण्डन किया है।

अद्वैत-मत में स्वरूपभेद के विरोध में तब प्रस्तुत करने का कारण मूलाधार के रूप में ब्रह्म रूप में सिद्ध एवं निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता है। सापेक्षता का पक्षधरान द्वैत में होता है। द्वैतात्मक प्रतीति भ्रांतिजन्य है। प्रतीयमान भेद ब्रह्म पर नानात्मकता के आरोप के कारण है।^१

मानवमानुषादिषुओं के अनुसार मापेय वस्तुओं का निरपेक्ष वस्तुओं से सम्बन्धित न हो पाना मह वहीन तब है। जिस तत्त्व की अद्वैत विचारक परिस्थिति विधि में सापेक्ष एवं अन्य परिस्थिति में निरपेक्ष निरूपित करते हैं वह भी भेद का आशय लेकर ही प्रतीति का विषय बनता है। इस तथ्य का अभाव के उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है; अभाव, निरपेक्ष रूप से विचार करने पर किसी भी वस्तु से सम्बन्ध नहीं है किन्तु जब अभाव के माय किसी वस्तु विशेष की सापेक्षता जुड़ जाती है, जैसे घट का अभाव तब घट की सत्ता का प्राग्भावाव अथवा प्राग्भावाव घट से सम्बन्ध ही जान होना है। अर्थात् एक ही तत्त्व निरपेक्ष एवं सापेक्ष हो सकता है। ब्रह्म भी निरपेक्ष एवं प्रकृति जीव की अभिव्यक्ति के आशय के रूप में सापेक्ष दोनों ही प्रकार का है। यह सापेक्षतादि का वाच्य भेद के ही कारण है।^२

अद्वैत मतानुयायी स्वयं स्वीकार करते हैं कि एक निरपेक्ष वस्तु सापेक्ष रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। जाव और ब्रह्म का ऐवम भी जीव तथा ब्रह्म इन दोनों की अपेक्षा रखता है। वस्तुओं में जाति की भावना भी साकल्य-वेदात के विचारक ग्रहण करते हैं। यह सभी बिना भेद की सत्ता माने बिना सम्भव नहीं है।

प्रत्येक वस्तु को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक तो उसे किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा रखते हुए जाना जाए, दूसरे सभी से निरपेक्ष रूप में देखा जाये। एक घट को अन्य पद आदि वस्तु से निरपेक्ष रूप में देखा जा सकता है। साथ ही उसे घट की अपेक्षा में अर्थात् पद से भिन्नानि रूप में देखा जा सकता है। इन दोनों प्रकार के दोष में जिस वस्तु का बोध हम प्राप्त कर रहे हैं, वह घट ही है। एक निरपेक्ष बोध है दूसरा सापेक्ष। इसलिए यह सबथा तब विच्छेद कथन होगा कि, कोई वस्तु निरपेक्ष और सापेक्ष एक साथ नहीं हो सकती।

मध्य मत के इस कथन के विरोध में कहा जा सकता है कि, 'उक्त तर्क स्वीकार कर लेने पर भाव और अभाव को एक साथ मानना होगा। ऐसी मान्यता तर्कमूल होगी। इन विचारकों का कथन है कि, भाव और अभाव की एकाग्र स्थिति में विरोध के दसन करने वाले बिना भाव और अभाव के एक ही आशय को नहीं

१ श्रीहृष—खण्डनखण्डशास्त्र, पृष्ठ १२८

२ व्यासतीर्थ—पापापृष्ठ, पृष्ठ १५१

मानने हैं। प्रत्यक्ष वस्तु अपनी मता का भाव स्वतः प्रमाणित करके अथ सभी भिन्न वस्तुओं का अभाव भी वही प्रमाणित करती है।^१

भाव और अभाव का एक ही स्थान पर रहना मध्य मत में स्वीकृत विषय नामक तत्व के कारण सम्भव है। इस प्रकार के अथ सभी जव्याख्यय प्रसंगा का समाधान 'विशेष' के द्वारा ही किया गया है। उदाहरण के लिए भेद और अभेद, द्रव्य गुण आदि का सम्बन्ध इसी तत्व के द्वारा प्रतीत हो सकता है।^२

अद्वैत विचारका का कथन है कि भेद में प्रतियोगी की उपस्थिति अनिवाय है। यदि भेद वस्तु स्वरूप हुआ तो वस्तु में उसके प्रतियागी की स्थिति भी ग्रहण करनी होगी। इस तक के विरुद्ध 'यासतीथ का उत्तर है कि प्रतियागी को भेद के स्वरूप से अनिवायत सम्बद्ध मानने की भ्रांति के कारण ही उक्त तत्त्व उपस्थित किया गया है। भेद का द्रव्य मान लन के उपरांत ही प्रतियागी तथा भेद के आश्रय की एकता मानी जा सकेगी। मध्य मत ने स्वरूप भेद का प्रतिपादन नहीं किया है। भेद के बोध के प्रसंग में प्रतियागी केवल समूचनात्मक है। वह अनिवायत भेदाश्रय का भाव नहीं है। प्रतियोगी का केवल यही उपयोग है कि वह धर्मों को स्वतः सभिन्न सूचन करे। घट जान के प्रसंग में पट का काय पट सभिन्न घट की सूचना मान देता है। ऐसी दशा में पट कभी भी भेद अथवा भेद के आश्रय का अवयव नहीं बना है। भेद के जान में प्रतियोगी के उपयोग का ध्यान में रखने पर उक्त तत्त्व व्यर्थ प्रमाणित हो जाता है।

'भेद के विदारणात्मक होने के कारण वस्तु का स्वरूप भेद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहेगा। नृसिंह गमा जाति के इस कथन के विरुद्ध अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए 'यासतीथ ने कहा कि 'यह तक भी भेद के वास्तविक स्वरूप के आकलन में भ्रम के कारण है। भिन्नता के बोध में भेद उपान्त एव निमित्त कारण है यह भ्रांति ही पूर्वोक्त विरोधी विचार का आधार है। इसी के कारण जनवस्थादि दोषों का ग्रहण, स्वरूप भेद में, इन विचारको न माना है। भेद विदारणात्मक नहीं है अर्थात् भेद का कारण नहीं है जसा कि उक्त विद्वानों ने आरोपित किया। भेद स्वयं विदारण क्रिया है। यह स्वयं कारण की अपेक्षा काय ही है।^३ मध्यमतानुयायियों के अनुसार भेद वस्तुतः वस्तुओं का पारस्परिक निषेध है। यह जयो-याभाव वस्तुओं

१ डा० के० नारायण—क्रिटिक आव मध्य रेफून्शन आव वदा त, पृष्ठ १८८

२ जयतीथ—परस्परविरुद्धयोर्भेदाभेदयोरेकत्रावस्थानघटनायामपि विशेषस्यागी कारात्। पायामुधा, पृष्ठ १०६

३ यासतीथ—वस्तुतस्तु भेदो न विदारक किंतु विदारणम्। पायामृत, पृष्ठ ५५४

का अपना स्वरूप ही है। वस्तु के विशेष रूप से यह भिन्न नहीं है।^१

भ्रम और सन्देह के आधार पर भी स्वरूप भेद के विचार का प्रतिरोध किया गया था। भेद को वस्तु के प्रत्यक्ष के साथ प्रत्यक्ष मान लेने पर भी भ्रम और सन्देह के प्रसंगों में भेद का ग्रहण नहीं हो पाता। यह बोध का अभाव सादर्यादि दोषों के कारण है। इतने मत के अनुसार एक वस्तु असंख्य प्रकार के विशेषणाधायक भेदा से युक्त है। उनमें से कोई भी एक सान्द्र्य, दूरत्वादि दोषों से द्रष्ट हो सकता है। उन्हीं दोषों के कारण भेद के ग्रहण न होने पर भ्रम एवं सन्देह के प्रसंगों की स्थिति है। उदाहरण के लिए सापी जगत् के अथ पदार्थों, चादी सोने आदि, से सबथा भिन्न है। यह सभी भेद का आधायक सापी का प्रतियोगी है। सापी का ज्ञान के साथ ही, स्वर्णादि से उसके भेद को भी ग्रहण कर लिया जाता है। रजत के साथ सापी की समानता के कारण ज्ञान का विषय सदिग्ध हो जाता है कि यह रजत है अथवा सापी। वस्तुतः सापी का ज्ञान के साथ ही उसे रजत से भी भिन्न करने प्रतीत होना चाहिए था किन्तु सान्द्र्य नामक दोष के कारण सापी के ज्ञान में सन्देह होने लगा। अतः यहाँ दोष के कारण प्रतियोगी का ज्ञान विन्दुन भी नहीं हो सकता। भेद का ही सम्बन्धना ग्रहण न होने पर वस्तु का भी सम्बन्ध बोध नहीं होगा। इसलिए भ्रम या सन्देह के आधार पर स्वरूप भेद के प्रति अस्वीकृति असंगत है।

स्वरूप भेद के मान लेने पर गुण और गुणी के सम्बन्ध का व्याख्यान भी नहीं हो सकेगा। इस तक के विरुद्ध भी इतने विचारकों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। ज्ञान का स्वरूप सविशेष होने के कारण सम्बन्ध में गुण एवं गुणी के पारम्परिक सम्बन्ध का विषय में सावधानी से विचार किया गया है। द्रव्य और गुण का सम्बन्ध स्पष्ट करना अत्यन्त दुर्लभ विषय है। इतने मत में यह वाय विशेष नामक तत्व से सम्बन्ध किया गया है।^२ गुण द्रव्य तथा वस्तु और भेद आदि के सम्बन्ध का व्याख्यान इसी आधार पर किया जा सकता है।

मुख्यतः 'यायमुधा एव' यायामृत में तथा अथ कतिपय ग्रन्थों में सम्बन्ध विचारकों ने बहुत विस्तार से विरोधियों के द्वारा प्रस्तावित तर्कों का खण्डन एवं विद्वत्तापूर्ण उत्तरों के द्वारा खण्डन किया गया है। इसके अनिश्चित भी काल में स्वीकृत 'भ्रमेद' का खण्डन भी इन विचारकों ने अत्यन्त प्रसन्नता से किया है। 'अभेद' खण्डन के प्रयासों का पचवसान अन्त में भेद सिद्धि में ही होता है।

जीव और जगत् की अन्त में एवता वास्तविक है अथवा अवास्तविक एवं

१ यासतीय—न स्वरूपमात्र न किन्तु अपो-याभाव म च वस्तुना सर्वदोषा-
भिन्न ।' पृष्ठ ५५२

२ जयतीय—यायमुधा, पृष्ठ १०६

मिथ्या ? यदि यह ऐक्य वास्तव में है, तब शंकर मत के अद्वय-तत्त्व की स्थिति कैसे सम्भव हो पायेगी ? ऐक्य के लिए इन तत्वों का होना आवश्यक है तभी तो ऐक्य होगा। इन तत्वों की भिन्न स्थिति के अभाव में ऐक्य की सम्भावना ही कहा है ? यदि इस एकत्व को अविद्याकृत, मिथ्या अथवा आरोपित स्वीकार किया जावे, तब तो यही निष्कप प्रकारांतर से ग्रहण करना होगा, कि भेद सत्य है। यदि पूर्वपक्षी विद्वान् यह कहे, कि जीव ब्रह्म के ऐक्य के मिथ्यात्व से उनका अभिप्राय केवल 'ऐक्य' के आरोपितत्व से है, तो व्यासतीर्थ इसे भेदवाद की समयक स्थिति ही मानते हैं।^१ आरोप के प्रसंग में आरोप विषय और आरोप्यमाण इन दोनों वस्तुएँ की सत्ता का निषेध किसी भी प्रकार से अभीप्सित नहीं है। यहाँ केवल एक वस्तु में दूसरी का आरोप, दोष विशेष (सादृश्यादि) के कारण होता है किन्तु उन दोनों की सत्ता को किसी भी रूप में अस्वीकृत नहीं किया गया है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म के एकत्व की विवेचना में यदि एकत्व ब्रह्म पर आरोपित है तो ब्रह्म स भिन्न तत्व की सत्ता इस आरोपण से स्वतः सिद्ध हो गई। अतः एकत्व को न तो वास्तविक माना जा सकता है न अवास्तविक। इसमें भिन्न तत्वों की द्वय परक भेदात्मक मायता सब जन सद्यः है। किसी भी विषय के प्रामाणिक बोध का आधार अनुभव ही है। यह अनुभव इन तत्वों की भेदात्मक स्थिति का ही स्पष्टतया प्रतिपादन करता है। शंकर एवं मध्व मत के विद्वानों के परस्पर विवाद की उत्पत्त वस्तुतः एव दीर्घ कालीन परम्परा है। जयतीर्थ एवं व्यासतीर्थ आदि प्रमुख टीकाकारों ने मध्व का अनुसरण करते हुए तब की प्रबल क्षमता का प्रदर्शन किया है। इस विवाद में द्वय सम्प्रदाय के आचार्यों को तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। शंकर मत के विद्वानों का विरोध भेद की प्रत्येक दशा में निवृत्ति से नहीं है। व्यावहारिक दशा में तो भेद को वह भी स्वीकार करते हैं। भेद का निषेध केवल पारमाधिक स्तर पर ही है। अद्वय ब्रह्म को ही आत्यंतिक स्थिति मानने के कारण परमाद्यत भेद का ग्रहण असम्भव है। इस प्रकार इस मत के विचारक भेद का विरोध पारमाधिक दशा में ही करते हैं व्यावहारिक दशा में नहीं। अतः विरोधक स्वर उतना तीव्र नहीं है।^२

व्यावहारिक दशा में भी इनका जो विरोध है वह मध्व स्वीकृत भेद की मायता के ग्रहण में स्वरूप सम्बन्धी विवेचन के कारण है। शंकर मतानुयायियों का कथन है कि भेद को प्रत्यक्ष सिद्ध मान लेने के उपरांत भी उसकी सत्ता निसर्दिग्ध नहीं रहती। प्रत्यक्ष भी व्यावहारिक अवस्था में ही ज्ञान का उपकरण मान है। उसे पारमाधिक रूप से निषिद्ध कर देना कोई बाधा नहीं है। अतः भेद सम्बन्धी अद्वय-

१ व्यासतीर्थ—यायामृत पृष्ठ ५६०

२ मधुसूदन—अद्वयब्रह्मसिद्धि पृष्ठ ५८७

मत का विरोध प्रत्यक्ष विम्वद होने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से उपस्थित किया जा सकता है।

मधुसूदन के भेद सम्बन्धी तर्क अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अद्वैत मन के दृष्टिकोण को समझने के लिए उससे पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है। उससे भेद सम्बन्धी अद्वैत के विरोध के उक्त द्विविध आधार स्पष्ट हो सकते हैं।

मधुसूदन के अनुसार भेद एक सापेक्ष मापता है।^१ उसका निरपेक्ष तत्त्व से सम्बन्ध होना असम्भव है। उसकी सापेक्ष रूपावधि भ्रम के कारण है। निरपेक्षमात्र होना उस तत्त्व का स्वभाव है। मध्व का वस्तु को निरपेक्ष एवं सापेक्ष उभय विधि मानना असंगत है। उभय विधि मानने पर वास्तविकता के मूलाधार अविरोध का अतिक्रमण होना है। इसके अनिश्चित यह भी मानना होगा कि यदि एक ही वस्तु में सापेक्षता निरपेक्षता एक साथ रह सकती है तो भाव और अभाव जैसी परस्पर विरुद्ध स्थितियाँ भी एक ही वस्तु में है। 'प्रत्येक वस्तु में स्वरूपतः भाव तथा अन्य वस्तुओं के सदृश में अभाव प्राप्त होता है।' ध्यासतीर्थ का यह तर्क भी उचित नहीं है। अद्वैत-विचारक स्वीकृति और निषेध की एकत्र स्थिति का विरोध इसलिये करता है कि निषेध उस तत्त्व का है जो प्रतियोगी के रूप में स्थित है। भाव और अभाव की एकत्र स्थिति को तो अद्वैत विद्वानों ने भी माना है। निरपेक्षता के उदाहरण में सापेक्षता प्रतियोगिनी है। उसका निषेध यहाँ किया गया है। विरोधी तत्त्व होने के कारण ही वह प्रतियोगिनी थी। उसकी यहाँ स्थिति कैसे हो सकती है? सापेक्षता भ्रम का यही है। इसलिए निरपेक्ष धर्मों में सापेक्षता का रहना मवधा असम्भव है। भेद भी सापेक्ष है, अतः वह भी निरपेक्ष धर्मों से सम्बन्ध नहीं रह सकती।

प्रतियोगी भेद ग्रहण में अनिर्वाय है। यदि भेद वस्तु का स्वरूप है, तो प्रतियोगी को भी वस्तु का स्वरूप मानना होगा। मधुसूदन ने इस तर्क को और अधिक स्पष्ट करत हुए व्यक्त किया कि प्रतियोगी को केवल समुच्च नात्मक मानना मध्व-सम्मत भेद के स्वरूप का ग्रहण करने के बाद सम्भव नहीं होगा। यदि भेद वास्तविक एवं वस्तु रूप है तो भेद ज्ञान से सवधा सम्बन्ध प्रतियोगी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह भी भेद ज्ञान के साथ अनिर्वायत सम्बन्ध है। भेद के प्रत्यक्ष में धर्म एवं प्रतियोगी की समानाधिकरण रूप से सम्बन्ध प्रतीति होती है।^२ उदाहरण के लिए—'जब यह कहा जाता है कि 'घट पट नहीं है', तब तुरन्त ही दा विचार उदित होते हैं। घट तथा पट एक चक्षुष्य के रूप में, तदुपरांत घट की प्रतीति। यह दोनों

१ मधुसूदन—'प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकतत्त्वविषयत्वेन विरोधित्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्।'

पृष्ठ ५८८

२ वही—अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ७६५

प्रतीतिया निषेध से सम्बद्ध हैं यह भी अनुभव सिद्ध है। ऐसी दशा में यदि स्वरूप भेद को स्वीकार कर लिया गया, तो प्रतियोगी को भी उससे सम्बद्ध मानना ही होगा, अथवा उक्त मान्यता अनुभव विरुद्ध होगी।

अद्वैत मतानुयायी भी व्यावहारिक अवस्था में धार्मिक एव प्रतियोगी का एकत्रा वस्थान नहीं मानते किन्तु भेद की वास्तविकता को इतना अधिक महत्त्व देने पर तथा उसे धर्म के स्वरूप से निकटतम रूप में सम्बद्ध कर देने पर तो उक्त निष्कर्ष ही माध्व विचारको को ग्रहण करना होगा। भेद के सम्बन्ध में व्याप्त इस ऊहापोह के समाधान का एक ही माग है कि भेद को मिथ्या मान लिया जाए।

पारमार्थिक दृष्टि से किसी भी सम्बन्ध की कोई सत्ता ही नहीं है। वे सभी मानस प्रसूत मात्र हैं। भेद भी मानस सृष्टि ही है अतः परमायत उसका ग्रहण सम्भव नहीं है। माध्व विचारक भी भेद को वस्तु का एक पक्ष ही मानते हैं। उनके अनुसार स विचार करने पर भी भेद की सत्ता मानस (Conceptual) है। साथ ही निष्कर्ष के रूप में उनको भी यही मानना होगा कि यह मानवीय ज्ञान पर आश्रित है। यदि वे अपने तक के क्रम में और आगे बढ़ते तो वे भी सम्भवतः इसी निष्कर्ष पहुँचते।^१

माध्व विचारक भेद को विदारण (वाय) मानते हैं विदारणात्मक (कारण) नहीं। यह स्वीकार करने पर भी माध्व अपने द्वारा स्वीकृत भेद की स्थिति बचा नहीं सकते। अन्ततोगत्वा भेद का आश्रय गूँथ के रूप में ही अवशिष्ट रहेगा। यदि भेद विदारण है, तो विभाग विभजनीय तत्त्व पर आश्रित है। विभाग के लिए कम से कम दो भागों की स्थिति आवश्यक है। ये दो भाग विदारण होने के कारण पुनः विभिन्न ही हैं। भिन्न होने के लिए भी पुनः दो भागों की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार वस्तु को भेद विदारण मानने पर विभाजन का यह क्रम कहा तक चलेगा? इस प्रकार का भेद ग्रहण वस्तु रूप निर्धारण में अनवस्था प्रसंग का सूचक होगा। यदि वशेषिक और 'याय-सम्मत परमाणु तक विदारण का सगति सिद्ध करते हुए पहुँचे भी तो परमाणु भी विदारण होने के कारण अवयवों से युक्त माना जावेगा। घट के बोध में घट तो दूर उसके सूक्ष्मतम अवयव एक परमाणु का भी रूप नात नहीं हो पा रहा है। ऐसी दशा में स्वरूप भेद की मान्यता या तो अनवस्था प्रसंग तक पहुँचा देगी अथवा वस्तु के स्वरूप के विषय में सूक्ष्मता का ही बोध करावेगी।^२

मधुसूदन श्री ह्य तथा नसिंह शर्मा आदि विद्वानों के प्रबल खण्डन के सम्मुख द्वैत विचारक भेद के स्वरूप की सबल स्थापना नहीं कर सके। अपने मत पर लगाए

१ डा० के० नारायण त्रिपट्टिक आर्य माध्व रेफूटेजान आर्य चर्चात पृष्ठ १६४

२ मधुसूदन—अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ७६५ ६६

एक आक्षेपों की अपेक्षा उन्हीं अभेद के स्वरूप के खण्डन का ही प्रयास अधिक किया है। डा० दासगुप्ता ने भी भेद-सम्बन्धी विवाद में इस मत की, तार्किक प्रतिपादन की दृष्टि में दुबलता स्वीकार की है।^१

भेद की मत्ता स्वतः विद्वद् होते हुए भी मानव चिन्तका ने जिस प्रबल एवं अतिवादी आग्रह के साथ उसका स्वरूप विवचन किया उससे स्वरूप की तार्किक व्याख्या में अनेक असंगतियाँ आ गइं। उन्हीं असंगतियों में से कुछ की मधुसूदन ने विरोध का आग्रह बनाया है। उनके अतिरिक्त प्राप्त होने वाला विवेचन प्रायः सा दो ग्रीवा है। वस्तु और भूत में नाकारण्य मानना इन विचारकों की अद्वय-तत्त्व की निर्णय धारणा के विरुद्ध सीमा-तत्त्वों की प्रतिक्रिया थी। एक बार भूत के स्वरूप को इस रूप में प्रतिपादित कर लने के उपरांत उस व्याख्या में पाएँ हुए तत्त्व सम्भार नहीं था परिणामतः परवर्ती विद्वान् भूलका ने स्वमतखण्डन में उतना आग्रह नहीं किया जितना प्रयास कि परमतखण्डन में किया।

मध्य प्रत्यक्ष एवं श्रुति का आशय लेकर ईश्वर जीव एवं जड़ तत्त्व के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित पाँच प्रकार के भेद मानने हैं।

- १ ईश्वर का जीव से भेद।
- २ ईश्वर का जड़ पदार्थ से भेद।
- ३ जीव का जीव से।
- ४ जीव का जड़ पदार्थ से।
- ५ जड़ पदार्थ का जड़ पदार्थ से भेद।

मध्य मूलतः स्वतंत्र और अस्वतंत्र तत्त्व ही मानते हैं। वे परस्पर भिन्न हैं। स्वतंत्र ईश्वर है अथवा सभी परतन्त्र है किन्तु भेद की स्थिति को महत्त्व देने की अभिप्राय का कारण उन्हीं केवल भेद को ही स्वीकार किया अपितु जीव से जीव एवं जड़ से जड़ पदार्थ के भेदों को अपनी दार्शनिक मापता के अंतर्गत स्थान दिया।

मध्य विरोधी विचारकों का कथन है कि ब्रह्म तत्त्वसम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र में जड़ एवं ब्रह्म के अन्तर का भी प्राप्ति किया जा सकता है, किन्तु जीव से ब्रह्म की भिन्नता का प्रतिपादन उसमें नहीं प्राप्त होता। अनुव्याख्यान का प्रारम्भिक पृष्ठों में ही मध्य ने इस सन्दर्भ में विचार किया है। पहल सूत्र में ब्रह्म की जिज्ञासा का उन्नेय है। जिज्ञासा एक क्रिया है। उसके निष्कर्ष और विषय का होना आवश्यक है जिज्ञासा एव जिज्ञास्य के अभाव में जिज्ञासा का भी अभाव होगा। इनके रहने पर ही जिज्ञासा रहेगी। वेदान्त सूत्र के अनुसार जिज्ञासा जीव है, जिज्ञास्य ब्रह्म।

१ डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिन्दी भाषा दर्शन पत्रिका की भाग ४, पृष्ठ १७६

दूसरे सूत्र में ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या है। ब्रह्म स ही इस (जड़ चेतन तत्त्वा) का उद्भव है। जमादि मग्रहीत आदिपदस अभिप्राय मव सम्प्रत्यायानुमार— स्थिति नाश, नियति, ज्ञान, जावति बच एव मोः है।^१ यह परिभाषा भी जीव एव ब्रह्म के भेद को प्रमाणित करती है। जीव इन आठ प्रकारों में से किसी भी प्रकार से जगत् को अतीत किए हुए नहीं है।^२ जीवों में स्थित साक्षि चतय भी जो सभी प्रकार के ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय करता है जीव और ब्रह्म के भेद का पापका है। पवित्रगत भेद-परव अनुभूति व होत नए जीव ब्रह्मक्य का कथन कैसे किया जा सकेगा ?^३ श्रुतियों का अभेद परव कथन प्रकारानुसार में समाहित किया जा सकता है। इसका अतिरिक्त साक्षि उपजीव्य होने के कारण श्रुति से भी प्रबल है। श्रुति और साक्षि के विरोध उत्पन्न होने पर साक्षि को प्रमुखता दी जा सकेगी। इस प्रकार के श्रुति वाक्य दो प्रकार से विरुद्ध प्रमाणित होते हैं। साक्षि चतय द्वारा प्रमाणित भेद से यह विरुद्ध है। य वाक्य उन श्रुति वाक्यों के भी विरुद्ध हैं जो उनकी सवन्तता सवनियामकतादि प्रतिपादित करते हैं। अतः अभेदपरकता की सिद्धि के लिए प्रयुक्त वाक्यों का अभिप्राय मात्र आधीनता की सूचना देना है न कि अभेद प्रतिपत्ति।^४ डा सुपर्णा तथा अतर्यामी इत्यादि श्रुति वाक्य लिङ्गादि पद्धति के द्वारा जीव एव ब्रह्म के भेद को ही प्रमाणित करते हैं।^५ इस भेद की सत्यता स्वीकार करना अनिवार्य है।^६

ईश्वर स जड़ तत्त्व भी सचथा भिन्न है। ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण नियामक सहारकर्ता आदि है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय-सूत्र 'ज माद्यस्य यत् के आधार पर सिद्ध करना सहज है कि इन दोनों तत्त्वों में परस्पर मतभेद है। जड़ अचेतन तत्त्व है। ईश्वर चेतन है। स्वतन्त्र है तथा जड़ एव जीव का प्रभु है। यह सभी भेद साक्षि सिद्ध है, इसलिए ईश्वर एव जड़ के भेद को स्वीकार कर लेना चाहिए।

१ मव—अनुव्याख्यान पृष्ठ ४

२ वही—'अतो जीवक्यमपि स निरचक्र जगदगुरु

न हि ज मादि हेतुत्व जीवस्य जगतो भवत् ॥ पृष्ठ १६

३ वही—अनुभूतिविरोधेन वधभेकत्वमुच्यते। पृष्ठ ३५

४ वही—अत्र चोपजीयत्वेन प्रमाणप्राबल्यादेव तात्पर्यमुक्तम्।

विष्णु तत्त्व निणय, पृष्ठ ५

५ व्यामतीथ—यायामृत पृष्ठ ५८६ ६०

६ वनमालिमिश्र—पडविधनात्पर्यालिगप्रतिपादिता भेद सत्य एव।

—चण्डमारत पृष्ठ ५३

इसी भाँति जीव एवं जड़ का अन्तर भी स्पष्ट है। जीव चेतन तत्त्व है। उसमें जड़ पदार्थ के भोग करने की क्षमता है। ईश्वर से नियंत्रित यह जड़ तत्त्व के सहयोग से ही नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है। जीव और जड़ के भेद की अध्यास कृत्वा द्वैत मत के विचारका को माय नहीं है। वे इन तत्त्वों की पृथक् सत्ता मानते हैं, एवं इनमें भेद भी स्वीकार करते हैं।

मनुष्यों की क्षमताओं में अन्तर देखते हुए, उनमें मूल रूप से पारस्परिक अन्तर ग्रहण करना चाहिए। क्या किसी व्यक्ति में प्रतिभा का बाहुल्य एवं दूसरे में सूक्ष्मता उनके अन्तर को स्पष्ट नहीं करती? क्या यह केवल आभास मात्र है? इस भेद को महत्त्व देने के कारण मन्व ने ऐसे वर्ग के जीवों की भी स्थिति स्वीकार की है जो कभी भी मोक्ष नहीं पा सकते। ब्रह्म ही परस्पर भिन्न प्राणियों के कर्मों का प्रेरक है। इत्यादि मध्व-सम्मत कथन इस मत में जीव से जीव की पृथक् प्रमाणित करते हैं।

जड़ पदार्थों में भी परस्पर भिन्नता है। यह भिन्नता काय-जात को दर्शने से नात होती है। घट की विलक्षणता पट की विलक्षणता से भिन्न है।^२ इसमें यदि मूलतः भिन्नता न होती तो, भिन्न काय के रूप में इनकी प्रतीति का प्रसंग भी न होता।

इन सम्पूर्ण भेद प्रकारों के मूल में विरोध नामक तत्त्व है। यही विरोध इन तत्त्वों के भेद की प्रतिपत्ति कराता है। पंचभेद के समयमें जयतीर्थ ने वादावली, ध्यासतीर्थ ने भेदाञ्जीवन आदि ग्रन्थों में विस्तार से तर्क प्रस्तुत किये हैं। यही इनके मत की मूल मायता है। द्वैत की स्थिति के लिए त्रिन तत्त्वों की अपेक्षा है, एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के पारस्परिकता की आवश्यकता है, उन सभी का समाधान पंचभेद के द्वारा हुआ है। तभी मध्व प्रपञ्च को पांच भेदों की प्रवृत्तता ही मानने है।

भेद के स्वरूप विवेचन एवं पंच भेदों की स्थिरीकरण में मध्व ने जिस प्रकार के प्रयास किए हैं, वे बहुत तर्क सगुण नहीं हैं। पांच प्रकार के भेदों को मानना उनकी अतिवाणी दृष्टि का प्रमाण है। यदि जीव एवं जीव जड़ एवं जड़ में भी भेद मानना मध्व को अभीष्ट है तो जड़ एवं जीव के विविध प्रकारों पर आधारित असह्य प्रकार के भेद भी उनको स्वीकार करने होंगे। या तो वह इस प्रकार के अन्तर्गत भेदों के साधन के लिए प्रयत्नार्थित ही नहीं होना चाहिये। यदि वे यत्न करते हैं तो उनको फिर सभी प्रकार के अन्तर्गत भेदों की स्थापना एवं उनकी स्वीकृति देनी चाहिये। निष्कण्य के रूप में मध्व की दुबलता भल ही ग्रहण की जाए, किंतु यही पंच भेदों मध्व मत का मूल आधार है। उसी पर उनके दगन का समग्र प्रसाद निमित्त है।

१ मध्व—भिन्नवर्माण्यप्राणिना प्रेरकम्। द्वादशस्तोत्र, ८।३

२ मध्व—न च घटाद्वलक्षण्यमव पटाद्वलक्षण्यम् ' विष्णुतत्त्वनिर्णय पृष्ठ ६७

पचम अध्याय

ईश्वर तत्त्व

कुतूहल या आन्वयमूलक सृष्टि का कारण की जिज्ञासा, भय एव श्रम म भ्रम प्राण पान की तथा स्थायी सुख प्राप्त करने की अभिप्राया महत् आत्मबल के प्रति आकृष्ट होने को सहजवृत्ति और उसका आत्मबल लवर अध्यात्मिक प्रगति करने की भावना महत् एव अगम्य को सर्वापिण करने की जातुरता उसके साथ अभेद या साम्य भावना की वृत्ति से तथा इनके जैसे दूसरे अनक निमित्त चेतन या जीव मे क्रमशः या एक साथ उत्पन्न होत हैं । इसके परिणामस्वरूप ईश्वर की मायता अस्तित्व मे आती है ।^१

✓ ऋग्वेद में शक्ति के रूप में प्रथमतः जगत् को आकाश अंतरिक्ष एव पृथिवी लोक मे विभक्त करके भिन्न अनेक देवताओं को प्रतिष्ठित किया गया इसके उपरांत विकास के क्रम में इन बहुदेवताओं के अधिपति की करपना की । एक ही जवा १२ काल में सर्वेश्वरवाद को ग्रहण किया गया । यह सर्वेश्वरवाद पुराणसूक्त में प्राप्य ✓ है ।^२ आचार्य बलदेव उपाध्याय उक्त क्रम से असहमति व्यक्त करते हुए यास्कीय कथन के आधार पर ऋग्वेदिक देवतागण एक ही देवता की विभिन्न शक्तिया के परिचायक हैं यह मायता स्थापित करते हैं ।^३ उनके अनुसार यही कारण सत्ता कायवर्ग में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न आकारा मे परिलक्षित होती है ।

बहुदेवता एकेश्वरवाद अथवा ऋग्वेद के मन्त्रों का ब्रह्म परक विवचन इनमे से किसी विचार के स्वरूप को ग्रहण किया जावे कि तु मातृप्य से अधिक शक्तिशाली तत्त्व की स्वीकृति इन मन्त्रों में प्रतिपाद्य है यह सभी स्वीकार करते हैं । अपने से श्रेष्ठतत्त्व की स्थापना उसने प्रति स्वीकारोक्ति तथा ध्रुवापुण समपण की भावना ईश्वर तत्त्व की सम्मिति के मूल में है । वेदिक साहित्य की इन प्रारम्भिक रचनाओं में आचार्य व्यवहार के नियामक के रूप में भी इन देव शक्तियों का उल्लेख

१ प० सुखलाल सधवी—भारतीय तत्त्व विद्या पृष्ठ १०८

२ मकडोनल—हिस्ट्री ऑफ ससृष्ट तत्त्व रचना पृष्ठ ११६ १२८

३ आचार्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन पृष्ठ ५८

किया गया है। पामिक मत मतान्तरा म भी आचार की दृष्टि से कोई नियामक तत्व प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति है। उक्त कारणों से ईश्वर-तत्व के स्वरूप न भारतीय-दान म प्राप्त किया। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त इस तत्व की प्रारम्भिक मायना के स्वरूप का आवेक्षाकृत स्पष्ट एवं सुस्थिर प्रतिपाद है।^१ नामदीय सूक्त म तत्व की अद्वय श्रित्त की ओर सकेत है।^२ अग्नि, मातरिदवा वरण आदि उमी प्रमुता-सम्पन तत्व के ही रूप हैं। यह एक तत्व है, किंतु विद्वान्जन उम अनेक मनाआ म अभिहित करते हैं।^३ मनुष्या म उसी की वाणी है पक्षिया के बलरव में भी वही है, प्रचण्ड गजन में उसी का आक्रोश अभिव्यक्त है नभोमण्डल म चन्द्र मृष एवं तारागणा की स्थिरता का आधार वही है।^४

‘उपनिषद् में ब्रह्म-तत्व को अधिकृत करके अत्यन्त विन्द विचार प्राप्त हात है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार मूल तत्व को अव्ययण करन म अधिगणो न तीन प्रकार की पद्धतिया का उपयोग किया है। आधिभौतिक आधिद्विष्ट एवं आध्यात्मिक। भौतिक जगत के कारणों की छानबीन करनी हुई विवचिका दृष्टि विलक्षणानित्य पदाय के निवचन में समय है। यह आधिभौतिक पद्धति है। आधिद्विष्ट पद्धति के अनुसार नाना रूप एवं स्वभावधारी विपुल देवताश म गकिन सचार करने वाले एक परमात्म तत्व को खोज निकाला है। आध्यात्मिक पद्धति में मानम प्रक्रियाआ तय शरीरिक कायकलापों के अवलाकन करने में उनके मूलतत्व का निष्पण किया जाता है।^५

उपनिषद् में ब्रह्म का विन्द वणन प्राप्य है। उसमें व सभी विरोधताए हैं जिन्हें मध्य न परवर्तीकाल म अपने दान म विस्तार से प्रतिपादित किया है। प्रस्थान ऋषी म उपनिषद् भी प्रहीन है। इनका व्याख्यान भी वगान मत के विचारका न अयन सम्पन म किया है। इतमत के अनुयायी मभी श्रुतिया का सगुण ब्रह्म परक स्वीकार करते हैं जबकि अद्वैत वेदान्ती निगुण परक ही। ईश्वर अथवा ब्रह्म के स्वरूप के विषय म अत्यन्त विस्तार एवं सुस्पष्टता के साथ वणन, उपनिषद् साहित्य म प्राप्त होता है।

१ ऋग्वेद १०।६०

२ वही १०।१२६

३ ‘एन्द्र मित्र वणमग्निमाहुरयो दिव्य म गुपणा ण्दरमान्।

एव सद्भिना बहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरिदवानमाहृ ॥ वही १०।६४।८०

४ वही, १०।१२।१५

५ आचार्य बलदेव उपाध्याय—भारतीयदशन, पृष्ठ ७८

सिंधु घाटी की सभ्यता में पशुपति के पूजक वर्ग के चिह्न प्राप्त होते हैं।^१ ईश्वर के रूप में महेश्वर रुद्र एवं शिव का नामोल्लेख अद्यावधि प्राप्य है। अनेक प्रकार के माहेश्वर सम्प्रदायों का वर्णन भारतीय साहित्य में मिलता है। ये सभी अचतन तथा जीव का बाहुल्य ग्रहण करते हैं। तथा मानते हैं कि वह जगत् का कारण होने पर भी कम निरपेक्ष है।^२ अथ विचारक इसकी पूर्ण स्वतंत्र कारण के रूप में कल्पना न करके जीव कम सापेक्ष कर्त्ता के रूप में प्रतिपादित करते हैं।^३

यायवशेषिक विचारधारा में भी धतन की बहुलता विवक्षित है। कणाद के सूत्रों में यद्यपि ईश्वर के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या नहीं है किन्तु उस पर लिखे गए प्राचीनतम उपलब्ध प्रशस्तपाद भाष्य में महेश्वर का सत्त्विके कर्त्ता एवं सहर्ता के रूप में विस्तृत वर्णन है। साथ ही उस प्राणियों के शुभाशुभ कर्मानुसार सबका सहार करनेवाले निरूपित किया है।^४ वैशेषिक में प्रशस्तपाद के द्वारा ही ईश्वर तत्त्व की प्रतिष्ठा हुई।

याय के सूत्रकार अक्षपाद ने संक्षेप में ईश्वर सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन किया है।^५ उसने भाष्यकार वात्स्यायन उद्योतकर एवं वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वप्रसंगों में ईश्वर तत्त्व का सुविस्तृत रूप में वर्णन किया है। वह केवल कर्त्ता एवं नियता ही नहीं अपितु सृष्टा भी है। वह जीव कर्मों से निरपेक्ष है। ईश्वर की सिद्धि कुछ विद्वान अनुमान से कुछ आगम से करते हैं।^६

यायवशेषिक परम्परा में ईश्वर की स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में बहुत अधिक समय स्थापना हुई है। उदयन ने यायकुमुमाजलि में अनीश्वर्यादियों का प्रबल युक्तियों से खण्डन करके, ईश्वर की सिद्धि एवं स्वरूप विवेचन विस्तार से

१ श्री टी० एन० रामचन्द्र—प्रसीटीशयल एंडस डिलीवड एट इण्डियन

कांग्रेस आगरा, पृष्ठ ५।१०

२ माघवाचाय—यनिरपेक्ष परमेश्वर कारणमिति।

सर्वदशन नकुलीश पाशुपत मत पृष्ठ ६५

३ माघवाचाय—गवदशन, पृष्ठ ६६

४ प्रशस्तपाद भाष्य—सृष्टि सहारप्रक्रिया।

५ ईश्वर कारण पुरुषकर्माफल्यदशनात्।

न पुरुषकर्माभाव फलानिष्पत्ते।

तत्कारितत्वात्हेतु। यायसून ४।१।१६ २१

६ उदयन—कार्यायोजनघृत्यादे पदात्प्रत्ययत श्रुते।

वाचस्पत्यस्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदयय।

यायकुमुमाजलि ५।१

किया है ।^१

योग में चौबीस अथवा पच्चीस तत्व ग्रहोत्त हैं । उसमें स्वतंत्र पुरुष विद्योप ईश्वर का भी स्थान है । पतञ्जल सूत्र के पहले हिरण्यगर्भ एव स्वयम्भु में प्रचलित योग भाग का उल्लेख प्राप्त होता है ।^२ उसमें भी ईश्वर तत्व की मायता थी । किन्तु मन्दर्षों की अनुपस्थिति में वे उसे उराम्य के अतिरिक्त जगत् स्रष्टा के रूप में भी मानते थे या नहीं यह निर्धारण कठिन है । पतञ्जलसूत्र के अनुसार ईश्वर साक्षी उपाय्य है ।^३ किन्तु इसके भाष्यकार इसे उद्धारक के रूप में भी मानते हैं । ईश्वर का प्रयोजन भूतानुग्रह है । ऐसा सत्त्व वह सत्त्वगुण के प्रत्येक कारण करता है ।^४ फिर भी व्यास ने सृष्टि एव संहर्ता का विशद विवेचन नहीं किया ।

पूर्वमीमांसा यज्ञादि कर्मकाण्ड पर आधारित मन है । वैदिक मंत्र समुच्चय विधि प्रक्रिया, हाना, पुरोहित आदि का मुख्य स्थान कर्मकाण्ड में होता है । विधि पूर्वक यज्ञ करनेवाले को फल प्राप्त होता है । पञ्चैन्द्र पुरुषों का वतृत्व की इसमें प्रमुखता स्थिति है । इस प्रकार का वतृत्व जीवों में है । अतः ईश्वरवतृत्व का विचार भी यहाँ अनिवापित उपयोगी न होने के कारण, ग्रहण नहीं किया गया । वैदिकश्रुति में ही महती शक्ति है । उसके निरर्थक में किया गया कृत्य फलवान् होता है । अतः इस परम्परा में मंत्र, देवता विधिवत् कर्म और सामग्रीजय शक्ति ये ही ईश्वर के वतृत्व के स्थान ले लेते हैं ।^५

साम्य परम्परा भी ईश्वर को नहीं मानती । साम्य में सृष्टि कर्ता के रूप में ईश्वर न होकर प्रकृति है । प्रकृति स्वतंत्र है । वह सृष्टि एव संहार में किसी दूसरे के अधीन नहीं है । पुरुषाय प्रकृति के ही हैं चेतन के नहीं । प्रकृति का व्यापार चेतन के लिए ही है किन्तु चेतन तत्व में न वतृत्व है न भोक्तृत्व अतः सारा अधिकार प्रकृति के हाथ में ही है । जीवों की स्थिति भी किसी के अधीन नहीं है परिणामतः ईश्वर की आवश्यकता इस मत में अनुभूत नहीं की । कतिपय विद्वान् ईश्वर को मानते हुए भी मुक्ति के प्रति उसकी दुर्बलता स्वीकार करते हैं । अन्ततः साम्य में

१ उपायन ५,१

२ ओरिजन एण्ड डेवलपमेंट आफ साम्य सिस्टम बाव थाट, पृष्ठ ४६

३ योगसूत्र १।२३ २६

४ तस्य आत्मानुग्रहमावे पि भूतानुग्रह प्रयोजनम् ।

'प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक स्वरूप ।'

योगभाष्य, १।२४ २५

५ शबरभाष्य, २।१।५

ईश्वर का स्थान कुछ विचारका व अनुसार है ही नहीं, कुछ व अनुसार यत् है भी ता न क बराबर ।^१

बौद्ध अथवा जन विचारसरणि जीव या चित् तत्व म सहज-सद्गुण का विकास मानती हैं । अचेतन तत्व उसका उपकारक है, किन्तु विकास जीव का ही वगिष्ठ्य है । जो साधक पूण यत्न करके विकसित सिद्धि को प्राप्त करत हैं व मुक्त हो जाते हैं । य ही मुक्त पुरुष सम्यक् समुद्ध, अहत् हैं । दूसरे अपूण साधक इनकी साधना करके, बाद म स्वयं के ड भी वही हो जाते हैं । इस प्रकार ईश्वर नामक कोई सृष्टिकर्ता एव सहर्ता तत्व न्हा है । यदि उपास्य की दृष्टि स रिमी को ईश्वर कहा जा सकता है तो व ही मुक्त सिद्ध एव बुद्ध आत्माए हैं ।

मीमांसक, सांख्य जन एव बौद्ध अनुयायी जगत् की परिवर्तनशीलता पर विश्वास करते हैं । जगत् किसी समय उत्पन्न हुआ, यह उनको अभिप्रत नहीं है । परिणामत विव के निर्माण म व ईश्वर के वृत्त्व को स्वीकार नहीं कर पाने । कम करन एव फन भोगने का सामध्य स्वयं म है । अत नियामक तत्व के रूप म अय किसी की अपक्षा इन मता म न्हा है । कृत-कर्म ही विश्व क वचित्रय वा सजक है ।^२

मध्व क अतिरिक्त वदात्त व विनिध मत मून म एक ही तत्व को सामान्यत स्वाकार करते हैं किन्तु वह तत्व प्रकृति आदि न होकर ब्रह्म-तत्व है । इस एक तत्व क शोध का प्रयास अल्प काल से ही चलता आ रहा है । ब्रह्म सूत्र के भाष्यों को मुख्य रूप म दो भागा म बाटा जा सकता है । एक के प्रतिनिधि सकर हैं और दूसरे भास्कर से लकर चतुर्थ तत्र के सभी चि तक ।^३

गकर केवलद्वैती है । उनको ब्रह्म के अनिरिक्त जय किसी की पारमाधिक सत्ता इष्ट नहीं है ।^४ जब ब्रह्म को ही ईश्वर कहना है तब जीव और ईश्वर दोनों ही ब्रह्म हैं यह भी ग्रहण करना होगा । इसके लिय शकर न माया एव अविद्या के द्वारा इस स्थिति का समाधान किया है । माया उपाधि से उपहित ब्रह्म ईश्वर तथा अविद्या उपाधि से उपहित ब्रह्म जीव है । वही उपहित ब्रह्म जगत का निमित्त एव उपागन कारण है । ब्रह्म ही इस प्रकार वृत्त्व का आधार गकर द्वारा निरूपित

१ विज्ञानभिन्नु—सांख्यशास्त्रम्य तु पुरुषाथतत्साधनप्रकृतिपुरुष विवकावव मुख्यो विषय इतीश्वरप्रतिपद्यावाद्य पि नाप्रामाण्यम यत्पर स ग गय इति यामात् । अत सावकागतया सांख्यमेवेश्वरप्रतिपद्यागे दुवलमिति ।

सांख्य प्रचवन भाष्य भूमिका ।

० 'कर्मज लोकवचित्रयम । अभिषमकोप ४।१

३ प० मुखलात सधवी—भारतीय तत्वविद्या पृष्ठ १२२

४ डा० एम० एन० दामगुप्ता, ए हिस्टी आफ इण्डियन फिलामफी, भाग ०

क्रिया गया। किंतु वह जुड़ रहा नहीं है। जुड़ उसके पर है।

गर्भर क पूर्ववर्ती भास्वरारो म अविनाश प्रकृति क साथ ब्रह्म का एक उसके परिणमन को स्वीकार करत हैं। इसी प्रकार की परंपराआ म से एक का अनुमरण भास्वर करते हैं। व ब्रह्म को परिणामी मानकर उसी म सबगक्ति स्वीकार करते हैं। व एक गक्ति मे भोग्य, दूमरी स भावता की सृष्टि हुना मानत है। वह सृष्टि का खण्ड सहायक, मात्सर आदि है। मास्वर द्वारा ईश्वर की स्थापना का आधार आगम ही है। ब्रह्म रूप ईश्वर के एक होनपर भी उसके परिणाम—जीव एव जगद्—अनक हा सकत हैं। नाग्य और नामतृ दोना ही शक्तिया भास्वर न ईश्वर या ब्रह्म म ही मानी हैं।^१ इस प्रकार भास्वर भेदाभवादी हैं।

रामानुज क अनुसार परमब्रह्म तत्व नारायण सबदायी है। समस्त मंगल गुणा का आधम भी वही ह। मूलत वह कृत्तरय है किंतु अपनी शक्तिया से अप्यक्त कारणरूप बिदबिचरुतीर का कायरूप बनाता है। गरीररूपणावस्थित प्रकृति और जीवतत्व नारायण क हा रूप है। व उसी गक्ति म मचालित हाते है। प्राणिकमसा प म सृष्टि रचना ईश्वर करता है। नारायण का ही रामानुज ने उपनिषद प्रतिपाद्य ब्रह्म एतलाया है ना जेवन जीर जेवन का निमित्त एक उपादान कारण है।^२

निम्बार् विष्णु की ही ब्रह्म तत्व क रूप म स्थापना करके उसी को, ईश्वर मानते हैं। यह इतादनवाद क समथक आवाय है। परब्रह्म विष्णु ही वास्तविक चराचर जगत् के उतागन एव निमित्त कारण हैं। उपनिषद् तथा अय श्रुति वाक्या से ईश्वर को प्रतिष्ठा दन मन म प्राप्य है। सृष्टि प्राणिया के कम की अपक्षा रखती है।^३ सम्पूर्ण भास्वो का आधार भी वही है।

विज्ञान भिन्नु न भी ब्रह्म की ही ईश्वर माना है। योग के प्रभाव के कारण माना कि ब्रह्म सत्वका गुरु प्रकृति का अवलम्बन करके सदा बतमान प्रकृति एव जीव-तत्व की सृष्टि करके, उनका विकृतिन करता है। प्रकृति पुष्प के वास्तविक होने पर भी उनका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। उपादान, निमित्त कारण को न मानकर विज्ञान भिन्नु न ईश्वर को अधिष्ठानभूत कारण कहा है। यह भिन्न प्रकार का कारण है। गर्भर का इहनि स्था स खग्न किया है। वे सृष्टि की प्राणिकमसायेन मानते हैं।^४

१ डा० एम० एन० दासगुप्ता, ए हिन्दू आन इण्डियन फिलासफी, भाग ३, पृष्ठ ६

२ वही, पृष्ठ १५६

३ निम्बार्—'तस्मात्सर्वत्र सवाविन्द्याग्निविद्वज्जमादिहेतुर्विद्वद्ब्रमाणगम्य सर्व भिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवा विवात्मैव जिगामा विपयम्नस म सर्वभास्व समचनीत्योपनिषदा मित्वात् ।' ब्रह्म सूत्र भाष्य, १।१।४

४ डा० एम० एन० दासगुप्ता—ए हिन्दू आन इण्डियन फिलासफी भाग ३, पृष्ठ ४४५

बल्लभाचार्य ने ब्रह्मरूप ईश्वर को जगत् का कारण कहा है। ईश्वर जगत् का समवायि कारण है। ब्रह्म की स्थापना प्रमुखरूप से आगम स ही की गई है। सष्टि प्राणिज्मसापेक्ष है। इसके उपरान्त भी ईश्वर की लीला को बल्लभ ने स्वतंत्र माना है।^१

श्यावाचार्य श्रीकण्ठ ब्रह्म को सच्चिदानन्द रूप कहते हैं। वह शिवरूप है, वही ईश्वर रूप भी है निमित्त एव उपादान दोना प्रकार म जगत् का कारण ईश्वर ही है।^२ सूक्ष्म चित् एव अचित् शक्तिरूप ब्रह्म कारण-ब्रह्म है। स्थूल चित्चिद्रूप जगत् काय रूप है। रामानुज यह दोना लगभग एक ही प्रकार के परिणाम को मानन वाले हैं।

- ✓ शकरोत्तर ब्रह्ममूत्र के सभी भाष्यकारों की एक वृत्ति समान रूप म है कि मूल रूप म ब्रह्म को स्थापित करके उसी को उपादाननिमित्तादि कारणा क नाम से अभिहित किया गया है। कि तु जगत् की सृष्टि के निय सारथ सम्मत प्रकृति की प्रक्रिया का आश्रय किसी न किसी प्रकार से उनको अवश्य ग्रहण करना पडा। यदि
- ✓ इस तत्व को पृथक् कर दिया जाय तो कोई भी ब्रह्माकारणवात् स्थिर नहीं रह पावेगा।^३

मध्व तथा अन्य शकरोत्तर विचारको म वैष्णव आन्दोलन वा बद्ध अधिक् प्रभाव हुआ। शकरोत्तर निरकृण निद्वन्द्व निगनार नियुण ब्रह्म का साधक स कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध न होने के कारण आस्था और श्रद्धा का प्रयोग तदीयाराधन मे नहीं हो सकता था। साथ ही व्यक्ति को जब तब उस परम अर्थ से अपने व्यक्तिक् सम्बन्ध की प्रतीति न हो तब तक जीव की तत्व के प्रति प्रवृत्ति की सम्भावना ही नहीं रहगी। भले ही तात्त्विक सगति की दृष्टि से अद्वैत मत अधिक रचिकर लगे कि तु प्रावहारिक उपयोग को स्मरण रखे बिना मानवीय और नतिक मूल्यों के प्रति सहज आस्था की स्थापना ही नहीं हो सकती। ईश्वर का प्रावहारिक जीवन से अनिवाय सम्बन्ध स्थापित करके विलियम जेम्स ने सत्य का प्रतिपादही किया है।^४

१ बल्लभ—तद्ब्रह्मैव समवायिकारणम्। समवायात् सम्यगनुवत्तत्वात्।

अस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणावपात। नामरूपयो कायरूपत्वात्।

अणुभाष्य १।१।३

२ डा० एस्० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिनासफी भाग ५ पृष्ठ ७६

३ प० मुञ्जलाल मधवी—भारतीय तत्व विद्या पृष्ठ १३५

४ "The pragmatic conception of God in William James philosophy has an inking truth when it relates him essentially with the practical life of man"

Dr A K. Narain An out line of madhva philosophy P 107

यदि ईश्वर की मान्यता का दर्शन में महत्व स्थापित करना है, तो उसका मनुष्य में सीधा सम्बन्ध रखना अनिवार्य होगा। इसीलिए मध्व ने ईश्वर को सवगुण सम्पन्न माना है।

प्रायः परिभाषाएँ दो प्रकार की पाई जाती हैं। स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। पंचपादिकाभार आदि अद्वैतमतानुयायी विद्वान् तटस्थ लक्षण के रूप में ब्रह्म-तत्त्व का व्याख्यान करते हैं। किंतु मध्व अनुयायियों का मत है, कि लक्षण का अर्थ वस्तु का वैशिष्ट्य प्रतिपादन होता है, भले ही वह लक्षण तटस्थ कहा जाए अथवा स्वरूप। परिभाषा के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण अद्वैत मत में ग्राह्य नहीं है।^१ मध्व ऐसा करके ईश्वर की जीव और जड से पृथक् तत्त्व के रूप में प्रतिपादित करने की सुविधा ग्रहण कर लेते हैं।^२ ग्रह्य शब्द के जाति, जीव, कमलासन ब्रह्म आदि अनेक हठ अर्थ हैं। वह धातु से निष्पन्न उक्त पद का अर्थ, व्यासतीय न, व्युत्पत्तिसंज्ञक रूप में ही किया है। इसका जीव अर्थ लेने में 'ब्रह्मणोत्त' अर्थ में बाधकता प्राप्त होती है, इसलिए श्रुति में कहा गया विष्णु अर्थ ही अभिप्रेत है।^३ रुडिगत अर्थ ग्रहण करते समय सामान्यरूढि और विद्वद्रूढि में अंतर मानकर विद्वानों के द्वारा स्वीकृत ब्रह्म पद के विष्णु अर्थ का ग्रहण इस मत में किया गया है।^४ उक्त सूत्र के ही व्याख्यान में रामानुज के अनुसार सूत्र में कही गई विशेषता के ब्रह्म में होने पर भी श्रुति प्रतिपाद्य 'सत्यज्ञानमननतम्' आदि वाक्य, उसको जीव से

१ व्यासतीय— 'प्रतिद्वय्यामाधारणधर्माय लक्षणत्वेन—।'

तात्पर्यचरित्रिका, पृष्ठ १४०

२ वही— स्वरूप वा तटस्थ वा लक्षण भेदक मतम्।

नजानीयाद्विजातीयोत्तच्चाद्वैतमते कथम् ?' पृष्ठ १४३

३ 'Madhva is explaining this sutra (जमाज्ञस्य मन) as definition (लक्षण) of Brahma intended to differentiate him from beings of his class i.e. the soul (Jiva) and inanimate objects which belongs to a different class'

Dr S N Da Gupta.—A History of Indian Philosophy, vol IV

P 119

४ वही — 'प्रत्ययानुसारेण तद्वद्वैत श्रुत्युक्त-
लक्षणत्वेन तद्वैतमते कथम् ?' पृष्ठ १४०

५ रामानुज—विष्णु-... तद्वैतमते कथम् ? तात्पर्यचरित्रिका, पृष्ठ १२४

पृथक् प्रमाणित करते हैं। व सभी उसकी पारमार्थिक विगधताए है।^१ जा उसमें रहती हैं। मध्व तथा उसके अनुयायी ब्रह्म की यह परिभाषा न मानकर अनन्तगुण युक्तता को ही लक्षण मानते हैं।^२ इसी कारण वह स्वतत्र भा है। ब्रह्म को स्वतत्र के रूप म मान लेने के उपरान्त जगत् भी पृथक् रूप म मानना हागा तथा जगत् और ईश्वर इन दोनों के सम्बन्ध की सत्ता भी वास्तविक रूप म सत माननी होगी। अद्वत का निगुण ब्रह्म ब्रह्म के जगत्पादरत्व को प्रमाणित नहा कर सकगा। न ही चिदचिद्विशिष्ट रामानुज सम्मत ब्रह्म ही क्याकि एव तो निगुण है, दूसरा स्वय अचिद से सम्पृक्त है अत आचार और आधेय की पृथक् प्रतिपत्ति की उमम स्थिति नहीं है।^३ ब्रह्म-सूत्र के प्रथम सूत्र के व्याख्यान के प्रसंग म मध्व ने ईश्वर सम्बन्धी विवेचन को भी स्थान दिया है। मध्व के अनुसार सूत्रकार म जिस ब्रह्म जिहासा को प्राथमिक उपलब्धि के रूप म स्वीकार किया है वह बिना ईश्वर की श्रुपा क सम्भव नहीं है। वही ईश्वर सभी प्रकार की मनोवत्तिया का प्ररक है।^४ परब्रह्म ही विष्णु हैं।^५ इस प्रकार एक तत्व की सत्ता पहल स मध्य मानकर चलने हैं।

तत्व विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट है कि मध्व स्वतत्र और अस्वतत्र दो प्रकार के तत्व मानते हैं। स्वतत्र तत्व के रूप मे ईश्वर (विष्णु) को मायता इस मत म है। उक्त तत्व सभी सत् शक्तिया स परिपूर्ण, सब-यापो, स्वतत्र, नित्य, असाधारण चित् तथा किसी के द्वारा नियमित न होने वाला है।^६ ईश्वर को ही सबप्रकारेण स्वतत्र तत्व के रूप म स्वीकार किया गया है। स्वतत्र अभिधान करने का अभिप्राय यह भी है, कि अय तत्व परतत्र क रूप म हैं। इसी मूल-दृष्टि के कारण उस द्धान

१ डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री जाव इण्डियन फिलासफी, भाग ४
पृष्ठ १२४

२ जयतीथ—'अनन्तगुणसत्त्वमेव ब्रह्मणो लक्षणम् ।' व्याससुधा, पृष्ठ १०१

३ H N Raghvendrchar—'Bramha as the ground of the world is ever distinguished from the dependent world This means that the independent the dependent and distinction between the two are equally realy

The Dvaita philosophy and its place in the Vedant P 201

४ मध्व—स हि सबमनोवत्तिप्रेरक समुदाहृत । ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१

५ वही—परस्य ब्रह्मणा विष्णो प्रसादान् ऋति वा भवेत् । १।१।१

६ मन्—मवनाखिलसच्छक्ति स्वतत्रा शपन्तान ।

नित्याता शक्तिव्येत्यता इष्टो नो रमापति ॥ तत्वाद्यान पृष्ठ ६६

की 'द्वैत वेदात्त सम्प्रदाय यह साम्प्रदायिक सत्ता है ।'

अब तत्वों के सम्बन्ध के सन्दर्भ में ब्रह्म की क्रियात्मकता की कोई सीमा भी है अथवा नहीं ? इस प्रश्न का समाधान मध्व के अनुसार है कि ईश्वर ब्रह्माण्ड का कुलाल मात्र नहीं है अपितु प्रकृति आदि को सत्ता प्रदान करने वाला तत्व भी यही है ।^२ जगत् को ईश्वर की सृष्टि कहने का अभिप्राय उसकी उक्त प्रकार की अधीनता ही है । अथवा अय प्रकार की सृष्टिगत आधारता, ईश्वर की सृष्टिनिर्माण की क्षमता के सीमित और असीमित होने का, कोई समुचित समाधान नहीं दे पायेगी । ईश्वर की कृपा एव इच्छा पर मृत्ति प्रसरण आधारित है ।^३ यद्यपि उसकी अपनी सत्ता भी है । वह सत्ता उतनी ही सत् है जितनी जीव या ईश्वर की । ईश्वर और जगत् तथा जीव में सत्ता की दृष्टि से समानता होने पर भी, स्वाधीनता और पराधीनता के आधार पर अंतर है । अतः पराधीनता के कारण ही सृष्टि ब्रह्म की इच्छा पर आधारित है ।

द्वैत के ब्रह्म में भिन्न ईश्वर की तात्त्विक मायता के मध्वादि आचार्यों के, ग्रहण के मूल में भक्ति की सैद्धान्तिक ग्राह्यता भी थी । यदि ईश्वर व्यक्ति से किसी प्रकार से सम्बद्ध नहीं है तो उसके प्रति अनुराग होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा । डा० राधाकृष्णन् भी इसी तथ्य को प्रसंगान्तर में स्थापित करते हैं, कि शंकर का निर्लिप्त परमब्रह्म कभी आराधना को आकर्षित नहीं कर सकता । जो धर्म एव दसन के उद्देश्य को ईश्वर का 'ज्ञान—तात्त्विकता का ज्ञान' मानते हैं, उनके लिये शंकर का मत विद्वत्साधु धर्म है ।^४ वेष्णव मत के अनुवर्ती चिन्तन में अय तथ्या पर मतभेद हो भी सकता है, पर वे सभी समान रूप से भक्ति के उद्देश्य के रूप में ईश्वर को मानते हैं ।

१ डा० बी० एन० के० शर्मा—फिनासफी आव थी मध्वाचार्य, पृष्ठ २३१

२ मध्व—'प्रकृत्यादिसत्ताप्रदत्व स्वीकृतमीश्वरस्य ।' ब्रह्मसूत्रभाष्य २।२।५

३ वही—'भाग० तात्पर्यनिर्णय २।१०।१२

४ Dr S Radhakrishnan— 'The absolute of Shankar rigid, motionless and totally lacking in initiative or influence cannot call forth our worship Like the Taj Mahal which is unconscious of the admiration it arouses the absolute remains indifferent to the fear and love of its worshipers and for all those who regard the goal of religion as the goal of Philosophy to know God is to know the real Shankara's view seems to be a finished example of learned error

ईश्वर जगत् के प्रति निमित्त कारण है। ईश्वर की कायरूप जगत् के प्रति कारणता ठीक उसी प्रकार है, जैसे पिता की पुत्र के प्रति रहती है। जिस प्रकार एव पुत्र अपने पिता से अपनी सत्ता का ग्रहण करता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् अतत ईश्वर पर आश्रित है। इसीलिये ईश्वर सृष्टि की निमित्त सस्थिति एव ध्वस में कारण है। इसी पराधीनता को लक्ष्य करके ईश्वर को कारण कहा गया है। मध्व मत में ईश्वर केवल निमित्त कारण है। भास्कराचार्य आदि विद्वानों की मायता के समान वह उपादान कारण नहीं है, जयतीर्थ के अनुसार उपादान कारणत्व परिणामवाद से सम्बद्ध है।^१ उपादान कारण सबदा परिणामि कारण होता है और काय उसका परिणमन है। यह परिवर्तन दो रूपों में है। गुणों में परिवर्तन होना अथवा गुणी में, अत यदि ईश्वर को उपादान कारण मान लिया गया तो उसे परिणमनगील भी मानना होगा किन्तु यह निश्चय श्रुतिविरुद्ध है, क्योंकि श्रुति में ईश्वर को अविबाय कहा गया है। किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन दूसरे तत्व के ही अधीन होता है। इसके अतिरिक्त कारण (उपादान) के गुण काय में सक्रमित होते हैं। ब्रह्म के अत य आदि गुणा की स्थिति जगत् में भी होनी चाहिए। किन्तु जगत् की जडता यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि ब्रह्म (ईश्वर) को केवल निमित्त कारण माना जा सकता है, उपादान नहीं। उक्त तथ्य स्वीकार कर लेने के बाद मध्व का कथन प्राह्य हो जाता है, कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति, सहारादि के नियमन में समर्थ है।^२ ईश्वर का जगत् में परिवर्तन पिता के पुत्र के रूपमें परिवर्तित होने के समान है।^३

ईश्वर में विरुद्ध गुणों की स्थिति के प्रश्न को लेकर भी द्वैतवादियों पर आक्षेप किया जाता है। क्या ईश्वर के स्वरूप में अनेक विरोधी तत्व रह सकते हैं? इसीलिए मध्व ने ईश्वर के विषय में विचार उपस्थित किया, कि क्या ईश्वर वह सभी कर सकता है जो वह चाहता है? अथवा कुछ ऐसे भी काय हैं जो उसकी क्षमता से बाहर हैं? क्या उससे भिन्न अय वास्तविक तत्व (जीव एव जगत्) क्या उससे प्रादुर्भूत हुए हैं? अथवा उससे भिन्न वैयक्तिक अस्तित्व रगते है यदि ऐसा है तो उनकी निमित्त में ईश्वर कारण नहीं है। वह उनकी स्थिति को रोक नहीं सकता इसलिए उसकी शक्ति इस अर्थ में सीमित है। मन्वादि के अनुसार वह यदि इच्छा करे तो अनुरूप प्रतिकृत एव अयथा करन में समर्थ है। उसने विपरीत काय की इच्छा ही नहीं की इसलिए प्रोक्त तत्व ऐसी स्थिति में है। विजयोद्भ तीर्थ के अनुसार ईश्वर

१ जयतीर्थ—परिणामि कारण हि उपादानमुच्यते।' यायनुधा, पृष्ठ १६४

२ मध्व—सृष्टिस्थितिसहारादियमननानावधमोक्षा यत ।'

ब्रह्मसूत्रभाष्य, पृष्ठ ६

३ जयतीर्थ—तत्वप्रमाणिका पृष्ठ ८

जीव मर्यादा का अनुरोधी है एवं वह अपने ऐश्वर्य के विरोधी सत्त्व को नहीं करता ।^१ जयतीर्थ के अनुसार इस प्रकार के आचरण से उसकी महिमावृद्धि ही होती है ।^२ प्राकृतिक नियम से बाधरुता ईश्वर ने क्यों स्वीकार की ? इस प्रश्न के समाधान में मध्व का कथन है, कि ईश्वर ने स्वेच्छा से ये मर्यादाएँ स्वीकार कर लीं हैं ।^३ ईश्वर में प्राप्त अणुत्व महत्त्व आदि सभी का योगपक्ष एवत्र सत्यान सम्भव है । यह विरुद्ध भी नहीं है । इस प्रकार के सम्पूर्ण अन्तर्विरोध ईश्वर के द्वारा ही समाहित होते हैं । ईश्वर अपने ऐश्वर्य के विरुद्ध कामता ही क्या करेगा ? साथ ही उसमें ऐसी किसी मान्यता की कल्पना का भी प्रसंग नहीं होगा, जो ईश्वर विरुद्ध तो न हो पर उसकी सत्ता ही न हो अथवा 'शयविपास्यादि' की ईश्वर में स्थिति माननी होगी । इसलिए ईश्वर ऐसी किसी बात की कल्पना ही नहीं करेगा जो उसकी विधानक ही ।^४ परिणामतः ईश्वर में प्राप्त या दृश्यमान विरोध उसकी स्वतः की इच्छा से ही है । इसीलिए उस पर आश्रित रहनेवाले तत्व जीव और प्रकृति अपनी सत्ता प्राप्त किए हैं क्योंकि वह वसा ही चाहता है । यही उनकी परायीनता है ।

ग्रह्य अथवा ईश्वर के स्वरूप में ही कुछ ऐसी विशेषता है, कि जीव उसके प्रति आकृष्ट होकर जिज्ञासा करता है । ईश्वर अनन्त गुणों का आकार होने के कारण पूरा और जीव अल्प है, इसलिए उसके मन में ईश्वरमन्विष्यती जिज्ञासा होती है ।^५ जीव की यह अल्पज्ञता स्वतः सिद्ध है । इस जिज्ञासा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं ।

१ 'भगवद् ईश्वरमपि जीवमर्यादानुरोधीत्यस्वीकारत् । नहीश्वरोपि स्वस्यैश्वर्यविरोधि-
भूतमयं सत्त्वकरोति । तस्य पेशावत्वात् । मध्वाध्वकण्ठकोट्टार, पृष्ठ ५८

२ निरयत्तया स्रष्टृत्वस्य उभयपक्षताम्येन महिमोत्पत्तिसाम्यमपि, साधनसत्ताम्बु-
पगमे षकाकिन सवासात्सोपस्करस्यायिक्वचित्पलाभात् । तत्व प्रदीप, २।१।१६

३ मध्व—'न युक्तमीरितु किचिदौगित्वविरोधि यत् ।

ईश्वरस्याविरोधेन योजयित्वाक्षिता प्रमा । । अनुव्याख्यान, पृष्ठ ३६

४ जयतीर्थ—'यत्स्वचिद्विरुद्धमिव प्रतीयमानमपि ईश्वरे तदितरत्र वा प्रमाण
सिद्धम् ईश्वरैश्वर्यविरोधी च न भवति, यथाणुत्वमहत्त्वयोगपक्षादि तत्सर्वं
ईश्वरबलेन घटत द्रव्यगीकायम् । न तु निराकायम् । यत्पुनरप्रमित
तदीश्वरत्वमपि न कल्पनीयम् । अविपाणकल्पनीयमेव ।
कल्पकविधातवत्वात् । किन्तु तस्य प्रमाणम् यथायोगभासात् तव कर्णनीयम् ।'
याममुधा, पृष्ठ ५११

५ मध्व—'ब्रह्मरुद्धेन पूणगुणत्वेनानुभवसिद्धात्मगुणो जीवो भेद ।

न्यायविवरण, १।१।१

ईश्वर ही जगत् को सत्ता प्रवृत्ति और प्रमिति प्रदान करता है ।^१ यह राजादि के समान नियामक न होकर जगत् को सत्ता प्रदान करने वाला तत्व है ।^२ यह जगत् में है, तथा उससे परे भी है क्योंकि यह उसका निमित्त कारण है । ससार के बुरे तत्व उसकी पूणता के सकेत लिए ही है । राजस और तामस के कारण ही सत्व की सत्ता होती है । सभी जीवा का भी आधार यही है । वही सपूण वेद एव शास्त्रा का अय है । उर्ध्वनिपद् के सभी तदीय प्रतिपादक हैं ।^३ अतः ईश्वर में ही सभी प्रकार के तत्वों की आश्रयता है ।

ईश्वर अथवा ब्रह्म का स्वरूप निर्विशेष नहीं है, क्योंकि निर्विशेष कहा जा सकने वाला कोई तत्व प्रमाण प्रतिपन्न नहीं है । यदि कहा जाए कि ब्रह्म निर्विशेष है तो यह भी तो ब्रह्म का ही विशेषण हो गया तो वह स्वयं में भेदक तत्व हो गया, अर्थात् निर्विशेषत्व उस तत्व को उन अन्य तत्वों से पृथक् करता है जिनमें विशेषत्व है । अतः व्यावृत्त होने के कारण निर्विशेषत्व स्वयं एक विशेषण हो गया ।^४ निर्विशेष शब्द की स्वतः ही कोई प्रामाणिकता नहीं है । केवल विशेष और विशेष यही दो पद प्रयुक्त हो सकते हैं । साथ ही उपयुक्त युक्ति भी निर्विशेष पद की असारता प्रमाणित करती है ।^५ अतः सविशेष ब्रह्म का ग्रहण अनुभव सिद्ध भी है युक्तिसंगत भी ।

ब्रह्म के विशिष्ट्य प्रतिपादक विशेषण अलौकिक ही हैं किन्तु जिन दांदा से हम उनको यक्त करते हैं वे लौकिक हैं ।^६ ये पद केवल उस ओर सकेत मात्र कर पाते

१ एच० एन० राघवद्राचार—द्वैत फिलासफी एंड इट्स प्लेस इन द वेदान्त पृष्ठ २०२

२ मध्व—'आधार सबभूताना यन विष्णु प्रसादित ।'

(सबमूलान्तगत) कृष्णामृतमहाणव पृष्ठ ७५०

३ वही—स एवाखिलवेदाय सवशास्त्राय एव च ।

स एव सबशास्त्राय इत्याहोपनिषत्परा ॥'

(सबमूलान्तगत) ऋग्भाष्य अध्याय १ पृष्ठ ३१७

४ मध्व—न च निर्विशेष नाम किञ्चित्स्ति । निर्विशेषत्वोक्तोरेव याहृतत्वात् ।

निर्विशेषत्वेन विशिष्ट न वेत्युक्ते यद्यविशिष्ट ताहि न विशेषनिराकरणम् ।

विशेषत्वमेव भवति । यदि तेन विशिष्ट स एव विशेष इति व्याहृति ।'

कमनिणय, पृष्ठ २५०

५ मध्व—न च निर्विशेषत्वे किञ्चिमानम् । अणोपविशेषवचनानुभवयुक्ति विरोधश्च । वही पृष्ठ २५१

६ 'अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छब्दरेव भण्यते ।' ज्ञापनाद्यलोकस्य यथा राजेव देव राट् ॥ इतिपद्ये लोकविलक्षणेऽप्यानदादौ तत्पदप्रयोगो युज्यते ।' तत्वप्रदीप ३।२।३४

हैं। ब्रह्म के विशेषण अनेक हैं तथा वे परस्पर अविभाज्य हैं।^१ जमी माय की मायता ईश्वर में छ गुणों की है, जमी मध्य की नहीं। मध्य के अनुसार ईश्वर तो अनन्त गुणा स परिपूर्ण है।^२ जयतीथ के अनुसार पाङ्गुण्य का सिद्धांत तो अनन्तगुण का उपलक्षण मात्र है। इन्हीं में सभी का अंतर्भाव हो जाता है।^३ श्वताश्वतर उप निपद् भी ईश्वर के गुणा को स्वाभाविक मानता है। वे उसके भाग नुक अथवा आक स्मिक घम नहीं हैं।^४

सगुण मानने पर भी द्वैत मत भौतिक अवयवों से ईश्वर का आकार बनता है इस मत को मानने के पक्ष में नहीं है कि तु यहा केवल भौतिक शरीर का अभाव ही अभिप्रेत है, न कि अशरीरी हाना। श्रोत्रिय पुरुषाणि रूप म वह देहवान् नहीं है, अपितु चतुर्मात्मकता एव आत्म में ही उसका आकार निर्मित है।^५ अशरीरी न मानकर तथा सामान्य देहादि से भिन्न आकार मानकर जो विरोधाभास उत्पन्न हो गया, उसे अनेक श्रुतियों के आधार पर मन्व ने समाहित किया है।^६

अनेक विशेषताओं के कारण ही ईश्वर जीव में भिन्न है। जीव में अज्ञता पराधीनता, छिन्नभिन्नता, भौतिक शरीर का अज्ञान-व्यापक अतीतना दृश्यपूर्णता आदि विशेषताएँ हैं जो ईश्वर में नहीं हैं। इन्हीं के कारण जीव हीन है।^७ जीव

१ मध्य—तानि सर्वाण्यद्योयानन्यरूपाणि । गीताभाष्य, २।१२

२ मध्यतगुणानन्त —। भागवत ६।४।८

३ जयतीथ—पाङ्गुण्यमित्युपपन्नं पाङ्गुण्ये सगुणांतर्भावो वा । गीताभाष्य टीका, २।७२

४ ६।८ श्वता० उपनिपद् ।

५ मन्व—न तस्य प्रावृता मूर्तिर्मासमदोऽस्मिन्मन्ववा ।

श्रीर्षिणाभिद्योगात्मा देहो विष्णोर्न जायते ॥ वाराहसंहिता ।

मिन्न निर्गोपचतुसुत्त नित्य स्वका तनुम् । प्रि० तत्व निणय, पृ० ४५

६ 'जलौकिकोपि पानान्तिस्तच्च दरेव भायन ।

नापनाथाय लोकस्य यथा राजेव दवराट ॥ मिति पद्ये

तादृशितलक्षणेप्यानदादौ तत्पदप्रयोगा मुच्यते । तत्वप्रदीप ३।२।३४

७ 'मध्य—तस्यापि शरीरश्रवणात्' आनन्तरूपममृतम् । मुण्डको० २।२।२७

श्रवणयोनि (तत्तिरीय) 'दहरा स्मिन्नन्तमवाप छात्रो० ८।१।१

इत्यादिपु । यदि रूप तस्यान् आनन्दमित्येव स्यात् नत्वा नदरूपमिति ।

वय मुद्रणरूपत्वे स्यादस्य रूपस्य ? सहस्रशीर्षा पुरूप इवमवयव कर्ता

आन्तिश्रवणतमम परस्तात् सवत् पाणिपाद तत् विद्वत्त्वशुरुत्

विद्वत्तो मुण्डम्' इत्यादि वचनात् विश्वरूपाध्यायोक्तस्य रूपवानवसीयते । भाग ता०

को इन तत्त्वों के अन्तर्गत से निम्न ईश्वर पदों से युक्त है। वह सभी प्रकार के दोष से रहित अन्तर्गत विद्युत् है। अन्तर्गत ही उसके हास-पूर, मुखादि भवन्व है। सभी प्रकार के स्वयत्त देशों में रहित वान् दान् की दृष्टि से न तो इतका आदि है न अत न बद्धि, न मय, इन विद्युत् के तन्मन न तो पहले कभी कुछ हुआ है न होने की सम्भवा है। वह स्वयत्त है सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न है चतन्य, सुख और वीर्य का अयन है अन्तर्गत तथा पृथ है।^१ ईश्वर के इस प्रकार के स्वरूप के कारण ही मध्य अन्तर्गतों को किसी निरुद्ध मन्त्र्य देने के पण में नहीं हैं। साध ही वे ईश्वर को स्वाभाविक मानने हैं न कि अविद्याबन्ध जैसा कि अद्वैत-वेदान्त का अभिप्राय है।

सभी तत्वों में जो भी शक्ति दिखाई देती है वह ईश्वर की ही है। जिनकी मात्रा में उन वस्तुओं में स्वातन्त्र्य प्राप्त है वह भी ईश्वर के द्वारा ही दिना हुआ है। परतन् तत्त्व वस्तु स्वान्त्रय को अपना मान लेते हैं किन्तु जैसे ही वह स्वातन्त्र्य समाप्त हुआ उनको अपनी परतन्ता का बोध होता है।^२ ईश्वर ही जीव को उसके वास्तविक रूप का बोध भक्ति से प्रसन्न होने पर कराते हैं। जब भक्ति ईश्वर क अधीन है तब बोध भी तन्धीन होना चाहिए। मध्य यही मानत है।^३ इस बोध मोक्ष की जिसके प्रति वश्यता है स्वभावतः वह तत्त्व स्वतन्त्र रूप में परिगणित किया जाना चाहिए। वह केवल परमोक्ष के लिये ही प्रवृत्त होता है।^४

ईश्वर की आठ प्रकार की शक्तियाँ मानी गई हैं। वे सृष्टि स्थिति प्रलय

१ मध्य—'अज्ञत्व पारवश्यत्व वेधवेनादिक तथा ।

तथा प्राकृतदेहत्व देहत्यागान्क तथा ।

अनीगत्व च दुलित्व साम्यमप्यच हीनताम् ॥ महाभारत, तात्पर्य
निर्णय ११३

२ यही १।१० १२

३ 'सर्वपरतुषु या शक्ति या मदीयता या मया ।

मदीयता स्वातन्त्र्य केपलेष्वपि परतुषु ॥

तावन्मात्रेण मोक्षता स्वातन्त्र्य मयत विजम् ।

स्वातन्त्र्यापह्ने परतन्तागणित परतन्ताम् ॥' विष्णुरहस्य १ । २२ २३

४ मध्य—'सर्वपरभूतं भागं तु तदा जीवस्य विष्णुता ।

विमतं, प्राकृतं तदा भक्त्या तैव दीयते ॥

सता विभुविदाद्विष्णोषु त्रिपर्यन्तमुपेते ।

परमोक्षि तत एव स्यात्परमाभेदस्तयो प्रभु ॥ भागवत ता०, पृष्ठ ७४

५ यही—'मोक्षदो हि स्वयत्त स्वात् परतन् स्वय मृती ।

वर्तमान कर्षं शक्ता परमोक्षाय केष्वतम् ॥ अनु० व्या० पृष्ठ ३३

निमग्न, ज्ञान, तिरोधान, बन्ध एक मान्य हैं। ये शक्तियाँ पौराणिक साहित्य में त्रिदेव में मानी गई हैं। मध्व इनको एक ही श्रेष्ठ विष्णु से सम्बद्ध मानते हैं। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार इन आठ शक्तियों में 'सृष्टि की क्षमता, मध्व सम्मत, ब्रह्म की परिभाषा का, मुख्य आधार बन सकती है।^१ भिन्न भिन्न प्रसंगा में स्थित विष्णु ही उन उन शक्तियों को जाग्रत करके, एक ही महाशक्ति से सभी कुछ सम्बद्ध कर लेता है।^२ अन्य देवों में विद्यमान शक्तियाँ भी उन देवों की न होकर नारायण की हैं।^३ य सभी देव आणिक शक्तियों के स्वामी हैं और नारायण महास्वामी है। जिस प्रकार छोटे छोटे अनेक दासक अपने-अपने भाग पर अधिकार करते हुए भी एक विराट दास के आधीन रहते हैं वैसे ही ये देव नारायण के आधीन हैं।^४ अद्वैत वेदांत में विद्वत् तजस और प्रान आदि सप्ताष्ट विद्वत् तत्व के अपना-अपना रूपांतर रूप की ही मानी गई हैं। जबकि मध्व सभी गुणों के आकार ईश्वर के ही विविध नाम तजसादि मानते हैं। उनके अनुसार यह कोई माया अथवा अविद्याकृत अवस्था नहीं है।^५ कर्मों के आणय प्राणियों का प्रेरक तत्व यही है।^६ श्रेष्ठ शक्ति एक परम गुणों से पूर्ण सभी प्रकार की पीड़ा का हर्ता, अविनाशक कमलापति विष्णु साक्षात्क पुत्र है।^७ इस प्रकार के ईश्वर से यह कुछ और कोई वस्तु नहीं है। जिससे अधिक स्थिति की कल्पना ही न की जा सके वही ईश्वर है।^८ देशकाल और गुण तीनों दृष्टियों में उसकी असीमता आवश्यक है। कवल ईश्वर-तत्व ही उक्त विशेषताओं से युक्त है। सद्मी, जिसका द्रव मन में महत्पुण रवान है वह देव और

1 Dr S Radhakrishnan— Madhva believes that the characteristic mentioned creative activity is an essential defining quality of Brahma (Brahma Sutra, P 237)

२ मध्व—तत्र तत्र स्थितो विष्णु तत्तच्छक्तता प्रबोधयन् ।

एक एक महाशक्ति कुरुत सबमजमा ॥ ब्रह्मसूत्रभाष्य २।३।११

३ वही—'नैव राजन् रवे शक्ति शक्तिनारायणस्य-ता । मध्व द्वारा उद्धृत

४ मध्व—'गडाधीना सावभौमस्य तद्वन्,

ब्रह्मोशाद्या बुधतो तेनुनास्तिम् ।' भा० ता० १०।७४

५ मध्व—'शक्तिवत्तजसप्राणानुरीयात्मा तत्तत्तन्नाम् ।

परमात्मनानात्मयुजा मद्रूपाणा च साचर ॥ (सर्वभूतान्द्रुणत) तत्प्रसार १।४

६ वही—'भिन्नवर्माणप्राणिसंप्रेरकं तन्न विन्ते मण्डनम् ।' ब्राह्मसूत्रम् ८।३

७ वही—'निजपुणमुत्तमिदं शोभतनु परशक्तिरततगुण परम् ।

अजरामरणं मवजातिहरं कमलापतिरीदं यतमो-वतु न ॥ ४।१ ॥

८ 'इत इत्यधिक इतो-पी-मिनि सर्वाधिकरत्न तना-पिकाभावेनावशेषितत्वे ।'

बाल की दृष्टि से असीम होने हुए भी गुण की दृष्टि से सीमित है। जीव तो बाल, देशादि सभी से सीमित है।^१ विष्णु ही पूणत जिज्ञासा करने योग्य है। वही सबका वर्त्ता है। विष्णु को एक मात्र उसकी सबगुणवत्ता के कारण कहा गया है।^२ ससार की सभी वस्तु से अधिक पूज्य होने के कारण यह पूज्यतम है, अतः अय किसी प्रकार चिन्ता न पड़ते हुए ईश्वर म मन का सनिधान करना ही श्रेयस्कर है।^३ जगत् म जो कुछ भी दिनाई अथवा सुनाई देता है, उसके भीतर बाहर सभी स्थानों पर ईश्वर व्याप्त होकर स्थित है।^४ ईश्वर ही जगद्गुरु है। परम तथा पूण रूपेण त्रिभुवन-सम्पन्न है। उन्हीं के आधीन सभी देव, जीव एव अय सभी तत्त्व है।^५ ब्रह्ममूत्र मे प्रकाशित तत्त्व ईश्वर ही है।

जीव के सुख और दुःख से भी ईश्वर का सीधा सम्बन्ध है। जीव की बन्धावस्था उसके 'स्वस्वरूपबोध' का अभाव है। यह अज्ञान ईश्वर की माया शक्ति के कारण है। जयतीर्थ के अनुसार अविद्या एक प्रकार का आवरण है जो जीव के आनन्द और ज्ञान को आवृत्त कर लेता है।^६ जीव के द्वारा ब्रह्म माशास्त्रकार की मायता अय वेदान्तमत (अद्वैत) म प्रचलित है। मध्व इसके विपरीत स्वीकार करते हैं कि जीव ईश्वर के स्वरूप को जानने म असमर्थ है। ईश्वर स्वयं ही अपने आपको स्पष्ट करता है। यह विचार मध्व ने कठोपनिषद् से लिया है जिसम कहा गया है कि जिसको यत् (आत्मा ईश्वर) वरण करता है उसी के द्वारा वह अभ्य है। उन्हीं के प्रति आत्मा अपने स्वरूप को स्पष्ट कर देती है।^७ आत्मरूप परिचायिका क्रिया ब्रह्मगत है न कि जीवगत। इसी से यह तथ्य भी मगत हो जाता है कि ईश्वर जवा भक्त को अपने गुणा के विषय म ज्ञान प्राप्त करा देते हैं। और उनके द्वारा वह उन्हींकी दधी शक्ति प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

१ राघव-द्रव्यति—गीताभाष्यविवृति २।१८

२ मन्व—अणुभाष्य पृष्ठ १५८ (मन्वमूल)

३ मध्व—'न ततोऽस्त्यपर जगतीत्यतम परमात्परत पुरुषोत्तमत ।

तदल बहुलोवचिचि तनया प्रपण कुरु मानसमीगपे ॥ २।२

द्वान्तशस्तीनम् ।

४ वादिराजतीर्थ—यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वश्रयते भ्रूयते पि वा ।

अतवहिश्च तत्सव याप्यनारायणस्थित ॥

मुक्तिमर्तिका—गुणसौरभ पृ० ५ ४

५ मध्व—मध्व तन्सार १।७४

६ तत्त्वप्रकाशिका पृष्ठ १२०

७ यमवेप वृणुते तेन लभ्य तस्यप आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् ।

कठोपनिषद् २।२३

ब्रह्म नैय है अथवा नहीं? इस विषय पर भी, द्वैत एव अद्वैत मत में, मत विभिन्नता है। दोनों ही मत ईश्वर का स्वयंप्रकाश मानते हैं। किंतु मध्य उसे, भले ही पूज्य में न सही अल्पमात्रा में ही, नैय मानते हैं। जीव ब्रह्म के सम्पूर्ण गुणवान् स्वरूप को देखने में असमर्थ है। बहुत कम भाग ही वह देख पाता है, जितना कि उसको ईश्वर के द्वारा दिखाया गया है। जिस प्रकार से मेघ पत्र को देखत हुए भी दृग् देय नहीं पाते अथात् पत्र दृष्टिगोचर तो है किंतु मरागत नहीं ठीक उसी प्रकार से ब्रह्म भी दृश्य अथवा नैय है किंतु सर्वांगत नहीं।^१ ईश्वर ईक्षणिय होने के कारण वाच्य ही है अनिर्वाच्य नहीं, जैसा कि अद्वैत का मत है। ईश्वर की यह नैयता श्रुति के द्वारा ही है। तब केवल उसके गुण एव सत्ता का अनुमान मात्र करा सकता है। उसके स्वरूप के विषय में और अधिक ज्ञान तब अथवा वृद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है यद्यपि जीव में जो भी वृद्धि है उसकी भी एक सीमा है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह मवया अनेय है। मन्व तथा उसके अनुवर्ती, उसे बहुत स्पष्टता के साथ, ज्ञान का विषय मानते हैं। इनके विपरीत मानने का अर्थ श्रुति की अप्राप्तता स्वीकार करना होगा। ब्रह्मसूत्र भाष्य के प्रारम्भ में ही मन्व ने कहा है कि—'अनन्तगुणयुक्त, सर्वदोषविनिमुक्त नैय एव प्राप्य नारायण की वेदाना करके मैं सूत्र का प्रायान करना है।'^२ इस प्रकार मन्व मत ने ईश्वर को नैय माना गया है।

प्रत्यक्षतया में ईश्वर अपनी आनन्दावस्था में रहता है जबकि सम्पूर्णसृष्टि सत्कार की स्थिति में रहती है। इसके उपरान्त वही भिन्न स्थिति में से सत्कार को उत्पन्न करता है। देवी अभिव्यक्ति का एक क्रम-वामुदेव प्रथम अनिरुद्ध एव सकृपण का चतुर्व्यह है। इसके उपरान्त ईश्वर दृग् द्वाद्वा अथवा अमर्त्य अवतारा के रूप में अपने आवरो अभिव्यक्त करता है। पंचरात्र साहित्य में ईश्वर की इस व्यक्तिक अभिव्यक्ति को गूढ मूर्ति कहा गया है।^३ सामान्य रूप में स्वीकृत अवतारा की सत्या दृग् से अधिक भी मान ली गई है। इस दत्त हरि आदि की गणना उक्त मूर्ती में नहीं की गई है। शंकर एव रामानुज दोनों ही आचार्य कृष्णदेवायन व्यास का पूर्णावतार मानने के पक्ष में नहीं हैं जबकि सुदानमूरि आदि पर्यन्त रामानुज-टीकाकार मध्य के इस मत को मानने लगे कि व्यास विष्णु के अवतार थे। रामानुज के ही अनुवर्ती वेदान्तदेविक ने व्यास का प्रारम्भिक रूप के आधीन सामान्य जीव माना।^४ मन्व अवतार में हीनता और उच्चता का कोई क्रम नहीं मानते। अवतारा

१ मध्य—ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।३

२ महा, १।१।१

३ मध्य—महाभारत ता० निगद १।१०

४ वेदान्तदेविक—रामा० गी० भा० टीका ४।६

के आकार के विषय में शंकर उसको मायिक तथा भौतिक देहादि युक्त मानते हैं। रामानुज के अनुसार मध्व भी आकार को स्थित्य एव अप्राकृत कहते हैं।^१ मध्व एव वेदान्तदेशिक ने पंचरात्रसहिता के समान उद्धरणों को अपने समर्थन में उद्धृत किया है।^२ रामानुज ने इन अवतारों के विग्रह को आत्यन्तिक नहीं माना, जबकि मध्व ईश्वर के इन अवतारों के आकार को दाम्बत और नित्य मानते हैं।^३

ईश्वर के स्वरूप को अनिवचनीय कहना द्वैत-मत के अनुसार अनुचित है। अनिवचनीयता स्वयं में अप्रामाणिक है। ब्रह्म की अनिवचनीयता क्या प्रत्यक्ष है? मिथ्या शब्द तो अभाव का ही याचक है अतः उसके आधार पर भी अनिर्वाच्यता असाध्य है। सत् से भिन्न असत् से सर्वथा पृथक् 'सदसद्विलक्षण कोई स्थिति नहीं होती। असत् नहीं है यदि ऐसा वाक्य प्रयोग किया जाय, तब दो निपटों के प्रयोग से प्रकृत अर्थ (ब्रह्म) अतिगम्यता के साथ ज्ञात होगा कि 'सत्' ही होता है। सदसद्विलक्षणत्व की स्थिति ऐसी अवस्था में भी कहाँ रही?^४

अद्वैत और द्वैत मत का सर्वाधिक विवादास्पद प्रसंग ब्रह्म की सगुणता है। शंकर ब्रह्म के निगुण रूप के पक्षपाती हैं। एव मध्व-दर्शन, जैसा कि प्रोक्त विवेचन से सिद्ध है सगुण रूप ही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप मानता है। मध्व की ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप की उक्त मायता यह भी प्रमाणित करती है कि अद्वैत सम्मत सगुण ब्रह्म की उपादेयता अर्थात् धर्म एव आचारगत माननीय सतोपमात्र भी उस अस्वीकार्य है।

व्यासतीर्थ के अनुसार ब्रह्म की सगुणता का निराकरण किस आधार पर किया जाता है? क्या यह ब्रह्म में गुणों की स्थिति को प्रतिपादित करनेवाले हेतु के अभाव में, माना गया है? अथवा ब्रह्म में गुणों के अभाव को सिद्ध करने वाले किसी स्थिर प्रमाण के कारण ग्रहण किया गया है?

१ 'नियमप्राकृतम् । रामानुज गीताभाष्य ४।६

अवतारविग्रहस्यापि अप्राकृतपरमपदनिलय विग्रहान्विधेयत्वम् ।'

वेदान्तदेशिक रा० गी० भा० टीका पृष्ठ १३

२ न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मासिमेदोऽस्थिमभवा ।' बाराह ३४।४०

३ 'सर्वे शाश्वताश्च देहास्तस्य—। भा० ता० नि० पृष्ठ ५

४ मध्व—अनिवचनीयासिद्धे । न हि तत्र प्रत्यक्षमस्ति । मिथ्याशब्दस्त्वभाव वाच्य एव । तदन्यत्र प्रमाणाभावात् । न चायत्रप्रमाणम् । प्रतिज्ञा प्राहते । न हि सदेतरासत्तत्त्वायत्सत्सद्विलक्षणप्रसिद्धम् धासान भवति द्वौ नञौ प्रकृतमथ सातिशय गमयत इति सदेव भवति । कमनिणय

पृष्ठ २५० (सबमूल)

प्रथम पक्ष का समाधान, व्यासतीर्थ सम्मत है, कि श्रुति एवं अनुमान दोनों के द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है, कि ब्रह्म की विशेषताएँ वास्तव हैं न कि भ्रान्ति ज्ञेय। इसी को अनेक आधारों पर मध्य मत के विचारकों ने व्याख्यात किया है।

शांकर वेदात्त में ब्रह्म की निगुणता का प्रतिपादन ही, मुख्य रूप से, श्रुति के विवेचन का आधार रहा है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में अनेक स्थान पर शांकर ने ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव चित्त एक एवं असग है।' शांकर तथा परवर्ती अद्वैत समर्थक शुद्ध चैतन्य से परिपूर्ण रूप में ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। शांकर सगुण ब्रह्म को सर्वथा त्याज्य नहीं मानते अपितु उसकी व्यावहारिक सत्ता को उद्धाने स्वीकार किया है। साथ ही यह भी कि उपनिषद् में जहाँ ब्रह्म सगुण ब्रह्म का निर्देश है वहाँ उपासना के निमित्त ही उसका वर्णन है।^१ क्योंकि निगुण ब्रह्म उपासना का आधार नहीं हो सकता। साथ ही ब्रह्मसूत्र एवं श्रुति दोनों में ही ब्रह्म को निमित्त एवं उपासना कारण माना गया है। यह कारणता निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप के साथ सम्भव ही नहीं है। इसीलिए अद्वैत मत में व्यावहारिक सत्ता की भावना स्वीकार की गई। इसी अवस्था में स्वीकृत ब्रह्म सगुण है तथा वहाँ सम्पूर्ण जगत का ग्रासक, उपावक तथा अविद्याप्रस्त जीवा की उपासना का आधार है।^२ शांकर ने ईश्वर और ब्रह्म दोनों पदों का प्रयोग आत्मतत्त्व के ही निमित्त किया है। किन्तु परवर्ती टीकाकारों ने ईश्वर पद का प्रयोग सगुण ब्रह्म के ही अर्थ में किया है। जो पारमार्थिक दृष्टि से अविद्याकृत है। किन्तु क्या सगुण और निगुण रूप द्विविध ब्रह्म एक ही मत में ग्राह्य हो सकते हैं? क्या वे दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं? शांकर ने स्वयं इस प्रकार का प्रश्न उत्थापित करके समाधान किया है कि इन दो रूपों में कोई भी अन्तर्विरोध नहीं है। जिस प्रकार से जीवात्मा की स्थिति है वही उसी प्रकार से ब्रह्म की भी स्थिति है। पारमायत दोनों का आधार एक ही चैतन्य तत्त्व है।^३ दोनों ही घट से आवृत आकाश एवं मट में आवृत आकाश के समान अविद्याकृत या मायिक हैं अथवा पूर्णकारण की दृष्टि

१ शांकर— नित्यशुद्धबुद्धमुक्तगण्यस्वभाव फूटस्थनित्य एकस्मिन् असग ।' ब्रह्मसूत्र

भाष्य १.१.२

२ यहाँ— स्वमहिमप्रतिष्ठभ्याप्युपाधारविशेषादेश उपासताद्यो भविष्यति स्वतः स्वात् ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वतरतोपपत्त ।' १.१.३

३ यही— तनाविद्यावस्थया ब्रह्मण उपास्योपानादिप्रमाण सर्वो

यवत्पर । १.१.२

४ शांकर ब्रह्मसूत्र भाष्य पृष्ठ २०१

स उनमें कोई अंतर नहीं है।^१ शंकर के अनुसार भी ईश्वर विश्व की सृष्टि स्थिति एवं सहार आदि का आधार है। कम क बच स वह सवथा मुक्त है।^२ जीव का स्वरूप ईश्वर से भिन्न है वह जमादि स सयुक्त है। बच और धर्मों स युक्त नहीं है। अत ईश्वर एवं जीव दोनों परस्पर सवथा भिन्न हैं। इन दोनों के इस विभे का आधार क्या है? इनके भासमान रूप में विरोध क्यों है? अद्वत के अनुसार उपाधि के अंतर के कारण ही यह भेद है कि ईश्वर नासक्त है और जीव नासित। शंकर के द्वारा प्रतिपादित उक्त उपाधि भेद परवर्ती विचारका के द्वारा भी स्वीकार कर लिया गया। उन विचारको म उपाधिगत भेद की मायता होने पर भी उन के स्वरूप एवं चेतन तरंग से सम्बद्धता को लेकर पयाप्त विवाद है।

विचारण्य ने अविद्या की आवरण और विक्षेप शक्ति के आधार पर ईश्वरोपाधि एवं जीवोपाधि की भिन्नता को प्रमाणित किया है।^३ विक्षेपशक्ति की बहुलता स युक्त उपाधि माया से उपहित चित् तत्व को ईश्वर एवं आवरण शक्ति की बहुलता से युक्त अविद्या नामक उपाधि से उपहित चित् तत्व को जीव कहा है। ईश्वरोपाधि म सत्वगुण की अधिकता है जीवोपाधि म तमोगुण की।

सवज्ञात्ममुनि के अनुसार मूलाविद्या म चित् का प्रतिबिम्ब ईश्वर है, एवं अविद्या के काय अंत करण मे प्रतिबिम्बित चत य जीव हैं। सम्भवत सवनात्ममुनि की मायता का आधार एक ओर जीव की सख्यागत बहुलता का समाधान हा। अर्थात् ईश्वर कारणोपाधि है एवं जीव कार्योपाधि है। जप्पय दीशित ने सवनात्म मुनि क मत को सक्षेप म इसी रूप म कहा है।^४ विवरणप्रस्थान के अतगत ब्रह्म अविद्या से उपहित चैतन्य है, जबकि जीव अविद्या म प्रतिबिम्बित चत य है। ईश्वर का विवरण सम्मत स्वरूप अपक्षाकृत अविन स्वतंत्र है।^५ इस प्रकार गकरोत्तर विचारका म ईश्वरोपाधि एवं जीवोपाधि के स्वरूप के सम्बन्ध मे भल ही मत भेद हा किन्तु ये दो पृथक् उपाधि होती है, एवं इनके कारण ही जीव एवं ईश्वर की स्थिति है इस तथ्य के प्रति सभी सहमत है।

किन्तु ब्रह्मसूत्र के दाकरभाष्य की भामती टीका क निर्माता वाचस्पति एवं

१ गकर निरतिशयोपाधिसम्पन्नस्यश्नरो निहीनापाधिसम्पन्नान् जीवा प्रशस्ति ।'

पृष्ठ २६७ ब्रह्मसूत्र भाष्य ।

२ भगवद्गीता भा० ४।१४

३ विचारण्य—मायाविद्ये जिहायत्र उपाधिपरजीवयो । पचत्गी १।४८

४ जप्पय दीशित—कार्योपाधिभवज्जीव कारणोपाधिरीश्वर । प्रतिबिम्बोत्तर सक्षेपगारीककृत नय ॥ तिद्धातोग सग्रह १।३८

५ तत्त्वदीपन २४० ८१

प्रकाशानन्द ईश्वर के लिए स्वतंत्र उपाधि को मानने के पक्ष में नहीं हैं। प्रकाशानन्द अविद्या के आशय के विषय में विवेचन करते हुए ईश्वरोपाधि के सव्या अभाव की स्थिति का दृढ़ता से पालन नहीं कर सके। वाचस्पति ने भी यही माना है, कि तत्त्वतः ब्रह्मवान तो ऐश्वर्य ही है और न सव्यता। वह तो अविद्या की उपाधित उपधान मात्र है।^१ सृष्टि क्रम ब्रह्म पर भ्रातिपूर्ण अविद्या-जनित आलोच है जो प्रत्येक जीवात्मा में परस्पर भिन्न है। श्रुति ब्रह्मसूत्र आदि में उस सव्य एव जगत् का उपादान कारण आदि कहने का अभिप्राय ब्रह्म को जीव के अज्ञान के विषय के रूप में निरूपित करना मात्र है।^२ ब्रह्म की जगत् के प्रति कारणता भी अविद्या का ही परिणाम है। अविद्या भी भ्रम की निमित्त में निमित्त कारण ही है, उपादान नहीं। अतः वाचस्पति सगुणता को तो मानने हैं पर ईश्वर की अलग कोई उपाधि नहीं स्वीकार करते। माया आदि अविद्या के पर्याय है।^३ माया जीव मायावान का सम्बन्ध विषय विषयी का सम्बन्ध है। प्रकाशानन्द के अनुसार भी सगुण ब्रह्म का ग्रहण जीव की कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।^४

मध्य और उनके अनुयायी साकरमत के उन ईश्वर स्वरूप विवेचन में सहमत नहीं हैं। मध्य के अनुसार ब्रह्म का निगुणमानने पर श्रुति विरोध कम निर्णय में अनेक उद्धरण द्वारा, प्रतिपादित किया गया है।^५ उस श्रुति में सव्य कहा गया है। तदथ वर्त्ता का होना आवश्यक है। तत्त्व ब्रह्म में तभी सव्य है, जब उसे सगुण मान लिया जाए।^६ सत्य ज्ञानमन्त ब्रह्म आदि श्रुति वाक्यों का व्याख्यान अद्वैत मतानुयायी विद्वान् 'तद्विरोध्यपरित्याग' अर्थात् अज्ञान आदि, ब्रह्म विरोधा अर्थात्, का परित्याग ग्रहण करते हैं। ऐसा करने पर मुख्यार्थ प्राप्त ही नहीं हो पावगा, अर्थात् पद से सर्वत्रहीत अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इसीलिए

१ वाचस्पति मिथ—न च तात्त्विकमश्वमम् सव्यत्वञ्च ब्रह्मण त्विद्विद्योपाधिनिमित्तम् ।' भासती, पृष्ठ ३०

२ वही, पृष्ठ १६२

३ वही, 'ब्रह्मण तु इयमविद्याभित्तर्माणात्वाद्या ।' पृष्ठ १८७

४ "The Saguna aspects of Bramha, according to him (prakbas hananda), is only an imaginary creation of Jivas "

Dr A K Naram—Critique of Madhya refutation of vedant

५ मध्य— तत्रैकाद्वरगुण प्रकृति । न तद्युक्तम् । श्रुतिमुक्तिविरागान् । नयाहि श्रुति — सत्य ज्ञानमन्तब्रह्म । एतावानस्य महिमा तत्रा ज्ञायाश्च गुण । या न पिता जनिता नो विधाता ।" कमनिषम, पृष्ठ २६०

६ मध्य— त्रुद्धिपूर्वक सव्यतत्वात् सव्यत्वान्मो गुणा युक्ता ।' वही, पृष्ठ १०

सुरेश्वर ने कहा कि, 'यहा 'अरण्यब्रह्म' यह अर्थ, उससे विरुद्ध अर्थ के परित्याग के कारण ही है न कि शब्द की सामर्थ्य से। (तद्विरोध्यसत्याग सामर्थ्यात् न तु शब्दतः ।) अतः श्रुति वाक्या का निगुण व्याख्यान, शब्द से अर्थ का व्याख्यान न होकर केवल व्याख्यान की सुविधा के लिए ही किया गया है। अतः उक्त वाक्या का सगुण ब्रह्म परक व्याख्यान ही उपयुक्त है। सगुण-श्रुति, विशेष विधायक होने के कारण सामान्याभिधायक निगुण श्रुति की अपेक्षा अर्थ प्रत्यायन में अधिक सक्षम है।

साथ ही श्रुति में प्रतिपाद्य निगुण पद का भां निराकार या निविशेष अर्थ नहीं है। अपितु त्रिगुणातीत निस्त्रगुण्यता यही अर्थ है। इस प्रकार निगुण श्रुतियों का सम्यक् अर्थ जान लेने के उपरांत सगुण के प्रति उनकी वाचकता समाप्त हो जाती है।^१ क्योंकि ये त्रिगुण सत् रज तम, प्राकृत हैं, जबकि ब्रह्म प्रकृति के परे है।^२ अनंतगुणक ब्रह्मादि कहने का भी यही अभिप्राय है, कि वह प्राकृत गुणा से रहित है। नगुण श्रुति-वाक्यों का ग्रहण इसलिए भी और आवश्यक है कि वे तत्कत स्वतः सिद्ध हैं जबकि निगुणता प्रतिपादक श्रुति-वाक्य परस्पर विरुद्धाभिधान पर आधारित है।^३ परिणामतः सगुण श्रुतियां को निगुण का उपजीव्य मानना चाहिए। उपजीव्य-श्रुति के स्वतंत्र होने से उनका महत्त्व है। विरोध होने पर उसी की भावना ग्राह्य होगी। कोई भी निगुण श्रुति ब्रह्म की सत्ता का निषेध नहीं करती अतः सत्ता श्रुतिज्ञेय है यह कथन भी आधार हीन है कि निगुण श्रुति स्वरूपमात्रोपलब्धि तक ही सगुण का आश्रय ले सकती है। इस लिए परिस्थिति विशेष में किया गया गुण निषेध सदा नहीं है।

व्यासतीर्थ न ब्रह्म की सगुणता के प्रतिपादन हेतु अनेक आधार अनुमान के रूप में प्रस्तुत किए हैं।

ब्रह्म की सत्ता बिना किसी निश्चित गुणों के सम्भव ही नहीं है। क्योंकि वह एक तत्त्व है। अर्थात् वह तत्त्व है जो निषेध से सदा भिन्न है।

ब्रह्म में अविरागित्व नामक विशेषता है क्योंकि वह भ्रम का आश्रय है 'श्रुति वै समात्'। ब्रह्म में वेदान्त प्रतिपादित ज्ञान का विषय होने की विशेषता है क्योंकि

१ वादिराजतीय— अतस्त्वन्निगुणत्व नास्य तु स्याद्वि कदाचन ।

तस्मात् त्रिगुणभूयतात्तानिगुणोऽप्ययमेव हि ।' ५७२ ॥

मुक्तिमरिक्ता, गुणसौरभ

२ 'When the absolute is said to be Nirguna it only means that it is trans empirical as gunas are products of prakrti and absolute is superior to it'

Indian philosophy Vol II P 536 Dr Radha! rishnan

३ डा० वी० एन० के० गर्मा—दक्षिणासफी आश्रम मन्नापाय पृष्ठ २३५

वह वेदात् जिज्ञासा का विषय है जो भी जिज्ञासा का विषय होता है, वह उक्त धर्म से युक्त होता है।

ब्रह्म म असाधारण एव प्रतिष्ठित गुण हैं क्योंकि उनकी प्राप्ति के प्रति इच्छुक होने पर वह वसा कर सकता है। जो प्राप्ति म समय और इच्छुक होता है वह इनकी प्राप्ति कर लेता है जैसे कि मनुष्य।

ब्रह्म सभी प्रकार के दाया एव दृग्गुणों से रहित हैं। क्योंकि वह उनसे रहित होने को इच्छुन एव सक्षम है। जो निरोध के लिए इच्छुक और सक्षम होना है वह ऐसा कर लेता है जस कि मनुष्य।

उक्त सभी अनुमान के प्रसंग ब्रह्म की मगुणता के लिए ही हैं। प्रथम अनुमान के प्रसंग का मूल आधार किसी भी तत्व का गुणा क बिना न रहना है। पदाथ ज्ञान का विषय है। मध्य के अनुसार ज्ञान सबदा सविशेष होता है। अत उनके लिए किसी अथ का गुण विहीन रूप में ग्रहण कर पाना ही असम्भव है। इसी प्रकार अथ सभी अनुमान अन्तत ईश्वर तत्व की मगुणता का ही प्रतिपादन करते हैं।

मध्य मत की एक और उल्लेखनीय साम्यता यह भी है, कि विरोध और विशेष्य का तभी सम्बन्ध हो सकता है, जब वे एक ही वग के एव वास्तव ह्य। विशेषण म न हो वह सत्त्ववान् हो, यदि वह अथ अथ से सम्बद्ध है तो वह अपने से भिन्न अथ के विशेषण के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकता। उपाहरण के लिए रज्जु म ध्रमवगात् सप के गुणा का आरोप हो गया। इस प्रसंग म सप के गुण रज्जु क गुणा से पृथक् हैं, वे रज्जु से कथमपि संबद्ध नहीं हो सकत। इसलिए ब्रह्म ज्ञान का विषय तभी हो सकता है, जब वह सविशेष हो। वे विशेषण रज्जु मे सप के धर्मों की प्रतीति के समान मिष्ठा नहीं होंगे।^१ यह मगुण ब्रह्म का स्वस्व केवल व्यावहारिक स्तर का नहीं है, अपितु परमाथत है।

ईश्वर के अद्वैत स्वरूप को स्वीकार न कर सकने के कारण ही मध्य ने उपाधि का मान्यता को भी नहीं माना। 'उपाधिसंख्येयम्' नामक ग्रंथ म मध्य ने इसका विस्तार दे रान्त किया है। उपाधि पहले से स्थित भेद की जापक मात्र है कारण नहीं है।^२ इसी रूप म अनेक अथ तत्र उपस्थित किए गए हैं। माया एव उपाधि, यदि निर्माण की क्षमता नहीं रखती, केवल सीमित करने की ही उनकी शक्ति है तब ईश्वर के आभास की मृष्टि भी उनका काम नहीं हो सकता। मध्य के अनुसार ईश्वर की मवन्ता एव सबव्यापकता आदि म तथा उसकी सत्ता में कोई अंतर नहीं है। जबकि गकर ईश्वर को सत्ता और उसी गुण दोनों को औनाधिक मानत हैं। यदि

१ भा० ए० के० नारायण—७ द्वितीय आव मध्य रेफुटेशन आव वेगान्त पृ० २२८
२ मध्य—विद्यमानस्य भस्व जापको नव कान्क । उपाधिसंख्येय पृ० ३

मुरेश्वर ने कहा कि, 'यहा 'अराण्डब्रह्म' यह अथ, उससे विरुद्ध अथ के परित्याग के कारण ही है, न कि शब्द की सामर्थ्य से। (तद्विरोध्यसत्याग सामर्थ्यात् न तु शब्दतः) अतः श्रुति-वाक्यो का निगुण व्याख्यान, शब्द से अथ का व्याख्यान, न होकर केवल व्याख्यान की सुविधा के लिए ही किया गया है। अतः उक्त वाक्या का सगुण ब्रह्म परक व्याख्यान ही उपयुक्त है। सगुण-श्रुति, विशेष विधायक होने के कारण सामान्याभिधायक निगुण श्रुति, की अपेक्षा अथ प्रत्यायन में अधिक सक्षम है।

साथ ही श्रुति में प्रतिपाद्य निगुण पद का भा निराकार या निर्विरोध अथ नहीं है। अपितु त्रिगुणातीत निस्त्रैगुण्यता यही अथ है। इस प्रकार निगुण श्रुतियों का सम्यक् अथ जान लेने के उपरांत, सगुण के प्रति उनकी वाचकता समाप्त हो जाती है।^१ क्योंकि ये त्रिगुण सत् रज तम, प्राकृत हैं जबकि ब्रह्म प्रकृति के परे है।^२ अनंतगुणक ब्रह्मादि कहने का भी यही अभिप्राय है कि वह प्राकृत गुणा से रहित है। सगुण श्रुति-वाक्यो का ग्रहण इसलिए भी और आवश्यक है कि व तत्त्व स्वतः सिद्ध हैं, जबकि निगुणता प्रतिपादक श्रुति-वाक्य परस्पर विरुद्धाभिधान पर आधारित हैं।^३ परिणामतः सगुण श्रुतिया की निगुण का उपजीव्य मानना चाहिए। उपजीव्य-श्रुति के स्वतंत्र होने से उनका महत्त्व है। विरोध होने पर उसी की भायता ग्राह्य होगी। कोई भी निगुण श्रुति ब्रह्म की सवज्ञता का निषेध नहीं करती अतः सवज्ञता श्रुतिनेय है यह कथन भी आधार हीन है, कि निगुण श्रुति स्वरूपमानोपलब्धि तक ही सगुण का आश्रय ले सकती है। इस लिए परिस्थिति विशेष में किया गया गुण निषेध सवदा नहीं है।

व्यासतीय ने ब्रह्म की सगुणता के प्रतिपादन हेतु अनेक आधार अनुमान के रूप में प्रस्तुत किए हैं।

ब्रह्म की सत्ता बिना किसी निश्चित गुणा के सम्भव ही नहीं है। क्योंकि वह एक तत्त्व है। अर्थात् वह तत्त्व है जो निषेध से सवया भिन्न है।

ब्रह्म में अविराधित्व नामक विशेषता है क्योंकि वह धर्म का आश्रय है श्रुति के समान। ब्रह्म में वेदान्त प्रतिपन्नित्वान का विषय होने की विशेषता है, क्योंकि

१ वादिराजतीय—अतस्त्वन्निगुणत्व नास्य तु स्याद्धि क्त्वाचन।

तस्माद् त्रिगुणतूत्वात्निगुणोप्ययमथ हि।' ५७२ ॥

मुक्तिमरिलवा गुणसौरभ

२ 'When the absolute is said to be Nirguna it only means that it is trans empirical as gunas are products of prakriti and absolute is superior to it'

Indian philosophy Vol II P 536 Dr Radha.Krishnan

३ अ० बी० एन० के० गर्मा—दक्षिणासफी आश्रम मध्याचम्य पृष्ठ २३५

ब्रह्म के सभी गुण औपाधिक हैं तो सत्ता' भा उसका गुण ही है, उस भी औपाधिक मानना होगा।^१ औपाधिक तत्व आभासजय होने ह न कि वास्तव। अत ब्रह्म भी वास्तव नहीं रह सकेगा।

किंतु मन्त्रादि विद्वाना द्वारा किया गया उक्त खण्डन का विरोध मधुसूदन ने अपनी अद्वैत सिद्धि में बहुत विस्तार से किया है।^२ मधुसूदन के अनुसार^३ व्यासताथ अनुमान के द्वारा जो कुछ सिद्ध करना चाहते हैं उसका पता क्या है? शुद्ध-ब्रह्म अथवा आनोपहित चतुर्थ। यदि शुद्ध ब्रह्म के अनुमान का विषय बनाया गया तो फिर वह शुद्ध नहीं होगा सीमित अथवा परिच्छिन्न हो जावेगा। इसलिए व्यासतीय को यह मानना ही होगा, कि ब्रह्म, जो उनके अनुमान का विषय है, परिच्छिन्न ब्रह्म है उस अद्वैत भूतानुयायी विद्वान् पूरा ब्रह्म तक पहुँचने के पूर्व की स्थिति के रूप में ग्रहण करते हैं। अनुमान में यह भी आवश्यक है कि साध्य में जो साधन किया जा रहा है उस हेतु के साथ जयत्र भिन्न रूप में ग्रहण कर लिया जाना चाहिए। अनुमान में उदाहरण यही काय सम्पन्न करता है। इस प्रकार की अनुमान सम्बन्धी मूल अनिवायता व्यासतीय के सर्वाभित अनुमान प्रसंगा में नहीं है। उसमें ब्रह्म की उस सत्ता को साध्य बनाया है जो शुद्ध ब्रह्म से सम्बद्ध है। यह विनोपता उदाहरण के रूप में प्राप्त होने वाला जय तत्व घटादि में नहीं है। क्योंकि उनकी सत्ता केवल व्यावहारिक है। और इस दोष से व्यासतीय को तभी मुक्ति मिल सकती है जब वे इश्वर की ही सत्ता का जाघार बनाए न कि शुद्ध-ब्रह्म की सत्ता को।

दूसरे तर्क में कहा गया है कि यह विरोधा से रहित एवं ब्रह्म जिनामा का विषय है। य सब विशेषताएँ मानसिक परिकल्पनाएँ मात्र हैं इनका ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति के उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जावेगा कि किस भाँति मानसिक कल्पनाओं से साध्य के स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ता। मुक्ति जय नान के स्वरूप की विरोधिनी नहीं है। इससे उससे स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ता। इसी प्रकार ब्रह्म जिनामा का विषय बनने से ब्रह्म की स्थिति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी। मधुसूदन के अनुसार^३ यहाँ वस्तु के कात्पनिक बोध एवं विषयगत निणय के अन्तर के ग्रहण करने में भ्रम ही काय कर रहा है। एक वास्तविक व्यक्ति अपनी वास्तविक विनोपताओं के साथ कात्पनिक व्यक्ति कात्पनिक विनोपताओं से सदाश भिन्न है, एवं वास्तविक व्यक्ति में कात्पनिक व्यक्ति की विशेषताओं का विषय निषेध प्रतिपादित नहीं करता। यही तो भ्रम का क्षेत्र है। एक वस्तु एवं दूसरी प्रमजय

१ व्यासतीय—यायामृत पृ० ४८६

२ मधुसूदन—अद्वैत ब्रह्मसिद्धि पृ० ७८६

३ अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ७१८

वस्तु अथवा उसका गुणों के सम्यक् को बिना किसी अन्य विषयगत वैशिष्ट्य के प्रति पादन क जाना जा सकता है।^१ इसलिये यह कथन सवया तकहीन है कि विचार सबदा विषयगत भाग से सम्बद्ध होत हैं। यद्यपि ब्रह्म वेदान्त जिनासा का विषय है और अपाधित है, तो भी यह मानना असंगत होगा कि वह उन विशेषताओं से युक्त है।

अन्तिम अनुमाना में व्यासतीय ने श्रेष्ठगुणा से ब्रह्म को युक्त एक दुर्गुणों से रहित प्रतिपादित किया है। अद्वैत भी इन सबको स्वीकार करता है, केवल इस अंतर के साथ कि जिस विषय के साथ इनकी सम्बद्धता प्रमाणित है, वह आत्यन्तिक एवं पारमायिक नहीं है। वाणी का प्रयोग केवल व्यावहारिक स्तर तक ही है, इसके आगे नहीं। सम्भवत इत मत के विचारक प्रमाणा की ब्रह्म ज्ञान में प्रवृत्ति से सम्बन्धित दुर्बलता की महत्व नहीं दे सके हैं।

मध्य की सगुण श्रुति की व्याख्या और उनके निगुण श्रुति वाक्या के साथ सम्बन्ध के विषय में यक्त मत के धारणा की समीक्षा करते हुए अद्वैत विचारकों ने प्रतिपादित किया कि—सगुण और निगुण श्रुतियों के प्रतिपाद्य विषय में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। केवल विषय के अन्तर के कारण व्याख्यातगत अन्तर है। अतः मध्य के पास कौन सा प्रबल तक है, जिसके आधार पर वह सगुण प्रतिपाद्य श्रुतियाँ की ही मूलतः सत्य मानने में तत्पर हैं निगुण श्रुतियों की नहीं? या कि सगुणश्रुति में प्रतिपादित तत्व ही आत्यन्तिक एवं पारमायिक है निगुण श्रुति में प्रतिपादित तत्व की अपेक्षा?

सगुण-श्रुति में व्याख्यात चतुर्थ तत्व के स्वरूप का निषेध निगुणतापरक श्रुति वाक्या में किया गया है। इसमें यह प्रमाणित होना है, कि सगुण श्रुतिवाक्यों में प्रतिपादित स्वरूप अन्तिम नहीं है। उपनिषद् के जिन भागों में सगुण श्रुतियों का उल्लेख प्राप्त है, वे उपामाना से सम्बन्धित हैं। यहाँ पर ब्रह्म से सम्बन्धित जो वचन हैं, वह उपासना के विषय के रूप में ही हैं। किन्तु उन प्रसंगा में जहाँ ब्रह्म का पारमायिक विमर्शन अभिप्रेत है, यहाँ उसका वास्तविक स्वरूप का वाच ही गिप्य को कराया गया है। श्रुतियाँ में अपर ब्रह्म का उल्लेख इमीलिय किया गया है, ताकि उनका निगुण श्रुति से विरोध मुपमत्त पूर्वक ग्रहण निया जा सके। चतुर्थ वेदान्त का आत्यन्तिक प्रतिपाद्य निगुण ब्रह्म ही है। सगुण श्रुति को अर्थ कहना, अद्वैत वेदान्तिया का अभिप्राय नहीं है, अपितु केवल उनकी आध्यात्मिकता मात्र यहाँ व्याख्येय है।

श्री एच० एन० राधकृष्णन के मध्य प्रतिपादित स्तर तत्व के स्वरूप को उद्दिष्ट करके व्यक्त किया कि— मध्य का निवचन द्वैतपरक न हानर अद्वैत परक ही है

१ अ० ए० के० नारायण—विचार जाय मत्त्व रफुर्गन जाय वगैरे पृ० २३७

२ मधुसूदन—अद्वैतसिद्धि पृ० ७१६

तथा वह शंकर और रामानुज के मत का समवयवात्मक रूप है।^१ वे इस मत को द्वैत के रूप में अनूदित किये जाने से विरुद्ध हैं।^२ यह अद्वैत इसलिए प्रहीत है कि मूलतः एक ही तत्त्व स्वतन्त्र है अथ सभी परतन्त्र। ऐसी दशा में अतत्त्वोक्तत्वा एक ही तत्त्व की स्थिति रही, परिणामतः मध्व ने भी अद्वैत में ही गरण ली। वही ईश्वर तत्त्व एवं ऐसा आधार है जो इस मत की अद्वैतता प्रमाणित करता है।^३

श्री राघवेन्द्राचार के उक्त मत का खण्डन करते हुए डा० ए० के० नारायण ने व्यक्त किया, कि इस मत को अद्वैत मत मानने के मूल में द्विविध भ्रान्ति है। जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने अद्वैत मत तथा मध्व के स्वतन्त्र एवं अस्वतन्त्र तत्त्व को समझने में भ्रान्ति की है। अद्वैत मत में अन्वय का आधार, मूल तत्त्व एक है इस वचन का अभिप्राय है कि सत्ता की दृष्टि से केवल एक ही तत्त्व परम है। अथ सभी तत्त्व सत्ता की दृष्टि से अपेक्षाकृत हीन हैं। किन्तु मध्व मत में जहां तक सत्ता का प्रश्न है ईश्वर से भिन्न जीव एवं जगत् तत्त्व किसी भी रूप में हीन नहीं हैं। वे अपने ही सत्तावान् हैं जितना कि ब्रह्म।^३ डा० नारायण के मत से भी यह समाधान नहीं हो पाता कि मध्व मत जीव और जगत् की परतन्त्रता को ही सम्यक्तया व्याख्यात क्यों नहीं कर पाता? एक ओर कहा गया है कि वे ईश्वर के द्वारा ही ये सभी सत्तावान् हैं। कहा गया है कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति सहार नियमनादि आठ प्रकार से इनका प्रभु है क्या उसकी यह प्रभुता श्री राघवेन्द्राचार के मत का समर्थन नहीं करती? वास्तव में मध्व एक ओर इन तत्त्वों की अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करना चाहते हैं दूसरी ओर वे प्रत्येक प्रकार से परतन्त्र हैं। ऐसी अवस्था में दोनों विरोधताओं से इनका समवयव कैसे किया जा सकेगा?

१ डा० एच० एन० राघवेन्द्राचार—द्वैत फिलॉसफी एण्ड इट्स प्लेस इन वेदान्त पृष्ठ १२

२ 'Having these ideas in mind, we may see how misleading it is to translate Dvaita Vedanta as Dualism. Dualism stands for the view which seeks to explain the world by the assumption of two radically independent and absolute elements. We have seen how Aswatantra standpoint that Swatantra is one and that it is the source of the reality of Aswatantra. This Vedant in fact is real example of monism i.e. the sense of one in many and this stands for the idea of a single principal as a ground of many.' Ibid P 241

३ डा० ए० के० नारायण—एन आउट लाइन ऑफ मध्व फिलॉसफी पृष्ठ १२४

मध्य ने ईश्वर के जिस स्वरूप की रीति प्रतिपादन की है और उसने प्रतिपादन में जिन तर्कों का उपयोग किया है, वे तक पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा भी प्रयुक्त किए गए हैं। 'ईश्वर का जगत् का कारण माना गया है। जड़ तत्व काय स्वरूप है। उसका कोई न कोई कारण होना चाहिए, जिसका कोई अन्य कारण न खोजा जा सके। ईश्वर ही ऐसा कारण हो सकता है कि उसके कारण के रूप में किसी कल्पना का स्थान नहीं है।' मध्य ने भी 'जन्माद्यस्य यत' सूत्र के व्याख्यान में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। 'नतिक नियम' को भी पाश्चात्य दार्शनिकों में ईश्वर सिद्धि का आधार माना गया है।¹ हम नतिकता के नियममानन को वाध्य हैं। साथ ही एक आदम की सृष्टि के लिए भी, जिसे जीवन में नहीं पाया जा सकता। इस जीवन के अतिरिक्त आगामी जीवन में भी उसे हम प्राप्त नहीं कर सकते।² उसे सुरक्षित रखने वाला पूरा तरह मानना होगा अर्थात् ईश्वर की सत्ता स्वीकार करनी होगी।

1 Dr Ewings— The fundamental question of Philosophy, P 23

2 Ibid— 'We are bound by the essential nature of morality to form an ideal of a supreme good which cannot be completely realized in this life. Further since we are dependent not only on our own efforts but on the co operation of nature, we must suppose if the ideal is to be capable of realisation at all not only that we survive bodily death but that nature is controlled in such a way as to subserve the ideal in a future life or lives, as well as in this. This we can only conceive if we think of the world as controlled by a morally perfect being having adequate power and wisdom to adjust it to the supreme : e if we accept the belief of God

Ibid—Page 236

षष्ठ अध्याय जीव तत्व

चित्त-तत्व म युवन जीवात्मा की मायता अत्यन्त प्राचीनकाल मे ही उपलभ्य है । उसे शरीरेन्द्रियबुद्धि आदि से अभिन्न एव भिन्न भी माना गया है । परवर्तीकाल म चेतना के आश्रय इस तत्व का दानानिव एव मनोवैगानिव विवेचन अत्यन्त विगडता से प्राप्त होता है । उसके इन्द्रिय विषयानि से सम्बन्ध की भी सूक्ष्म विवेचना नास्तिक मता में जन एव आस्तिक मता म योग म विस्तार पूर्वक की गई है । भारतीय दान म धम दृष्टि के समन्वय के विधान स युक्त होने के कारण जीवन-स्वरूप की पारधात्य दानशास्त्र से, भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है । पारधात्य चित्तन-सरणि के सभी विद्वान् आत्मा की सत्ता, निविवाद रूप से सिद्ध, नहीं मानते । उनम आत्म-तत्व है या नहीं, यही विवाद का विषय है । भारतीय चिन्तन इस प्रिवाद मे न पडकर, आत्म तत्व की सिद्धि स्वीकार करके, उसके स्वरूप, पारस्परिक भेद उसकी नियमिका शक्ति जगत् से सम्बन्ध आनि विषय का ग्यान्धान प्रारम्भ कर देने हैं । मध्व ने भी इसी क्रम मे अपने विचार स्पिर किये हैं । किन्तु मध्व के विचारा के विवेचन के पूव ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप म नास्तिक एव आस्तिक मता के जीवन स्वरूप का विवेचन आवश्यक है ।

चार्वाक—बृहस्पति को आदि आचार्य मानने वाला चार्वाक मत चतय से युवन दह को ही आत्मा स्वीकार करता है ।^१ देह के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व को आत्मा के रूप म ग्रहण करने के लिए, उसके अनुसार, प्रमाणों का अभाव है । चार्वाक के मत में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही माय है । परिणामत आत्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिपाद्य होना चाहिए । अप्रामाणिक वस्तु का ग्रहण किसी भी शास्त्र म ल्याय है । प्रत्यक्ष के आधार पर देहादि के अतिरिक्त किसी को प्रामाणिक मानना सम्भव नहीं है, इसलिए देह ही आत्मा है ।^२ 'स्थूलोऽहम् कृणोऽहम्' आदि दह को आत्मा के रूप

१. माधवाचार्य—'तर्च्यैतयविशिष्ट देह एव आत्मा' । सब दान सग्रह पृष्ठ ३

२. माधवाचार्य—'देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्' । सब दान सग्रह पृष्ठ ३

म शरीर बनाने वाले अनुभव वाक्य हैं। यदि यह पूर्वपक्ष के रूप में कहा जाय कि 'ममशरीरम्' यह अनुभव भी तो प्राप्य है, जो संकेत करता है कि शरीर से भिन्न कोई 'मम' पद-वाच्य है, तो इसके उत्तर में चार्वाक विद्वाना का कथन है कि यहाँ 'राहो गिर' के समान व्यपदेशिवद्भाव है। इनमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। ये सभी औपचारिक प्रयोग हैं वस्तुतः शरीर ही आत्मा है।^१ चार भूता—भूमि, जल, अग्नि तथा वायु—से ही चतुस्र उत्पन्न होता है।^२ जिस प्रकार स ताम्बूल और मुषारी आदि के संयोग से राग की उत्पत्ति होती है, वैसे ही चतुस्र भी इहाँ जड़ वस्तुओं का विचार मात्र है।^३ आत्मा के विषय में ही व्याख्यान करते हुए चार्वाक मत के चार उपभेदों का उल्लेख बनातमारकार सप्तानन्द ने भी किया है।^४ चार्वाक मत को बड़ विरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि यह भारतीय चिन्तन की सम्पूर्ण उपलब्धि के विरोध में स्थित था। इसीलिए मध्व के जीव मन्वन्धी विवरण को चार्वाक द्वारा प्रभावित नहीं किया जा सका।

जैन—बौद्धादि दशक में जैन मत ही एक ऐसा मत है जिसमें जीव के विषय में उसके मनोविज्ञान के विषय में, अपेक्षाकृत विस्तार से चर्चा की गई है। जैन मत मूलतः दो तत्व मानता है। जीव एवं अजीव। अथ अस्तिक बहुत्ववादी मता में जिन तत्वों की आत्मा अथवा पुष्प कहा गया है उनमें जीव अविधान किया गया है।^५ स्वरूप में समान होने हुए भी ये जीव मर्यादा की दृष्टि में अनेक हैं। जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त एवं बद्ध। बद्ध भी स्थावर और चल के दो रूपों में विभक्त हैं।

चेतना जीव का मूलतत्व है। प्रत्येक जीव में चतुस्र होता है। मम के आधार पर जीवों में चतुस्र की स्थिति होती है। स्वभावतः जीव में अनन्त दशक, अनन्तान अनन्त सुख और अनन्तवीर्य है। उनकी अनन्तचतुष्टय कहा गया है। बद्धावस्था में मम के कारण यह चतुष्टय अस्पष्ट रहता है। जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं जातृत्व साम्प्रतिक रूप में है। इसकी गणना अस्तिकाय द्रव्या में है। उनकी स्थिति प्रकार के समान है। जहाँ पर दीप-योति रहती है उस स्थान को वह प्रकार में आपूरित कर

१ माधनाचाय—देहात्मवादे च स्मृतौ ह कृणो ह कृणोऽमित्यात्सामानाधिकरण्यो-
पपत्ति । मम शरीरमिति व्यवहारे राहो गिर इत्यादिवदौपचारिक ।
पृष्ठ ६

२ वही—अत्र च चारि भूतानि भूमिवायनलानिला ।

चतुस्रं ससु भूतेभ्यश्चतुस्रं यमुपजायते ॥३॥ पृष्ठ ७

३ वही—जडभूतविवारेषु चतुस्रं यत्तु दृश्यते ।

ताम्बूलपूगवृर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् ॥ मवसिद्धा न मग्रह, पृष्ठ २७।

४ सप्तानन्द—वेदान्तसार, पृष्ठ २६ २७

देती है। साथ ही जिस प्रकार एक स्थान पर अनेक दीप ज्यानिया बिना किसी पारस्परिक विरोध के रह सकती है। यद्यपि यह स्वयं बिना किसी जाकार के हैं फिर भी देह के आधार पर उमका आकार रहता है। जीव की देह के साथ अविरुद्ध स्थिति है। इन्द्रिय मन बुद्धि जादि जात्मा के 'केवल ज्ञान' के अपरोक्षक हैं। ज्ञान जात्मा का धर्म नहीं है अपितु स्वरूप है। अवरोधात् स मुक्त होना ही सत्ता एव मोक्ष है। जीव का स्वाभाविक रूप सत्य है उस पारिणामिक कहा गया है। जीव के अवयवा के कम के अवयवा के साथ ज्ञान वाल सलिलुष्ट बंध प्रदग्बन्ध है। उसी के कारण जीव अपने आपका भिन्न रूप में जानता है। इसी कम के भाव अभाव एव भावाभाव पर आधरित जीव की चार अवस्थाएँ हैं जम मिट्टी के कपालादि पर्याय हैं, क्रमशः भविष्य में होने वाली अवस्थाएँ हैं वैसे ही उपराम क्षय क्षायोपराम एव औदयिक ये चार जीव के पर्याय हैं। पारिणामिक स्थिति उसकी अपनी मौलिक स्थिति है। उक्त चार भाव ही नमित्तिक हैं।^१ ज्ञान जीव का गुण नहीं अस्तु स्वरूप ही है। सत्य जीव का स्वभाव है और ज्ञान सत्य का अनुकरण करने वाली अवस्था विशेष है। ज्ञान सत्य की अवस्था विशेष है दमीलिए जीव ज्ञान ज्ञान सत्ता सत्ता भिन्न है और न अभिन्न। इस प्रकार जीव ज्ञान सत्ता भिन्न अभिन्न है।^२ इस प्रकार एक ही वस्तु की परस्पर विरुद्ध विशेषताओं का आकलन दोष नहीं है क्योंकि जन मत के स्याद्वात् के अनुसार किसी भी वस्तु के जनतधर्म ज्ञान है।

जाव का प्रकार के हैं। मुक्त जीव ससारी। जो भव से भवान्तर की प्राप्ति करते हैं वे ससारी है। ससारी जीवा को भी ज्ञान रूप में वर्गीकृत किया गया है। समनस्क और अमनस्क। समनस्क जाव ज्ञान क्रिया और आलाप का ग्रहण करने

१ माघवाचाय—(अ) औपगमिकक्षाधिको भावो मिथश्च जीवस्य स्वतत्त्वमोदिकपरिणामिकी च। तत्वमूत्र २।१

(आ) अनुदयप्राप्तिरूप कर्मण उपगम सति जीवस्योत्पद्यमानो भाव औपगमिक आहततत्त्वानुमवान् यगाद्रागादिपक्षभासेन निमननायादक क्षाधिकभावात्। उभयात्मा भावो मित्र। (क्षागोपगम) कर्मण्य भवभाव औपगमिक। कर्मोपगमाद्यनपन सृष्ट्या भावस्त्वेतत्त्वान्ति पारिणामिक। सवगान सग्रह पृ० ३।२१२-२१४।

२ वही— ज्ञानोद्भिन्नो न अभिन्न भिन्नाभिन्न कथंचन।

ज्ञान पूर्वोपरानुभूत सा यमात्मति कीर्तित ॥ पृष्ठ २।२२४

३ वही— तत्र जीवा विविधा गमारिणो मुक्तादच। भवाद्मवान्तरप्राप्तिम त समारिण। पृष्ठ ३।२२३ ३४

की दामता माने जावा म है । गिणा क्रिया और आदि मत्ताए हैं । इन सत्ताया स युक्त जीव की ही समनम्ब' कहा जा सवेगा ।^१ 'अमनस्क' जीव दो प्रकार के हैं । प्रम और स्यावर । प्रम और स्यावर कम का ही स्वरूप है । गुम और अगुम कम ना मित्रण प्रम है । अद्युमप्राय स्यावर । प्रम प्रमों के उदय से यद्ध जीव प्रम एव स्यावर है । जमात्तर प्राप्ति रहित जीवा को मुक्त कहा गया है ।^२ इस प्रकार जैन मत म जीव की वृद्धता तो स्वीकार की ही है साथ ही उसकी जय तत्वा स भिन्नता भी ग्रहण की गई है । चेतना यहा पर भी जीव के स्वरूप का मूल तत्व है ।

बुद्ध के व्याख्यान के आधार पर अनेक दार्शनिक मता का बाद म विक्राम हुआ । बुद्ध न न तो आत्मा को स्वीकार ही किया और न अस्वीकार किया । मिलि इपटो' म मिलिन्द के प्रश्न का उत्तर देते हुए नागमन उ कहा कि पचस्व'चा को ही सामान्य प्रयोग को दृष्टि म आत्मा कहा गया है । 'आत्मा' नामक कोई भी आत्म न्तिक तत्व नहीं है ।^३ हीन यान मतानुयायी बौद्ध विना पना क क्रिया की स्थिति मानते हैं । अस्तुयम ही क्रिया के रूप म परिलक्षित है, आत्मा नहीं । बुद्धा का कम सिद्धांत म्वन मचालिन नियम क समान है वह आस्तिक कम सिद्धान के समान किसी देवी गणित की अर्पणा नहीं करता । इसलिए 'आत्मा' की अर्पणा न रखन हुए यह तत्त्व अपने आप गणिगान बना रहता है । दूयवाती बौद्धा क अनुमार जा सभी प्रमों का अनात्म अथवा अनित्य मानना है वही बुद्ध ज्ञाना का सम्प्रतया समभता है ।^४ इसलिए पांच स्व'घ की भी कोद मत्ता नहीं है । कर्द जीव नहा है जो मुक्त हो अथवा बद्ध हो । निर्वाण भी मायोपम है । उसम भी पति कोद श्रेष्ठ प्रम हा तो वह भी मामा के समान ही है ।^५ नामाजु न ने भी पाच स्व'घा को अकारतव माना है ।^६ जीवात्मा भी अवास्तविक है । यह न तो पाच स्व'घा म भिन्न है और न

१ माधवाभाय— तत्र सतिन समनस्सा । गिणास्त्रियाक वापग्रहणरूपा सत्ता । २।२।३।

परवृत्तोपदेगालीनि य एह णन्ति ते जीवा समनम्बा ।

अयमीट्टा इत्येव परकीयदायगुणविचारणे या गणि सा सत्ता नद्युक्ता ।

ते च देवा गचर्वा मनुष्याश्च । पगुपु केचिदेव गजा'वादय तथा परि

प्वरि केचि'व गुवात्त्र । सवर्ग'नसग्रह टीका ।

२ वही— मत्तात्तरप्राप्तिविधुग मुक्ता ।^१ सव दगन २।२।३

३ वही— मिलिन्दपट्टो २।१।१

४ सद्धमपुडरीक पृष्ठ १२२

५ निवागमवि मायोपम म्वज्जीवममिति वदामि कि पुनरयद्धमम् । यदि निर्वाणा दप्प'य वरिवदुपमो विगिट' म्यात् तमप्यह मायापम स्वप्नाममिति वदेयम् । अष्टसाहसिकाप्रणापारमिता । पृष्ठ ६०

६ 'माध्यमिक वादिका ।

अभिन है ।^१ व्याख्यान के प्रसंग म बुद्ध ने 'आत्मा' के लिए भी मौन का ही उपयोग किया था । अत अवचन ही बुद्धवचन है ।^२

विज्ञानवादी अथवा योगाचारवादी बौद्ध विज्ञान की ही आत्यंतिक रूप में ग्रहण करते हैं । आलयविज्ञान म ही सभी विज्ञानों की सम्भावना निहित है । इन विचारकों ने आलयविज्ञान का जा स्वरूप प्रतिपादित किया है वह उपनिषद् के आत्मतत्त्व के बहुत निकट है । सत्तावतार म इसके अन्तर को स्पष्ट करत हुए कहा गया है कि तथतागम आत्मा नहीं है । क्योंकि यह निर्विकल्प है । न तो यह 'आस्ति है और न नास्ति ही साथ ही यह निराभास गाचर गृद्ध चेतना स प्रत्यक्षन जय है । अत यह अनन्तता पर आधारित नहीं है जयकि आत्मा म अस्त्यात्मनता है ।^३

जीव क विषय म बौद्ध चिन्तन म पाच श्रेणी विभाग प्राप्त होते हैं । पुद्गलनरात्म्यमाद पुद्गलास्तित्वदान् अनालिक एव वतमान घमवात् घमनरात्म्यवात् या गूयवाद तथा विण्णित्तिमाश्रतावाद ।^४ य मभी दृष्टिकाण बुद्ध की 'सत को न मानने की धारणा के ही अनेक व्याख्यान थे अत इनम किसी भी स्थिर अथवा 'सत द्रव्य को मानने की सम्भावना ही नहीं है । बौद्ध परम्परा की सभी शाखाओं को देह भद से स्वममत्त से चित्तस तान या जीव का वास्तविक भेद दृष्ट है । विण्णित्तमान को मानने वाले विचारकों की विज्ञान साततिया म भेद मानकर व स्तविक जीव भेद का प्रस्ताव करते हैं ।^५

प्राचीन उपनिषदा मे जीव के स्वरूप का वणन प्राप्त होता है किन्तु यह वणन परस्पर अत्यन्त भिन्न है । सभी उपनिषदा का विवेच्य प्रसंग एक जसा नहीं है । इसीलिए उपनिषद् पर आधारित मना म इतनी अधिक निष्कष भिन्नता प्राप्त होती है कि यदि एक केबलाद्वती है तो दूसरा पूर्णरूपेण द्रत ममथर । जीवात्मा स्वत सिद्ध है । जो ग्रहण करता है प्राप्त करता है विषयों का भोग करता है एव जो जमर है वह आत्मा है ।^६ आत्मा के जाग्रत स्वप्नमुबुध्निगनस्वरूप का अन्तर भी द्वाद्दोग्य म

१ माध्यमिक कारिका १०।१६

२ 'मा च रात्रि तथागतो भिसम्बुद्धो मा च रात्रि परिनिर्वास्यति अत्रान्तर एकमप्यशक तथागतेन नोत्पाहृत न प्रव्याहरिष्यति । अवचन बुद्धवचनम् । योग्यर पतित घम देशमति ण्णित्ति म प्रलपनि निरशरत्वात् घमम्य । सत्तावतार पृष्ठ १४२।४३

३ सत्तावतार पृष्ठ ७७।७६

४ राहुस डेविड बुध्णित्त साजिक भाग १ पृष्ठ ३१४

५ प्रमाणवातिक २।३२७

६ गकर— यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।

यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मान्नात्मेतिसक्रीतित ॥ कटोप०, भा० २।१।१

वर्णित है।^१ प्राणापान आदि इसी जीव में आश्रित हैं।^२ ऋषिमो ने चेतना के चार स्तर ग्रहण किए। उनमें से चौथा ही परम स्तर है। छान्ोग्य में पहले नम्र जल एवं आदम में दृष्टिगोचर तत्व को आत्मा कहा तदनन्तर स्वान्त चेतन को फिर सुषुप्ति वा नींद चित् तथा अन्त में तुरीयावस्था गत ब्रह्म को आत्मा कहा है।^३ सम्भवतः ये सभी भिन्न दृष्टिकोण आत्मा के विषय में प्रचलित थे किन्तु यह निर्विवाद है कि चित तत्त्व को ही आत्मा माना गया। उपनिषद् की जनेक भेद-भरण धुनिया के आधार पर माध्व तथा उसके अतिरिक्त अन्य मतों ने भी आत्मा को बहूनता की ग्रहण की।

सांख्यदर्शन भी उपनिषद् पर ही आधारित है। उसमें भी आत्मा की बहुलता प्रतिपाद्य है। इस दर्शन का वैज्ञानिक सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कपिल ने दी। इवन स्वप्नर उपनिषद् में साख्य की विचार धारा के मूल अत्यन्त स्पष्ट एवं पर्याप्त सिद्धांत रूप में प्राप्त होने हैं। इस मत के अनुसार पुरुष अनेक हैं।^४ बह पुरुष तत्व चित एवं सन् है। वह विगुण चेतन है। प्रकृति से सबका भिन्न तत्व के रूप में जीव की इस मत में प्रतिष्ठा है। प्रकृति में सम्मिश्र होना ही बंध एवं मुक्त होना तटस्थ हो जाना, मान्य है। चेतना का किसी भी गुण या धर्म में कोई सम्बन्ध नहीं है। चेतन में किसी प्रकार का सञ्चोच विस्तार एवं परिणामन आदि नहीं होता। योग में जो साधन-सहस्रान् मत ही माना जाता है, चित्त में ही सञ्चोच और विस्तार ग्रहण किया गया है। आत्म-तत्त्व में नहीं।^५ यही मायता जैन मत की भी है।^६ जीव तत्व का पुनर्जन्म से काइ सम्बन्ध नहीं है। एक सूक्ष्म शरीर की कल्पना की गई है जो जन्मान्तर प्राप्त करता है।^७ इन जीव की सत्ता, चेतन-मात्मकता एवं बहुलता इस मत को अभोरुट है।

पूर्वमीमांसा भी आत्मा की बहुलता माननेवाला मत है। श्रुतिवाक्या की साध-वता के लिए आत्मा की मत्ता एवं नित्यता का ग्रहण करना अनिवार्य है। मन इन्द्रिय, बुद्धि आदि से भिन्न तत्व आत्मा है। आत्मा न तो अणु और न मध्यम परिमाण है

१ छान्ोग्य ८।३।१२

२ काण्ड २।२।५

३ छान्ोग्य ८।७

४ ईश्वरसृष्टण—सांख्यकारिका १०

५ ध्याय—षट्प्राज्ञान-प्रदीपबन्ध सञ्चोचविज्ञानविज्ञान शरीरपरिणामाकारमित्यपर। योगभाष्य ४।१

६ 'ओप-पथिक-सायिकी भाषा मिथुन जीवम्य स्वतत्त्वमी-पिक-परिणामित्री च। तत्साध मूत्र २।१

७ ईश्वरसृष्टण—सांख्यकारिका ४०

अपितु विभुपरिमाण है।^१ प्रभाकर मत म आत्मा को जड माना गया है। इसम पान सुख दुःखादि उत्पन्न होत हैं। आत्मा पाता एव नैय भी है। अपनी प्रत्यभिज्ञा आत्मा के नैयत्व का प्रमाण है। जीव की परस्पर भिन्नता एव अनेकता मोमासा के द्वारा भी प्रतिपादित है।

ब्रह्ममूत्र भाष्य पर जाश्रित दार्शनिक मता म भी जीव के स्वरूप म विविध मत हैं। महाभारत म साय्य के नाम स तीन विचार क्रमो वा उल्लेख प्राप्त होता है। एक प्रकृति के चौबीस (२४) तत्वा का प्रतिपादक है दूसरा स्वतंत्र अनन्तपुरप माननवाला पञ्चीस तत्व वादी है, तीसरा पुण्यासे भिन्न एव ब्रह्म-तत्व मानने वाला छत्तीस (२६) तत्व वादी है।^२

एसा प्रतीत होता है कि य मूलत तीन परस्पर भिन्न प्रस्थान रहे हाग। इनको महाभारत म एक ही मत म सग्रहीत करके उपस्थित कर दिया गया। य तीना प्रस्थान परवर्ती काल म आचार्यों के द्वारा विकसित कर लिये गये एव अपने अपने प्रस्थान के समर्थन म उ होने उपनिषद् क विपुल साहित्य का उपयोग किया। उदाहरण गकर ने ब्रह्म-तत्व की पूण प्रतिष्ठा स्वीकार करके साय्य की प्रकृति म स वृत्तादि तिरोहित करके उस अविद्या या माया आदि के नाम स अभिहित किया। इसक साथ ही प्राकृत तत्वा से भिन्न पुरुष का भी स्थान न रहा। सभी ब्रह्म म विलीन हा गया। दूसरा वग एस भी विचारका का घा जि होने प्रकृति को सबथा समाप्ता नही किया अपितु ब्रह्म के परिणाम काय, अग के रूप मे उसे सुरक्षित रखा। साथ ही जीव को भी परिणाम काय एव अग के रूप म वास्तव माना है। य सभी विचारक जीव की स्थिति थथश्य स्वीकार करते हैं किन्तु साय्य के समान स्वतंत्र जीववादी न होकर ब्रह्म का परिणाम मानने से परतंत्र जीववादी हैं। इनम से सभी वेदा त सम्प्रणाय के विचारक जीव क स्वरूप के विषय म परतंत्रता स्वीकार करत है कि तु म व को छोडकर जय सभी मत जद्वत की आर ही दष्टिपात करत हुए प्रतीत होते हैं। यदि इन मना को पान म वर्गीकृत करना अभीष्ट हो तो शकर का एक पत्र है दूमरा मध्व का तीसरा जय सभी वदात सम्प्रदाया वा।

गकर केवलद्वत क प्रतिपादक आचार्य है। एममात्र ब्रह्म को ही पारमार्थिक मानने से जीव भेद का भी माया क द्वारा ही समाधान प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार की उपपत्ति इस मत मे जीव एव जीव के पारस्परिक भेद के विषय मे ग्रहण की गई है। अविद्या का आश्रय लेकर ही ये सम्पूर्ण अनुपपत्तिया उपपन्न हैं। यद्यपि गकर न उपपत्ति की प्रक्रिया के विषय म स्पष्ट पारख्यान नही किया है तो भी उनके शिष्या न

१ पायसारविमिश्र—गास्त्र-दीविका पृष्ठ ११६

२ प० मुखलाल सधवी—भारतीय तत्व विद्या, पृष्ठ १०१।

उमका विवाद रूप से विवेचन किया है। किंतु उम विवेचन में परम्पर मत विभिन्नता भी प्राप्त होती है।

विवरणकार, विद्यारण्य एवं सक्षेपणादीरिक्त के निर्माता अर्थात् विद्वान् रिम्ब्र प्रतिविम्बव्याप्त के समयक जीव का ब्रह्म का प्रतिविम्ब मानते हैं। इनमें भी प्रतिविम्ब के अविद्यागत, अनवरणगत एवं अज्ञानगत रूप में अनेक जवान्तर भिन्न मत भी हैं।^१

बुद्ध आचार्य विम्बप्रतिविम्ब भाग ब्रह्मण न करके जीव को अवन्देय बट्टा हैं। उनके अनुसार अनवरण म प्रतिविम्ब ब्रह्म जीव नहीं है अपितु अनवरणा वच्छिन्न जीव है।^२

तासरा पक्ष है कि जीव न तो ब्रह्म का प्रतिविम्ब है न उमका अवच्छेद, अर्थात् ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीव बन जाता है। अविद्या के निरस्त हो जान पर विद्या के कारण ब्रह्म बुद्ध रूप में स्थित रहता है। अनवरण मत भी जीव का ब्रह्म से अर्भिन प्रतिपादन करता है।^३

केवलाद्वैत म जीव के एक अथवा अनेक होने का भी उल्लेख है। एक जीव मानकर एक शरीर को सजीव अथ शरीर को निर्जीव मानने वाला एक वग है। दूसरा एक जीव को मानन पर भा अथ को सजीव कहता है। तीसरा वग अनेक जीवों की स्थिति स्वीकार करता है। किंतु यह सभी विवेचन पारम्परिक धरातल का नहीं है। उम शक्ति से तो ये सभी परिच्छिन्नार्थ व्यावहारिक एक मिश्रण है।^४

भाम्बर कहते हैं कि ब्रह्म अपनी भोजनृत्त शक्ति द्वारा जीव के रूप में परिणत होता है। जीव ब्रह्म का परिणाम है। अनवरण उल्लेख भिन्न है साथ ही कारण रूप में दृष्टिपात करने पर अर्भिन भी है। मत्प उपाधि म उत्पन्न होने के कारण सत्य है। अणु परिमाण जीव ज्ञान के कारण भी अस्तित्ववान् है उसके समाप्त होन पर वे ब्रह्मभेद का अनुभव करते हैं। जगत को भाये विचारक ब्रह्म का परिणाम ही मानते हैं।^५

रामानुज ने विगिप्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए जगत् की भाति जीव की भी अव्यक्त ब्रह्म से व्यक्त जीव एवं व्यक्त जगत् का प्रपञ्च का निर्धारण किया है। अव्यक्त बिद्रूप व्यक्त जीव रूप प्राप्त कर यह मत्र परब्रह्म नारायण की नीता के कारण है। यह अणुपरिमाण का है।^६ उन्तुन तीना म परस्पर भिन्नता नहीं है।

१ गंगाधर शरस्वती—वेदान्तसिद्धान्त सूत्रमञ्जरी १।२८।८०

२ वही १।४१

३ वही १।४२

४ गंगाधर शरस्वती—वेदान्त सिद्धान्त सूत्रमञ्जरी, १।४३।४४

५ रिश्वत विवेचन प्रथम अध्याय के भेदाभेद मत के तत्र ध्यायान म प्राप्य।

६ उ० ए० राधाकृष्ण—उत्पत्ति विचारकी, भाग २, पृष्ठा ६६०

प्रतापमान भेद कवल शरीरवृत्त है।

निम्नांक भेदाभेदवादी हैं। जीव ज्ञान का स्वरूप है। शरीर स इमजा सवाग एव वियोग होता है। अणुपरिमाण जीव प्रत्यक् दह म भिन्न एव अन्तत है। ईश्वर क अधीन है। एक ही वायु जब स्थान भेद स नानास्वरूप म परिणत हाती है वस ही ब्रह्म भी अनेक जीवा रूप म परिणत होता है। य जीव कल्पनाजय एव आरापित नही है।

विज्ञाननिष्ठ कहत है कि प्रकृति नी भाति पुरुष अर्थात् जीव ज्ञादि व स्वतंत्र है। य ब्रह्म स पृथक् स्थित नहा रह सनत। सभी जीव ब्रह्म म अविभक्त रूप स रहते ह जोर उमी शक्ति से मंचालित होते हैं।

बलम के अनुसार ब्रह्म जीव रूप का आविर्भाव अपनी इच्छा स करत है। माया जीव नी सृष्टि म किसी भी प्रकार स कारण नहा है। यह सम्बन्ध अग्नि एव स्फुटिग व सम्बन्ध के समान है। जीव अमर्य है। जीव जगत् व समान हा ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है। यद्यपि यह परिणाम लीनावश है तो भा ब्रह्म अविच्छेद एव गुड रहता है। जीव के स्वरूप ज्ञान होने म अविद्या का मूल स्थान है वह जगु परिमाणी है।^१

अन्य के अनुसार जीव ज्ञान स ब्रह्म अन्त जीवा के रूप म प्रकट होता है। य अपने ज्ञाना ब्रह्म स पृथक् अणुपरिमाण एव असम्य है। ब्रह्म का जीव म एकत्व बोध वास्तव है। दृश्यमान भेद माया के कारण है। जीवा के साथ ब्रह्म का भेदाभेद है पर तु वह अवि तनीय है।

भास्कर से प्रारम्भ करके अतः य तर्क के सभी विचारक ज्ञान का अणु रूप मानते ह। ज्ञान एव भक्ति के द्वारा जब वह मुक्त हा जाता है उसके ज्ञान का बोध हो जाता है तब उस दशा म वह ब्रह्म का सात्त्विक प्राप्त करता है। ब्रह्म के इस सात्त्विक के रूप स सम्बन्धित पारस्परिक मत विभिन्नता भल ही प्राप्त हो किन्तु ये मत ब्रह्म स सवागत जीव के भेद को स्वीकार नहा करत। सभी प्रकारा तर से अभेद जयवा अद्वैत का आशय नत हैं। मन्त्र उक्त अभेद का नहा मान सत। नीच ब्रह्म के अधीन अवश्य है किन्तु वह न ता उसका निम्नादि है न परिण म जपितु उसस सवया भिन्न स्थिति मे हैं। अतः उक्त सम्पूर्ण निश्चारा म स किमी स मन्त्र का महत्त्व नही है। ब्रह्म से जीव की भिन्नता तथा जीव स जाय नी भिन्नता पर मन्त्र मत आधारित है।

जीव का स्वरूप—जीव की स्थिति अनुभव सवद्य है मान तत्रग्राह्य नहा।

जीव तत्व

‘अहं प्रत्यय ही उसकी सत्ता को मिट्ट करता है।’ यह स्वाधी तत्व है इसीलिए उपनिषद् में उसे अनुच्छित्ति प्रमा कहा गया है। मध्य के अनुसार जीव और अहंकार अभिन्न है। शरकर के मतान् विद्विदात्मक नहीं। आत्मा का सम्बन्ध केसा अहंकार से बना रहता है। अनुभव के क्षेत्र में ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जहाँ जीव अहं प्रत्यय से मुक्त हो। सुषुप्ति में, जहाँ शरकर अतः करणवृत्ति का अभाव मानने के कारण अहंकार का भी अभाव मानते हैं वहाँ मन्त्र उक्त अवस्था में भी अहंकार का अभाव नहीं मानते। सुषुप्ति में वह पर्याप्त अस्पष्ट रहता है। उसकी अस्पष्टता का कारण विषय का अभाव है। नेत्र बंद रहने पर ही उसकी सुस्पष्ट प्रतीति होती है। अहंकार से अविभाज्य है। ध्यासतीय के अनुसार^२ सुषुप्ति की प्राप्ति दुःख से मुक्त होने की आशा का परिणाम है। यदि अहं न रहा तो वह आकाशा सवया ध्यय हा जावेगी। अहं अनुभव का निनात सद्भोगी है। यदि सुषुप्ति में अहं प्रत्यय का अभाव रहा तो अनुभव के क्रम का विनाश हा जायगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में उचित्य व्यक्ति को सुषुप्ति कालीन ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिए तथा सुषुप्ति के पहले के सभी ज्ञान भी विस्मृत हो जाने चाहिए। किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। सुषुप्ति कालीन ज्ञान का उचित्य ध्यक्त्त परामर्श करता ही है।

जन्म की अव्याहृत परम्परा का आधार पर भी अहंकार की सुषुप्तिगतमत्ता अपभ्रित है। यदि ‘अहंकार’ सुषुप्ति अवस्थाम नष्ट हो जायगा तो पुनः जाग्रत अवस्था में जाने पर उसकी नवनिमित्त माननी होगी। जाग्रत ध्यक्त्त से सवया भिन्न होगा। पूर्ववर्ती ध्यक्त्तत्व अज्ञान कर्मों का फल का भाग नहीं कर पावेगा। तब यह नियम ध्यय होगा कि ध्यक्त्त जन्म-कर्म का फल भोगना है^३ तथा यह भी उद्घरण करना होगा कि वह न नियम पूरे कर्मों का भी भोग करेगा।

सम्पूर्ण त्रियाएँ एव भोग अहंकार पर ही अधारित हैं। सुषुप्ति में अहंकार के न रहने पर यह मानना होगा कि कर्त्ता अहंकारमुक्त था तथा भोगना, जो सुषुप्ति अवस्थागत तथा उसका उपरांत होगा, वह अहंकार विहीन अवस्था नवीन अहंकार से युक्त होगा। अर्थात् कर्त्ता और भोगता का भिन्न भिन्न होने।
उक्त व्यापार पर द्रव्य मत अहंकार तथा जीव की अभिन्नता मानता है। अहंकार के वाग्य तथा अभिन्न ज्ञान के उपरांत ही कर्त्तृत्व एव भोगकर्त्तृत्व की

१ मन्वावाय—अहमित्येव वा वद्य स जीव इति कीर्तितः ।
स दुःखो स मुक्ती चैव न पात्र दयमा इया ॥

विष्णुतत्त्व नियम पृष्ठ २६

२ ध्यासतीय—‘गदानृत्त’ पृष्ठ २३२

३ अहंकारव्यक्त्त नाना कृत्वाहाताहताभ्यान्ममप्रमत्तश्च । गदानृत्त पृष्ठ ३०६

वाम्तविरुद्धता की सिद्धि सम्भव है। यही अहंकार जीव का अर्थ सभी तत्वों से पृथक् करता है। उपासनावाणी दृष्टिकोण में जीवा के वस्तुत्व एवं भोक्तृत्व की सत्यता मानना अनिश्चय है अथवा उपासना ही यथार्थ है जावगी तथा उपासना का कोई कारण ही नहीं रहेगा। मन्त्र भी भक्ति को मानने हैं, परिणामतः अहंकारके आधार पर भोक्तृत्व की सत्यता इस मत का भी आवश्यक प्रतीत हुआ। यही कारण है कि इस पक्ष का अधिक महत्व देते हुए य विचारक मुक्तावस्था में भी जीव को भोक्ता और कर्ता मानते हैं।

चैतन्य जीव का स्याभाविक घम है। न तो वह आकस्मिक है और न ही परिणामभूत। चावाक विचारक चैतन्य को भूता में ही उत्पन्न मानते हैं।^१ किन्तु ऐसी स्थिति में शब्द में चैतन्य होना चाहिए क्योंकि नसम सभी भूतान् विद्यमान हैं। वस्तुन जीवात्मा ही चैतन्य होता।^२ उससे सबद्ध होने के कारण ही शरीर गतिमान है। मध्य के अनुसार चैतन्य घम अथवा गुण है। इससे जीव के स्वरूप तथा चैतन्य में घम घमिभात्र के आधार पर कोई भिन्नता नहीं जाती क्योंकि इस मत में गुण को भी वस्तु का स्वरूप ही माना गया है। जत द्वैतमन में स्वीकृत जीवात्मा को चैतन्य होना उसका स्वरूप ही है। तथा यह चैतना गुण भी है। इस प्रकार चैतना के गुण होने हुए भी स्वरूपन स्थिति होने से किसी विरोध पूर्ण स्थिति का प्रसंग नहीं रहा। विरोध तभी होगा जब मूलतः जीव को हम निर्विरोध मान चैतन्य को गुण तथा गुण एवं गुणी को सवथा भिन्न मानें। यह मध्य मत सम्मत नहीं है।

चैतन्यात्मकता की दृष्टि से विचार करने पर ईश्वर और जीव में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु जीव की स्वप्रकाशकता इश्वराधीन है। यह केवल ज्ञानस्वरूप ही नहीं अपितु नातृ स्वरूप भी है। इसका विपरीत अद्वैत वेदान्त स्वप्रकाशकत्व को शुद्ध चैतन्य की विषय विषयि रहित सस्थिति को मानता है। किन्तु आत्मा को पहले अपने आपको तो जानना ही चाहिए अर्थात् उसे ज्ञान और नातृ इन दोनों ही रूपों में रहना चाहिए। तथा दूसरा के द्वारा भी ज्ञेय होना आवश्यक है। इसीलिए जयतीर्थ आदि विद्वान् प्रभाकर के समान आत्मा को जड मानने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि यह ज्ञान, क्रिया मुख दुःख आदि का आश्रय है। भीमासक उसे आश्रय और ज्ञान दोनों मानते हुए भी आत्मनप्ति में असमर्थ मानते हैं। आत्मा का ज्ञान उनके अनुसार स्वयं प्रकाशकत्वन न होकर अनुमान के द्वारा होता है। यह अनुमान अहं प्रत्यय पर आधारित

१ युक्ति मल्लिका, १ १६४ १६७

२ एन आउट लाइन ऑफ मन्त्र फिलॉसफी, डॉ० के० नारायण, पृष्ठ १३६

है। माध्व मत में यह ग्राह्य नहीं है।^१ आत्मा की स्वप्रकाशकता निर्विवाद है। अह प्रत्यय का अनुभव इसकी स्वप्रकाशकता का आधार है।

‘आत्म ज्ञान का विषय है’ इस विचार के विरुद्ध अद्वैत वेदांती का कथन है कि यदि आत्मा को ज्ञान का विषय माना गया तो ‘वस्तु कमभाव विरोध होगा। अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुओं का ज्ञान होता है उसे ज्ञान का विषय नहीं बनाया जाना चाहिए। जो कम है वह कम ही रहेगा। बता नहीं बन सकता। इसी भाँति जो कर्ता है। वह कम नहीं होगा। आत्मा यदि ज्ञान का कर्ता है तब उसी को कम मानना असंगत है।

किंतु माध्व का कथन है कि केवल तब के अनुरोध से अनुभव को बाधित नहीं किया जा सकता। अद्वैत मत आत्मा को कर्ता भी ता परमायत नहीं मानता। क्योंकि प्रकाशकता कहते ही विषय विषयी भाव का ग्रहण करना अनिवार्य है। किंतु उनसे विचारक विषयी भी नहीं मानते तथा न विषय ही मानते हैं। परिणामतः विषय अथवा विषयी दोनों ही प्रकारों में से किसी भी रूप में प्रकाशकता से आत्मा का सम्बन्ध यदि नहीं रहा तो यह ग्रहण करना होगा कि आत्मा में स्वप्रकाशकता नहीं है।^२ आत्मा को विषय माने बिना अथवा के रूप में भी वह प्रामाणिक नहीं है। जो प्रामाणिक नहीं है उसे ग्रहण भी नहीं करना होगा।

द्वैत मत में विशेष नामक तत्त्व की मायता के कारण प्रत्येक जीवात्मा का अपना वशिष्ठ्य है। यही कारण है कि माध्व द्वावस्था में आवृत्त चिदात्मा को ज्ञय मानते हैं। आत्मा यदि स्वयं भासमान निर्विशय है तो वह किसी भी प्रकार से ज्ञान में आवृत नहीं होगा। जब वस्तु स्वयं भासित है तब अज्ञान किसका आवृत करेगा।^३

१ न चात्मन स्वप्रकाशे विवक्षितव्यम् । अहमित्यनुभवात् । न चायं मानसाऽनुभवः । तस्यापि ज्ञायमानत्वनानुभवात् तत्राप्येवस्थानात् कस्मिंश्चिदनुभवस्य स्वप्रकाशत्वे स्वात्मन एव तत् । निनासाया अनुभवात्प्रभूयत इति न वाच्यम् । अनुभव इति न वाच्यम् । अनुभव विरोधात् न ह्याप्यमानानसद्भावो विचित्रवानम । न च स्वप्रकाशविदाश्रयतया आत्मा अवभासते इति युक्तम् । अक्षरिबानुस्मृति सिद्धसौपुप्तिकानुभवाभावप्रसंगात् । नहि सुषुप्तावात्माविरिक्ता सविदस्तीति सम्भवति । सविदात्मकत्वाच्चात्मना न सविद इव सविदाश्रयतया प्रतीतिः । १।१।१। तत्त्वप्रकाशिका ।

२ अर्थात्—विष्णु तत्त्व निणय टीका, पृष्ठ ६६

३ निर्विशेष स्वयं भासते किमपानावन भवेत् ।

स्वरूपस्य सिद्धत्वात् विनेयाभावाच्च तागतं कस्मिंश्चिदावरकम् ।

मायावाद-खण्डनम्, पृष्ठ १२

जीव की स्थिति इन्वर म ही है। वस्तु तो जीव का उद्भय मानना जीव की आत्यंतिक स्थिति का विरोधी हो सता है। किंतु उसकी यह सत्ता उपाधि के कारण है। उपाधि ही जीव का स्वरूप प्रदान करती है। उपाधि विभेदक है, उत्पादक नहीं। यही सविशेष तथा अनादि जीव की अभिव्यक्ति करती है। अतः मध्व मत में जीव स उत्पत्ति का अभिप्राय उपाधि के सहयोग से जीव का धमयुक्त अभिव्यक्त होना है।^१ यह उपाधियाँ दो प्रकार की हैं। स्वरूप एव बाह्य। सुवतावस्था में बाह्य उपाधि (स्थूल एव सूक्ष्म शरीर) रहा रहता किंतु स्वरूपोपाधि उस समय भी बनी रहती है। उपाधि के साथ वह अभिन्न है।^२ उपाधि नित्य है वसतः जीव भावभी नष्ट नहीं होता।

जीव के कारण स्वरूप में ईश्वर का मान लाने के बाद जीव की नित्यता के विषय में सदेह उठना स्वाभाविक है। जयन्तीय के अनुसार जीव को प्रतिबिम्ब मानने के बाद भी वह अनादि एव नित्य है। यदि उपाधि (स्वरूपोपाधि) का मन्व स्वीकृत स्वरूप नद्वय होना तब तो अनित्यता का प्रश्न उठ सकता था किंतु जब दाना ही अविनश्यत है तब जीव की नित्यता के विषय में कौट सदेह नहीं रहता। मध्व के अनुसार जीव वृत्त्व और भोक्तृत्व दोनों मिथ्या नहीं हैं। जीवात्मा का नातृत्व भी इसी प्रकार ईश्वर के अतः ज्ञान सभिन तथा निश्चित है। ज्ञान का आश्रय होने के कारण जीव को इस मत में अनान का भी आश्रय माना गया है।^३ जीव आत्यंतिक सत्तावान् है। इसकी नित्यता श्रुति प्रतिपाद्य है।^४ वह आनन्दत्मक है। आनन्दत्मक होने के कारण ही मुमुक्षुजा के प्रयत्न उसकी अभिव्यक्ति के लिए हाते हैं। जीव के इस आनन्दस्वरूप के अभिव्यक्त न होना

१ मन्व— जीवोप्यत एव परमेश्वरानुत्पद्यते—नित्यस्यापि हि जीवस्योपाध्यपेक्षया उत्पत्तिरित्युच्यते। ब्रह्म सूत्रभाष्य पृष्ठ ८३ तत्त्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११५

२ 'जीवोपाधिद्विधाप्रोक्त स्वरूप बाह्य एव च। बाह्योपाधिसय याति मुक्तो अयस्य तु स्थिति। तथा उपाधेश्च नित्यत्वात् नव जीवो विनश्यति ॥ स्वरूपत्वाच्च उपाधेन भिन्नोपाधिकल्पनम्। तत्त्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११७

३ तत्त्वप्रकाशिका पृष्ठ ११६

४ An out line of Madhva Philosophy Dr K. Narain P 146

५ नित्यो नित्यानामिति जीवस्य नित्यत्वमुक्तम्। पृष्ठ ८३ ब्र० सू० मध्वभाष्य

अविद्या ही कारण है।^१ मुक्तावस्था में आनन्द-बाहुल्य के कारण ही वह ईश्वर में समाप्त हो जाता है।

अथ चैतन्य महा के समान मध्य नी जीव की अणुपरिमाण का मानते हैं। चैतन्य के कारण ही वह सम्पूर्ण देह की अनुभूति परात्म में प्राप्त होता है। अतः दीर्घ का प्रकाश पूरे कक्ष को आलोकित करता है वगैरे ही जीवात्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। अपने वैशिष्ट्य के कारण वह एका परत में समथ है।^२ जीव के परिमाण का व्यापमान बहुत विस्तृत एवं प्राचीन है। सूत्रकार ने भी इसका विस्तार लक्ष्य किया है।^३ 'मायवैश्वानर, मीमांसा साम्य धाग तथा अद्वैत ब्रह्मसूत्र मत्तानुयायी विचारण त्रिभु परिमाणवाची, जैन मध्यम परिमाणवादी तथा भण्डवमत अणुपरिमाणवाची हैं।'^४ अतः चैतन्य एका परत स्थित होने पर भी सम्पूर्ण शरीरको सुकामित करता है वही चैतन्य जीवात्मा की है।^५ श्रुतियां में जीव का आवागमन करा वाला माना है। यदि उस विद्यु-परिमाण का माना है तो फिर इन सभी श्रुतियों के विरुद्ध जीव का स्वरूप ग्रहण करना होगा। अतः अणुपरिमाण मानना चाहिए।^६

मध्वाक्षर साहित्य में जीव की साकारता पर बहुत बल दिया गया है। आकार के बिना किसी वस्तु की कल्पना करना अमम्भव है। जिग तरह अणु का भी आकार होता है वगैरे ही जीवात्मा का भी आकार है। अणु आकार की स्थिति जिस प्रकार सा अनादि है वगैरे ही जीव का आकार अनादि है।^७ जीव के स्वरूप में साकारता तो

१ भावत्वनाम-तत्त्वो जीव ।

तन्मिव्यक्तयथ च मुमुक्षुणा प्रयत्नोपपत्तेरिति भाव । न सावरणमनुपपत्ति ।

पानभावातिरिक्तनिमित्ताविषयसम्बन्धमान् । तत्त्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११६

२ Dr S N Dasgupta—According to him, the view that Jive is atomic in size and not all pervading Being in one place it can vitalise the whole body just as a lamp can illuminate a room by its light which is a quality of the lamp, for substance may be pervading by virtue of its quality', A History of Indian Philosophy Vol IV P 146

३ ब्रह्मसूत्र २।३

४ डा० के० नारायण—एन आरट लाइन आर मध्व क्लिप्तासपी, पृष्ठ १५७

५ मध्व—अणुमात्रोप्यय जीव स्वदेहं व्याप्य निष्ठति ।

यथा व्याप्यशरीरानि हरिचान्नि विष्णुप ॥ प्र० सू० भा० २।३।३ ५

६ तत्त्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११५

७ चादिराजतोय—अणुनामगुराकारो यथा नित्योप्यनास्ति ।

ज्योतिमया तथा जीवास्थाकारा सत्तु सततम् ॥ युक्तिमल्लिका, पृष्ठ २,

है ही ।^१ आत्मप्रकाशी तत्व कोई न कोई आकार अवश्य लिए रहता है—जैसे दीप की ज्योति । वैसे ही जीव की आत्मप्रकाशकता के लिये आकार का होना अपरिहाय है । यदि जीव का आकार न माना गया तब श्रुति प्रतिपाद्य यह तथ्य भी व्यर्थ हो जावेगा कि बाह्य देह के न रहने पर भी जीव आनन्द भोग करता है । आनन्द भोग करने के लिए माध्यम की साकारता नितान्त अपेक्षित है । जिस प्रकार से कचुक ही गरीर का आच्छादन कर पाता है उससे भिन्न कोई वस्तु इसमें समथ नहीं वैसे ही हस्त पादादि युक्त देह के अभाव में जीव की स्थिति की कल्पना असम्भव है । हस्तपादादि का जीव के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है ।^२ जो भी सत्तात्मक पदार्थ है वह चेतना चैतात्वेन अभि-यन्त है ।^३ जीव का स्वाभाविक रूप उसका आकार है अर्थात् देह है । यदि देह को स्वीकार न किया जाय तो देह का आनुक्रमिक विकास कारण विहीन हो जावेगा । यदि जीव को साकार नहीं माना गया तो स्रष्टि की निर्मिति में घटादि को भी वह आकार क्या नहीं मिला जो जीव के शरीर को मिला ? आकारत्व विशेष की कल्पना बिना जीव और उसके आकार के स्वाभाविक सम्बन्ध माने सम्भव नहीं है । भिन्नावृत्ति वाले शरीरों को हेतु मानकर जीव के विषय में अनुमान किया जा सकता है । अतः जीव अभि-यन्त तथा जीव को मानने के साथ ही उसके विनिष्ट स्वरूप को मानना भी अनिवाय है, और इसीलिए जीव साकार है ।^४

जीव और उसके देह के सम्बन्ध को स्वाभाविक मानने का अर्थ है कि मध्य भी देहात्मवाद मानते हैं, जो चार्वाक मत का अभीष्ट है । प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या दोनों मतों का स्वरूप एक जैसा ही है । किन्तु मध्य के अनुसार देह भौतिक नहीं है । प्रकृति का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वह आनन्द और चतन्य से निर्मित है । चावान् स्वीकृत देह भौतिक है इसलिए नश्वर है । मध्य स्वीकृत देह-स्वरूप नश्वर नहीं है अतः अविनश्वर जीव में उसका स्वाभाविक सम्बन्ध है ।^५

१ वादिराजतीय—सुखज्योतिस्वरूपात्सरचित्ता साकारता रतुम् । पृष्ठ २६

२ वही 'कञ्चुकैऽस्ति तनुच्छायान् त्वकञ्चुक्वाससि ।

तत्तस्वाभाविका भावे न स्युरोपापिका अपि ॥ युक्तिमल्लिका पृ० २०५

३ वही यस्तु वरतु निराकार वक्त्रि तत्त्व न वेत्ति स ।

चित्वाचित्वाक्षय तत्त्वमित्यमित्यतिनिमलम् ॥ पृ० २०८

४ वही 'अतस्त्वभावरूपस्याभावे रूपपरम्परा ।

निर्निमित्ता भवेत्तस्मात्साकारा जीवराशया ॥ युक्तिमल्लिका, पृ० २०४

यत् गरीरयतिरिक्तजडा कारादिमत अत इत्यथ स्वभाव रूपस्य स्वभावदेहस्य । रूपपरम्परा देह परम्परा तस्मात् निर्निमित्तत्वायोगात् । सुरोत्तमतीय टीका ।

५ डा० के० नारायण—एन आउट लाइन आव मध्य फिलासफी पृष्ठ १४१

जीव की पारस्परिक भिन्नता को और बहुत्व को साम्य ने जिन आधारों पर स्वीकार किया है, १ वह बहुत उपयोगी आधार नहीं है १^२ इसलिए जयतीर्थ तथा अन्य अन्यक दंत विद्वानों ने माना कि इन आधारों के अतिरिक्त कम किसी पुष्ट आधार पर स्थापना करनी चाहिए। केवल प्राकृतिक आधार समके लिये अपर्याप्त है १^३ रामानुज के अनुसार आनंद और ज्ञान की मात्रा को दृष्टि से उनके स्वरूप विशेष में कोई पारस्परिक अंतर नहीं है इनके विपरीत मध्य चेतन के प्रतीकमान भेद को उसके मूलतत्त्व आत्मा में अंतर माने बिना स्वीकार करना असम्भव है। यदि जड़ पदार्थों की परस्पर भिन्नता का ग्रहण करने के लिए अणु के अणुत्पत्ति को स्वीकार किया जा सकता है तो आत्मा के पारस्परिक विभेद के आधार को आत्मगत विभेद कता के रूप में स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ?

यद्यपि कम सिद्धांत जीवा के बाहुल्य का समर्थक है तथापि अनादि-कम-परम्परा यह बतलाने में असमर्थ है कि कोई आत्मा अच्छी या बुरी क्या है ? यदि सभी आत्मों में परस्पर विभेद नहीं है, तब अनादि धर्म की स्थिति सभी के साथ एक जसी होने के बाद, इनमें यह भेद कहाँ से आ गया ? अतः इस अन्तर के आधार को जीवात्मा के स्वरूप में ही खोजना होगा। अतः जीव भेद की धारणा साम्य के समान भौतिक स्वरूप पर आधारित नहीं होनी चाहिए, अपितु कोई आत्मन्तिक आधार अधिक श्रेयस्कर होगा। साम्य, जैन तथा रामानुज जीव भेद को सम्पागत आधारपर मानते हैं। जबकि मन्व विंग नामक तत्व को स्वीकार करके सख्या एक स्वरूप दोनों आधारों पर जीव की पारस्परिक भिन्नता मानते हैं १^४

अनुभव का आधार जीव है। एक जीव का अनुभव दूसरे जीव के अनुभव से सदा भिन्न है। इस भिन्नता का कारण अनुभव के आधारों की भिन्नता हीनी चाहिए। सुख और दुःख का अनुभव स्वीयतया ही होता है इसलिए अनुभव का

१ ईश्वरदृष्टि—^५जननमरणकरणानां नियमादनुपपत्प्रवृत्तेषु ।

पुरुषबहुत्व मिथ्य प्रगुण्य विषयमाच्चव ॥ साख्य सारिका १८

२ जयतीर्थ—^५यस्मिन्पुरुषबहुत्व साध्येनातीकृत तन्पि मायावादिभिरभ्यपगतमेव । न तु स्वरूप वद्विचरस्ति परस्परतो विंग "यायमुधा, पृष्ठ ३२८

३ डा० बी० एन० गर्मा—विज्ञासकी भाव श्रीमध्वाचार्य, पृष्ठ १३६

४ D B N K Sharma—"Even the most merciless critic of Madhva must admit that Madhva is utterly consistent in accepting the quantitative and qualitative pluralism of souls ' philosophy of Sri Madhvacharya P 19८

आधार एवं दूसरे से प्रयुक्त है।^१ 'कृतृत्व और भोक्तृत्व से युक्त बाह्याकार आदि से भिन्न स्वरूपवाला साक्षी मैं हूँ' यह प्रतीति स्वतः सिद्ध है। साक्षि अनुभव के आधार पर जीव चैतन्यो म परस्पर अंतर है।^२ अनुसंधान को इस मत में भेद का आधार बनाया गया है। अनुसंधान का अर्थ है 'इस सुख से मैं सुखी हूँ यह अनुभव। इसी प्रकार के सुखात्मक एवं दुःखात्मक अनुभव के आधार पर आत्मा की भिन्नता की ध्यवस्था मानी जा सकती है।^३ जीवा के भिन्न भिन्न कर्मों को भी मान लेने के उपरान्त जीव की उपाधि की भिन्नता भी माननी होगी तथा उपाधियों के परस्पर भिन्न होने से जीव की परस्पर भिन्नता स्वतः प्राप्य है क्योंकि उपाधिभेदसिद्धि एवं जीवभेदसिद्धि अयोपाधित है।^४ वादरत्नावली के अनुसार जीवों के सांसारिक और मुक्त मह दो रूप उनके परस्पर भेद को स्वीकार कराने में समर्थ हैं।^५ अदृश्यत्व की विभिन्नता को भी मध्य ने भेद का आधार माना है।^६ जीवों में प्राप्त वशिष्ट्य यदि अनादि है तो वह अब क्यों नहीं है? और यदि वह अदृश्य पर आधारित है तब तो अदृश्य को सभी मानते हैं। अतः जीव वचिन्त्य भी सभी को मानना चाहिए। यदि यह विशेषता आक्स्मिक रूप में प्राप्त होनेवाली है तो प्रत्येक स्थान पर आक्स्मिक प्रतिपत्ति माननी होगी। यदि अदृश्य को कभी भी अपेक्षित नहीं मानेंगे तथा यदि अदृष्ट से ही यह वशिष्ट्य हो तो इस वशिष्ट्य के अनादिस्व को क्यों नहीं माना

१ जयतीय— चतःप्रावच्छिन्नतमवयवमनुसंधानकप्रमाणम् । अनुसंधान नाम भाग समाख्यात स्वीयतया दुःखादिसाक्षाकारोऽभिमत ।

—यायमुधा, पृ० ५०७

२ वही— "कृतृत्वभोक्तृत्वशक्त्युपेतसाकारदेहादियतिरिक्तरूपमहमिति साक्षिसिद्धम् । —यायमुधा, पृ० ६३३

३ वही— नह्यस्माभिधमभेदो वा भिन्नाश्रयधमभेदो वा यवस्थत्यपीकृतत्वत । अपितु सुखदुःखाद्यनुसंधानभावाभावरूपयवस्थायो अपीकृत्वात् । अनुसंधाने नाम अनन सुखेनाह सुखी इत्यनुभव ।

वादरत्नावली २

४ मध्य— 'सिद्धो च कर्मभेदस्य स्यादुपाधिविभिन्नता ।

तत्सिद्धो च च तत्सिद्धिरित्ययोऽयमवाश्रय ॥ उपाधिसंहन, पृ० १०

५ सांसारिकभुक्तव्यवस्थायाम् च भेदः सिद्धः । न च कोऽपि मुक्तो नाम्नीति प्रलापो युक्तः ।' वादरत्नावली २

६ मध्य— प्रतिविम्बानामिथो वचिन्त्येकारणमाह—अदृष्टनियमादिति ।

अनादिविद्याकमवचि यात् वचिन्त्यम् ।" ब्र० सू० भाष्य २।३।५१

जाना ?^१ जीवा म नान गविन और जान द की मात्रा के आधार पर भी अंतर होता है । इसीलिए मध्व ने जीवों को तीन प्रकार में वर्गीकृत किया है ।

(१) मुविनयोग्य

(२) तमोयोग्य

(३) नित्यसत्सारिन्

यह स्वरूप तारतम्य की मायता तुरन्त ही स्वीकार कर ली जावेगी यदि जीव-व्यवस्थ मान लिया गया हो तो । मध्व की यह अपनी मौलिक मायता है । किसी भी वैष्णव विचारक ने इस प्रकार के मन को ध्यान नहीं दिया । रामानुज मुक्तावस्था में जीव और परमात्मन्य में किसी भी अंतर के अभाव के पक्षपाती हैं । ऐसी दशा में एक ऐसे अनौचित्य को स्वीकार करना होगा जिसके अनुसार जो कष्ट पीडा आदि में निराल पीड़ित जीव या वह ईश्वर के समकक्ष हो गया । अर्थात् नियम्य और नियामक एक ही स्थिति बन जायेंगे । कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो जीव के स्वरूप-तारतम्य को स्वीकार करने को बाध्य करते हैं । ब्रह्म स्वतंत्र क्यों है ? जीव परतंत्र क्यों है ? कुछ लोग क्या पीछे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और कुछ लोग क्या मरार के भागी बने रहते हैं ? सभी प्रकार के दुखों से ब्रह्म विनिमुक्त क्यों है ? रामानुज मत के विद्वान् यद्यपि मुक्तावस्था में जीवद्वाराभेद को मानते हैं और स्वरूप तारतम्य को अस्वीकार करते हैं तथापि उनके स्वयं के कथन नित्य सत्सारी की सत्ता सिद्ध करत हैं ।^२ इसी प्रकार रामानुज कुछ आत्मावा का ऐसा वर्ग भी स्वीकार करत हैं जो नित्यमुक्त हैं जैसे विष्वक्सेन, गण्ड आदि । इस उल्लेख से स्वरूप-तारतम्य उक्त मन में स्वतः सिद्ध हो गया ।

हिन्दू पुराण गाम्त्र में देव मानव और अमुर आदि मोनियार मानी गई हैं । यद्यपि कम के द्वारा इनमें से एक हमारे में पहुँचा जा सकता है तथापि इन मानियों के वर्गीकरण का आधार केवल कम नहीं है । मानव प्रकृति की ध्यान में रखा जावे तो

१ यद्यनान्निविगपो न माम्प्रत कथमिष्यन् ।

अदृष्टादेव चादृष्ट मीकृत सबया मि ॥

आत्मिका विनेपयददृष्टे क्वचिन्पि ।

सवत्राकामित्व म्यानादृष्टापिना क्वचिन् ॥

अदृष्टाच्चद्विनेपोऽयमनात्त्वं कुता न तन् ? अनुशासन ३।४।५ ६

० 'व्यान्तदेतिर इह सयूयया परे च केचिन् आहु इत प्रथमपि पदवादिपि केचिन् मोक्षयते' एक पाद नोद्धरति ।' शिष्याप्यज्ञसमगुभान् । 'मामप्राप्यैव' श्यानिनिरलमिद्धम् ।' तत्रमवावसाप-वेणात्तदिति । पृष्ठ १३५

मध्व का उक्त वर्गीकरण पर्याप्त 'यावहारिक प्रतीत होता है।' इसके अतिरिक्त जीवा के इस स्वरूप तारतम्य का समथन ब्रह्म^२ एव उत्तरब्रह्म^३ श्रुतिया करती हैं। ईश्वर की भक्ति भी तारतम्य विभूक्ति प्राप्त कराने वाली है।^४ नैयायिक एव वैशेषिक विद्वान् भी सबमुक्ति के सम्भवन पक्षपाती नहीं हैं। चित्तसुरी ने उक्त सद्भ उपलभ्य है। 'कालीकार, लीलावतीकार आदि कनिष्य वैशेषिक मतानुयायी सब मुक्ति का विरोध करते हैं।^५ उक्त सभी आधारों को ध्यान में रखकर मध्व ने स्वरूप तारतम्य की मायता को ज म दिया तथा स्वरूप तारतम्य के आधार पर जीवात्मा क वचन को स्वीकार किया है।

जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध की मायता के लिये श्रुति म अनक पदों का प्रयोग किया गया है। टीकाकारों ने अपने मत की स्थापना की सुविधा क लिए उनमें से किसी एक को चुन लिया। जद्वैतवादी विम्बप्रतिविम्बभाव तथा रामानुज

१ Dr B N K Sharma— Taking a comprehensive view of human nature in all its aspects, we find that some men are intrinsically bad rest perhaps the vast majority us are mid way the two though it would be impossible to assign any individual to a particular class without superhuman insight into his fundamental nature ' Philosophy of Sri Madhvacharya, P 209

२ (अ) खलं न पर्याप्तं प्रतिहंसि भूरि ।

कि मा नि प्रति शनवो निन्दा ॥ ऋ० वे० १०।४८।७

(आ) अनारम्भरणे तमसि प्रविध्यम् । ऋ० व० १।१८२।६

(इ) अमुर्या नाम ते लाजा अघेन तममावता । ईशोप०

(ई) सपा आन त्म्य मीमासा भवति । ने य शत मानुषा जान त् ।

स एको मनुष्यग घर्णणामा त् । तन्ति० उ० २।८

३ (अ) द्रवो सपद्धिमो गाय निव वायासुरा मता ॥ गीता १६।७

(आ) मामप्राप्यव कोनेय तना या लघमा गनिम् । १६।२० (ऋषयः)

(इ) ऊर्ध्व गच्छति सत्त्वस्या अत्रागच्छति तामसा । १४।१८ गीता ।

(ई) मुक्त्वानामपि विद्वाना नारायणपरायण ।

सुदुलभ प्रणा तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥ भागवत, पृ० २।१

(उ) तथा तम गरीराणा तम एव परायणम् । महाभारत पृ० १७।८

४ तद्भक्ति तारतम्येन तारतम्य विभूक्तिगम् । जगुभाष्य ३

५ क नीकारप्रभतिभि कश्चिद्वर्णपि विधेय सत्रमुत्तरनगीकरान् ।'

चित्तसुरी, पृष्ठ २५७ ।

गरीरगरीरभाव सम्बन्ध मानते हैं।^१ मध्व ने भी 'विश्वप्रतिबिम्ब' पद का ही ग्रहण सम्बन्ध-सूचकता की दृष्टि से किया है। यद्यपि अद्वैत और द्वैत ने एक ही पद का ग्रहण किया ता भी दोनों के निष्कर्ष में बहुत अन्तर है। चक्र उपाधि के आधार पर रज्जु में सफ की प्रतीति के समान जीव को आत्मविक रूप में मिथ्या मानते हैं। मध्व भी उपाधि के ही आधार पर जीव की सत्ता को वस्तुतः सत् मानते हैं। किन्तु दोनों विचारकों की दृष्टि में उपाधि के स्वरूप में मत विभिन्नता है। मोक्ष का अभिप्राय, मध्व के अनुसार, तादात्म्य न होकर अपने विस्मृत स्वरूप को जान लेना है, अर्थात् ईश्वराधीनत्व का बोध ग्रहण पर लेना है। ब्रह्म से जीव के इस सम्बन्ध को उपनिषद् में ग्रहीत पुरुष और छाया इस उदाहरण^२ से भी जाना जा सकता है। पुरुष की छाया में दो बातें प्रमुखतः रहनी हैं। एक तो पुरुष की अधीनता तथा दूसरी उसकी समानता। यह तथ्य 'अगादिभाव' पद भी व्यक्त करता है।^३ इसी अर्थ पद के आधार पर भास्कर आदि विद्वान् भेदाभेद प्रतिपादित करते हैं। 'अ' पद 'अग्नि' से भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों को सूचित करता है। कि तु मध्व को 'अ' पद का उक्त प्रयोग ब्राह्मण^४ ही है।^५ मध्व ने 'अ' पद का स्वरूपान् तथा भिन्नान् इन दो रूपा में माना है।^६ अवतार ब्रह्म का स्वरूपान् है तथा जीव भिन्नान्। इन प्रकार जीव ब्रह्म का अर्थ तो है पर वह उससे उस प्रकार से अभिन्न नहीं है जिस प्रकार से अवतार ब्रह्म से है अर्थात् वह भिन्न है। किन्तु 'अ' से अभिप्राय जीव का ब्रह्म से सम्बन्धित होना मात्र है।^७ यही कारण है कि श्रुति के भेद और अर्थ दोनों ही निष्ठा को इस व्याख्यान के अंतर्गत समाहित किया जा सकता है। पुराणशास्त्र (Mythology) के आधार पर अवतारवाद को अपने व्याख्यान में ग्रहण करते हुए मध्व की अर्थ पद के व्याख्यान का यह नई दृष्टि है। इस तरह मध्व ने 'अ' पद की अधीनता सूचक प्रतीकपद माना। तथा यह भी निष्कर्ष ग्रहण किया कि जीव एवं ईश्वर न तो परस्पर सबंधा

१ डा० बी० एन० के० गर्मा—द किनासकी भाव मध्यावाय, पृष्ठ २१८

२ 'यथया पुरुष छाया एतस्मिन्नतदाततम् ।' प्रश्नोप० ३।३

३ जयतीर्थ—जीवस्य परमेश्वरात्पुत्रु तत्त्वाद्दस्य तदधीनसत्तात्प्रतिबिम्ब चत्तय ।
मायसुपा, पृष्ठ ४१३

४ म०—'अवस्थागतं त्वमुद्दिष्टं भेदाभेदो न मुपपत् ।' ब्रह्मसूत्र भाष्य २।३।४३

५ वही—सागदवाय विभिन्ना इति द्वेषात् इत्यने । २।३।४३

६ जयतीर्थ—तत्सम्बन्धितमेव तत्सत्त्वमिति व्याख्यान । धुनिद्वयायमानुपपत्त्या
अदमगाद्दस्य अद्वैतस्यान अर्थव वचन परिमिति भाव ।

भिन्न हैं और न ही अद्वय ।^१ जीव की सृष्टि, प्रतिबिम्बावाग के समान ईश्वर के प्रतिबिम्ब के उपाधि में पडन से होती है । अद्वत वग्न न के विवरण प्रस्थान से साम्य का भ्रम गही होना चाहिए । दोना की उपाधि की मायता म अतर है । किन्तु ईश्वर का उपाधि म प्रतिबिम्बित होकर जीव को सृष्ट करना मध्य की भेदवादी दृष्टि के बहुत अधिक अनुकूल नहीं है । उपाधि का स्वरूप भेद ही मध्य भिन्न प्रकार का मान लें तो भी उपाधि म जीव सृष्ट हुआ तो उसम सृष्ट होने की भी सम्भावना बनी रहेगी । तथा इससे जीव की आत्यक्तिक स्थिति ही सदिग्य हा उठेगी । तब ऐसी स्थिति भी माननी होगी कि जब उपाधि तो हो पर जीव न हो इसलिए मध्य उपाधि के द्वारा किसी अग की मायता के पक्षपाती नहीं हैं । यदि उपाधि के द्वारा जीव की स्थिति नुई है यह माना गया तो आत्माश्रय दोष होगा । और किसी अय उपाधि के द्वारा निर्मित मानने पर अनवस्था टोप होगा ।^२ अद्वत मत न जित उपाधि को माना है वह बिना अज्ञान के सम्भव नहीं है । उपाधि उनके अनुसार अतत मिथ्या प्रमाणित होती है । अज्ञान के बिना मिथ्यात्व की प्रतिपत्ति भी सम्भव नहीं । अत 'अन' की स्थिति तभी सम्भव है जब यह मिथ्या उपाधि स उरहित हो ।^३ परिणामत 'अन' की सत्ता उपाधिकृत है यह निष्कप प्रहीत हुआ । यदि उपाधि रहिन गुदक्षतय को अन कहा जाय तब तो मुक्त भी उपाधि रहित चैतय होता है और उसे भी अन कहा जावेगा ।^४ यदि अज्ञान को स्वाभाविक माना जाय जिसम कि 'अज्ञ की स्थिति हो सके तो वह अज्ञान स्वाभाविक होने के कारण सत्य हो जावेगा । परिणामत अज्ञान की निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी ।^५ उक्त सभी तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपाधिकृत भेद की स्थिति म अयो याश्रयता नामक दोष होगा ।^६ 'उपाधिकृत भेद' को मानने म कुछ आपत्तिया भी हैं । जस—उपाधिकृत जीव भेद मानने पर हाथ पर आदि के भी उपाधि ही होने स हाथ का कट पर के कट से भिन्न होना चाहिये तथा हाथ के कट की अनुभूति सम्पूण शरीर म गही होनी चाहिए ।

१ जयतीथ—परंतु न जीवो ब्रह्मणा घट इव पटादत्यतभि न ।

तथात्वे भेदश्रुतय उपरुधेरन् ।' यायसुधा पृष्ठ ४५३

२ मध्य—उपाधिकृतागकल्पने तदुपाधिकृतत्व आत्माश्रयत्वम् ।

उपाध्य तरकल्पने नवस्था । विष्णु तत्व निणय । पृष्ठ २९

३ मध्य—'अज्ञानसिद्धौ मिथ्योपाधिसिद्धि अज्ञान बिना मिथ्यत्वाभिद्ध ।'

न च मिथ्योपाधि बिना अज्ञान सिद्धि । मिथ्योपाधिभिन्नस्यवानत्वात् ।'

पृष्ठ २८

४ वही—गुदक्षयवागत्वे मुक्तस्याप्यनत्वप्रसक्ते । पृष्ठ २८

५ वही—स्वाभाविकत्वात् सत्यत्वात्—अनिवृत्तिप्रसक्तेश्च ।' पृष्ठ २८

६ वही—अतश्चायोयाश्रयता । वि० त० नि०, पृष्ठ २९

अर्थात् यदि उपाधि के कारण भोवता भेद नहीं होता तब सभी आत्माओं के भूतन एक होने के कारण उपाधि-आवरण के होने पर भी उनका भानवृत्त्य में अन्तर नहीं होना चाहिए। अर्थात् एक को सभी के मुख्य लक्ष्य वा अनुभव होना चाहिए।^१

उपाधि और उपहित का सम्यग् भी विचारणीय है। क्या उपाधि आत्मा के एक भाग को आवृत करती है अथवा सम्पूर्ण को? यदि उपाधि गुद चतय के एक भाग को आवृत करती है तो गुद चतय अवयव युक्त हुआ। जो वस्तु अवयव युक्त होती है वह अमित्य होती है। यदि वह सम्पूर्ण गुद चतय को आवृत करती है तब अनुपहित और उपहित के भेदक रूप में उपाधि रहनी ही नहीं क्योंकि सम्पूर्ण को आवृत होने पर भेदकता का प्रदन ही नहीं उठता।^२

उक्त कारणों से मध्य उपाधि को भिन्न तत्व के रूप में भेदक मानने में असमर्थ हैं। साथ ही मध्य की भेदपरक दृष्टि उपाधि को मिथ्या के रूप में भी ग्रहण नहीं करना चाहती। उपाधि जीव के स्वरूप में अभिन्न है। जीव और उपाधि की पारस्परिक अभिन्नता के कारण उपाधि की पृथक् सत्ता स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। उपाधि दो प्रकार की होती है। स्वरूपोपाधि एवं बाह्योपाधि। मुक्ता वस्था में बाह्योपाधि विलीन हो जाती है किन्तु स्वरूपोपाधि अविकल भाव में बनी रहती है। यदि सभी प्रकार की उपाधि समाप्त हो गई तो जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब कैसे रहगा? साथ ही यदि मान लमकी अपनी जीवरूपिणी सत्ता का विनाश है तो वह अपने ही की सिद्धि में प्रयत्नशील कैसे होगा? क्योंकि मुक्ति को उद्धत मत में 'अपुमयता' अर्थात् पुरुष की सत्ता का पुष्पत्वेन न होना माना है। अर्थात् अभाव माना है। कौन व्यक्ति अपने ही अभाव के लिए प्रयत्नव्यापृत होगा?^३ किन्तु स्वरूपोपाधि भानन के उपरांत भी यदि जीव को प्रतिबिम्ब माना तो फिर प्रश्न उठेगा कि जीव स्वरूपो

१ उपाधिभेदागीकारे हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽपि तद्गतमुखदुःखादिभोक्तुष्या भेदे न प्रतीयते एवमव शरीरभेदेऽपि भोक्तुभेदा न दृश्यते। सर्वदेहगतमुखदुःखादिभेदेऽपि भुङ्गते।' वही, पृष्ठ १६

२ किञ्चोपाधिरात्मन एकदा प्रसति उत सर्वात्मानम् ?
एकदेशमगीकारे सावयत्वम् । सावयत्वस्य चानित्त्वम् ।
सर्वग्रामे च नोपाधिर्भेदक स्यात् ।" पृष्ठ २६ वि० त० नि० ।

३ "जीवोपाधिद्विधा प्रोक्त स्वरूप बाह्य एव च ।
बाह्योपाधिलय यानि मुक्तावन्यस्य तु न्विति ॥
सर्वोपाधिविनाशे हि प्रतिबिम्ब कथं भवेत् ?
कथं चात्मजिनाशाय प्रयत्न संस्यति क्वचित् ?
अपुमयता च मुक्ते स्यादभावात्पुन एव तु ॥" तत्त्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११७

पाधि म पहले स है या प्रतिबिम्ब पडने के बाद । यदि वह पहले से है तब प्रतिबिम्ब की आवश्यकता ही क्या है और यदि वह पहले नहीं है तब उपाधि पूण नहीं होगी क्याकि उसकी पूणता जीव की स्थिति पर ही सम्भव है । तथा प्रतिबिम्ब पडने के पूव जीव की सत्ता का अभाव मानना होगा । इसके उत्तर मे मध्व मत के विचारका का कहना है कि प्रतिबिम्ब पन् साम्य सूचना के लिये कहा गया है ।^१ स्वरूपोपाधि अपने स्वरूप की स्थिति अर्थात् ब्रह्म की समानता एव अधीनता है । यही उपाधि है जो हमशा जीव के साथ रहती है तथा उसके स्वरूप निर्धारण का आधार है । इसी उपाधि व कारण जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब बना रहता है । मध्व के अनुसार प्रतिबिम्ब दो प्रकार का है—सोपाधिक तथा निरुपाधिक ।^२ निरुपाधिक प्रतिबिम्ब इन्द्र चाप के समान माना जाता है । सोपाधिक प्रतिबिम्ब जल म पडने वाल मूय के प्रतिबिम्ब के समान है । इसमे उपाधि बिम्ब से भिन्न है इसलिए वह प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है । जबकि अनुपाधिक म उपाधि प्रतिबिम्ब स्वरूप रहती है उसकी भिन्न कोई स्थिति नहीं । तथा इसमे बिम्ब और प्रतिबिम्ब का कोई सादृश्य नहीं रहता यद्यपि वह बिम्ब से ही प्रतिबिम्बित है । जस इन्द्र धनुष इस उदाहरण म तल कण इन्द्रधनुष स अभि न है । साथ ही यह इन्द्रधनुष मूय की किरण स उत्पन्न हुआ है फिर भी उनसे भिन्न है । जीव ईश का यही अनुपाधिक प्रतिबिम्ब है ।^३ यह बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव आत्यंतिक होना चाहिए कि तु कोई भी सम्बन्ध तब तक आत्यंतिक नहीं होता जब तक कि वह सम्बन्धिया की प्रकृति से सम्पृक्त न हो । इसीलिये मध्व दोनो की सत्ता को आत्यंतिक मानने हैं । यहा बिम्ब प्रतिबिम्ब का कथन लौकिक रूप म किया गया है कि तु उसे अलौकिक ही मानना चाहिये ।

प्रतिबिम्ब के रूप म तो जीव को अद्वैत वेदांती भी स्वीकार करते है कि तु यहा मायम अविद्या है । मध्व उपाधि को जीव के स्वरूप म ही ग्रहण करत है । ब्रह्म सूत्र के मन्व भाष्य पर टीका करते हुए जयतीर्थ ने^४ आभास पद के व्याख्यान म अपने मत की प्रतिबिम्ब सम्बन्धिनी दृष्टि स्पष्ट की है । वह आभास को कवल समानता सूचक मानत है । जयतीर्थक जीव को आभास कहने के दो आधार है—(१)

१ जयतीर्थ— क्वचिच्छेदने नि छायाशब्दप्रयोग प्रतिबिम्बसाम्याद्यवति । 'याय सुधा पृष्ठ ६८

२ मध्व— सोपाधिहरनुपाधिकश्च प्रतिबिम्बो द्विधेयते ।

जीवगत्यानुपाधिरिन्द्रचापो यथा रवरिति ॥ ब्रह्म० सूत्र० भाष्य पृ० ६३

३ डा० क० नारायण—एन जाउट लाइन आव मध्व क्लिासकी पृष्ठ, १४४

४ जयतीर्थ— ब्रह्माभासत्वान्ति ह्यतोत्र ह्याधीनत्वान् तत्सदृशत्वाच्चत्यय ।

न तु सूयकादिवत् प्रतिबिम्बत्वादिति । 'यायसुधा पृष्ठ ५०५

जीव तत्व

उमकी चेतना शक्ति पूणत ब्रह्माधीन है तथा (२) यह ब्रह्म के समान ही सत्तावान है। व्युत्पत्ति लभ्य अथ भी यही है जिमकी स्थिति परमात्मा के अधीन हो।^३ प्रतिबिम्ब पूणत बिम्ब के अधीन है। उसकी क्रियाशीलता ब्रह्म की ही क्रिया के कारण है। इस प्रकार जीव पूणत ब्रह्माधीन ही निरूपित किया गया है। यह अधीनता सावकालिक है। सोपाधिन् प्रतिबिम्ब म तो बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नाग धान है जम मुख या प्रतिबिम्ब टपण पर पडना है। दपण के टूट जान पर प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है। किन्तु निरुपाधिक प्रतिबिम्ब म प्रतिबिम्ब का रभी नाग नहीं होता। अत प्रतिबिम्बत्वेन जीव नित्य है।^२

इसी प्रकार छाया पुरुष इस उदाहरण से भी एव तप्य और स्पष्ट होता है कि जिम प्रकार द्रव्य से उसकी छाया प्रत्येक दृष्टि से हीन है वसे ही जीव भी प्रत्येक दृष्टि से ब्रह्म से हीन कोटि का है। उपमान का ग्रहण जम भी किया जाता है तब उम से अपेक्षित समानता का ही ग्रहण करना चाहिए, क्याकि केवल उही के ग्रहण करन से अभीष्ट का सम्पादन हो जाता है। उपमान की प्रत्येक विशेषता का उपमेय से सम्बन्ध स्थापित करना अनपेक्षित है। जैसे छाया पुरुष इस उदाहरण म केवल समानता शीर अधीनता ही अभिप्रेत है। यदि सभी का विचार किया तो छाया तो जड है किन्तु जीव गत जडता अभीष्ट नहीं।^३ मध्व प्रतिबिम्ब और बिम्ब के यारयान म उतने सावधान नहीं हैं जितने कि परवर्ती टीकाकार। उदाहरण के लिए म' व न कटा कि जीव बिम्ब की क्रिया से 'क्रियावान्' है।^४ इमका अभिप्राय यह हुआ कि जीव म स्वतः कोई क्रिया नहीं है। क्रिया का पूणत अभाव होन के कारण यह 'जड वाले पद—'बिम्बाधीनक्रिययैव'^५ का प्रयोग कर दिया। अर्थात् जीव म क्रियाशीलता रूत सिद्ध है। किन्तु यह क्रियाशीलता ब्रह्म के अधीन है। इसलिए अतएव चोप मामूयनादिवत्।'^६ सूत्र के व्याख्यान म ब्रह्म से समानता और असमानता दोनों की

१ जयतीय—“भान नानम् अन्तित्व सत्त्वम् । भा च सा च भासे आ सवकालवर्तियो भासे । आभासे परमात्माधीन आभासे यस्यासौ जीव परमात्माभास । तन परमात्मना निमित्तेन आभासते प्रतीतो भवति इति प्रतीतो तदानी त्वमुच्यते ।” यायसुधा, पृष्ठ ५०५

२ 'जीवानित्य, घातुरम्य त्वनित्य ।' सनत्सुजातीय । मध्व द्वारा उद्धृत गीता भाष्य १।१५

३ जडत्वादभिरपि नेत्यय । यायसुधा, पृष्ठ ५०५

४ मध्व—'स हि बिम्बक्रिययव क्रियावान् । गीताभाष्य ३।१

५ जयतीय—'बिम्बाधीनक्रिययैव क्रियावान् ।' उसी पर रजयतीय टीका ।

६ ब्रह्म सूत्र ३।२।१८

ओर सबैत किया गया है ब्रह्म क प्रति जीव की अधीनता का सम्बन्ध स्वाभाविक है ताकस्मिक नहीं । उपाधि क द्वारा इनकी निर्मिति नहीं हुई । यदि उपाधि क द्वारा इसकी निर्मिति हुई हाना तो जाव की मत्ता सावकालिक नहू रह सकती थी । क्योंकि उपाधि नष्ट होन ही ची- ची मत्ता भी न रह पाता । यत्नान म जीव तदा ब्रह्म दाना को ही सत्य माना न ।^१ उपाधि की गहरगम्मत मा यना अस तव है ।^२

जीव म ज्ञान मुक्ति क पत्र भा है किन्तु शरर की वृषा स अविद्या स निराहित स्थिति न शरर जह ज्ञान गानुभव प्राप्त करता है । अभिव्यक्ति क पूव यह ज्ञान क अनुभव नहीं कर पाता ।^३ हम प्रसार अपनी चरम एव परमस्थिति का पान क निग भी वह ईशानान है । इसा क परिणामस्वरूप उन शररगतिगुण एव सन्नेप माना गया है ।^४ इस प्रकार जाव की कुत्र सीमाए बाह्य है कुत्र आंतरिक । बाह्य सीमाया का तो निराकरण ना किया जा सकता है किन्तु आंतरिक सीमाएँ पृथक् ही की जा सकती । सामाया क कारण ही जीव पराधीनता को अनुभूत नहीं कर पाता जबकि पराधीनता उसकी महत्वपूर्ण स्वरूपाधायक विशेषता है । व य एव मोक्ष दोना ही अवस्था म जाव की पराधीनता ईश्वर के प्रति है । उस जो स्वान श्रय की प्रतापि होती है वह बुद्धि त्रन मोह क कारण है ।^५ अद्वैत क समान मध्व यह नहू मनात कि मुक्त हो जान पर कथन जगण्ट सुरीयावस्थागत तत्र ही स्थित रहता है जीव की को स्थिति ही नही है । इसीलिए मुक्तावस्था म भी जीव को दग क ही अधान राना पडता है । अनानास्था म ईश तत्व ही ज्ञान देने वाला है । तथा पानी को वही मुक्त करता है । वही जनादन मुक्ता को आन द प्रदान करता है ।^६ अत इस तत्व मुक्तावस्था म आन दप्रान है । ईश सवन है । जीव अल्पन है । इस प्रकार

१ डा० बी० एन० क० शर्मा—फिलासफी आव मध्वाचार्य पृष्ठ २२१

२ जयतीथ— एव जीवस्वरूपत्वेन मुक्ते पूवमपि सती जानानदेन ईश्वरप्रसादे-
नाभिव्यक्तनिमित्तन ज्ञानदीभवति प्रागनभिव्यक्तत्वेन अनुभवाभाव
प्रसगान् । तत्वप्रकाशिका, पृ० १२०

३ मध्व— पराधीनश्च दृढश्च स्वरूपानमुद्धेहित ।

अल्पगमित सदापश्च जीवात्मा ॥ भागवत ता० नि० २।४

४ वही— विष्णोरधान प्राकृष्टेस्तथव लयादनु ।

अस्य सत्वप्रवृत्त्यादि विगपणाधिगम्यत ॥

स्वात श्रय स्थितिकाल तु कश्चिन् बुद्धिमोहत ।

प्रतायमानमपितु तस्मा तवेति गम्यत ॥ भाग० ता०प० २।१८

५ वटा— अनाना जानदो विष्णुर्नामिना माक्षदश्च स ।

आन दश्च मुक्ताना स एवको जानान ॥ अनु० या०, पृ० ३५

जीव तत्व

के परस्पर विच्छेदमाध्यवसाय स्पष्ट है।^१ परिणामतः जीव वा इग से भिन्न मानना हागा, तथा भिन्न होत पर जीव को ब्रह्म क अधीन ही ग्रहण करना मध्व को अप्रिय है।

जीव को ई वर के चरणा म अनन्य आसक्ति रखनी चाहिए। ईश्वर के प्रति उमके मन म अन यत्न रहना नितात आवश्यक है।^२ तभी वह मोक्ष प्राप्त कर सकेगा। इसी तत्व को व्यञ्जन बरन के लिये 'अगाग्निभाव' 'विम्बप्रतिविम्बभाव' आदि पदा वा प्रयोग किया गया है।

गङ्गाचाय द्वारा अनुमादित एकमव ब्रह्म को सत्ता के सम्मुख बच वा अस्तित्व है ही नहीं। मध्व वा कथन है कि यदि बच की सत्ता मिथ्या मानी भी जाय तो भी यह मिथ्यता किमी न किमी प्रमाण द्वारा ग्रहीत होगी। प्रमाण के ग्रहण करने ही एकमव ब्रह्म के अतिरिक्त द्वैत की स्थिति म्वन सिद्ध हा जावगी। तथा दुःख आदि प्रत्यक्ष सिद्ध है। एसी दशा म किसी प्रकार जीव वा ब्रह्मर अर्थान् ब्रह्म के साथ अभेद प्रमाणित किया जा सकेगा।^३ अनान के कारण वह ईगतिरिक्त वस्तु से बाध्य होना है। यह बाध्यता भ्रम है, अविद्यावृत्त है।^४ यथाकि वह तो ईगधीन ही है। मध्व के अनुसार जीव म कर्तृत्व एव भोक्तृत्व वास्तविक रूप है। यह सभी ईश्वराधीन है। वस्तुतः बुद्धि इन्द्रिय आदि के विषय ईश्वर के अधीन हैं।^५ वह अपने बच के सिद्धान्त की स्वभावानुवाद कहकर पुनारते हैं। स्वभावानुवादा की अनेकता व्युत्पत्तिया प्राप्य है। जीव का अपने भाव सम-परत-व्रतादिविषयक अनान जिस वाद मे माना जाय वह स्वभावानुवाद है। स्व अर्थात् अपना भाव जीव और उम पर आश्रित आवरण अनान = स्वभावानुवाद। स्व = स्वतन्त्र भाव = तत्व अर्थात् परमात्मा, तद्विषयक अनान, स्वभावभूत अनान अर्थात् अनान जिसकी सत्ता मिथ्या नहीं है। जिसवा भाव सत्तात्मक रूप मे ह। स्वभाव से, स्वतन्त्रत्व की प्रतीति से, उत्पन्न अनान।^६ इन सभी व्युत्पत्तियों के अर्थ से प्राप्त निष्कर्ष के रूप मे ग्रहण

१ मध्व—“अज्ञता चाल्पगतिस्त्वदुचित्व स्वल्पकृतता।

सब्रह्मत्वादीशगुणविरुद्धा ह्यनुभूतिग ॥” उपाधिखण्डन, पृ० ६

२ वही—“कुरु मुञ्च च कमनिज नियत हरिपाद विनम्रधिया सततम्।
हरिरेव परो हरिरेवगुरु हरिरेव जगत्पितृमातृगति ॥ ३११ द्वादशस्तोत्रम्।

३ सत्यत्वात् तेन दुःखादे प्रत्यक्षेण विरोधत।

न ब्रह्मत्व वदेत् वेदो जीवस्य हि कथञ्चन ॥

४ “तस्य परायत्तत्वाभासो अविद्या निमित्तको भ्रम। या० सु०, पृ० २६

५ “बुद्धीन्द्रियशरीरविषया स्वरूपसत्त एव ईश्वरवशा अपि अविद्यादिवशात्।

६ जयतीथ—“तथा स्वयमेव भवत्यस्तीनि स्वभावो नानानकल्पित इति भावः। (क्रमम्)

किया जा सकता है कि मध्व मत में अज्ञान की सत्ता को मिथ्या नहीं माना है। परमात्म तत्व के अधीन जीव की स्थिति है यह स्वरूप विषयक ज्ञान का अभाव ही स्वभावानान है। जीव स्वयं प्रकाश होने के बाद भी अज्ञान का विषय है। मध्व ब्रह्मानानवाद के विरोधी हैं न कि अज्ञान की सत्ता मान के। वह जीवानानवाद को मानते हैं। जीवानानवाद को निरुप्ट मानकर उसका ग्रहण इस मत में किया गया।^१

प्रत्येक महा प्रलय के उपरान्त ईश्वर जीव को उसकी वासना और कर्म की पूर्ति के लिये सामने लाते हैं। ईश्वर का यह कार्य अपने किसी निमित्त के लिये न होकर निर्निमित्तिक है। अतः सृष्टि जीव के कर्मभोग का अनिवाय माध्यम है। इस में से होकर वह अपनी श्रेयस्करी अवस्था को प्राप्त करता है। जीव का वास्तविक स्वरूप सुखात्मक है। अनादित्व नित्यसत्त्व ज्ञानरूपता।^२ बल आनन्द ओज आदि उसके स्वरूप धर्म हैं।^३ अतः बध जीव का स्वरूप नहीं है। किंतु यह बध अनादि-कालीन है। जीव के ईश्वराधीन होने के कारण बध भी तदधीन है। जीव का मोक्ष भी इसी तत्व के अधीन है।^४ यह ईश्वर की माया के द्वारा होता है। पराधीनता के कारण ही जीव अल्पशक्ति वाला एव सक्षोप है।^५ इस प्रकार जीव मर्यादित है। इन सीमाओं को अनेक भागों में विभाजित किया गया है। लिगशरीर,

स्वश्चासौ भावश्चेति स्वभावो जीव तदाश्रित तदावरण चानान
मिति वाद स्वभावानानवाद । स्व स्वतन्त्रो भाव परमात्मा ।
स्वस्य भावो धर्म पारतरत्रयादिर्वा स्वभाव । तद्विषयमज्ञान
जीवस्य इतिवाद । तथा स्वभावेन स्वतन्त्रेण अज्ञान जीवस्य इति-
वाद । 'यायसुधा, पृष्ठ ६४

१ मध्व—'स्वभावानानवादस्य निर्दोषत्वान्न तदभवेत् । अनुयायान पृष्ठ २

२ वादिराजतीय—'सुखरूपाश्च ते सर्वे ज्ञानरूपाश्च सवदा ।

अनादिनित्वास्तस्याश्च चिद्रूपावयवा यत ॥''

युक्तिमल्लिका, पृष्ठ २६

३ मध्व—'बलमानन्दमोजश्च सहे नानमनानुलम ।''

स्वरूपाण्येव जीवस्य ॥ ब्रह्मसूत्र भाष्य २।३।३१

४ वही— परामिथ्यानात्तु ततो ह्यस्य बधविषययो । ३।२।५,

मत्त स्मृतिर्नानिमपोहनच । 'गीता १५।१५

५ वही— पराधीनश्च बद्धश्च स्वल्पज्ञानमुक्षेहित ।''

अल्पशक्ति सक्षोपश्च जीवात्मा ॥'' भागवत ता० २।४

प्रारब्ध, कर्म, काम आदि । इसी में अविद्या का (भावस्वरूपान) वषट् बिया गया है । यह अविद्या वास्तविक है । यह केवल निषेधरूप नहीं है अतः इसका अपना अस्तित्व है । तमोगुण निमित्त अज्ञान को सत्ता मानना नितात आवश्यक है । इसके अनेक रूप हैं । जीवात्मादिना तथा परमाच्छादिका आदि । जीवात्मादिका के रूप में यह जीव का वास्तविक स्वरूप को आवृत कर लेती है । इसी के कारण जीव अपने को स्वतन्त्र एवं ममाकारक जान स युक्त मानता है । ' नूनमे स्वरूप से यह अविद्या स्वतन्त्र तत्त्व के अनीनता विषयक बोध को आच्छादित करती है । इस अविद्या का आश्रय जीव ही है^२ ब्रह्म नहीं जमा नि शकर का मन है । नागक तथा नाश्व का आश्रय एक होता है । उदाहरणतः प्रवाण और अघकार एव ही आश्रय में रहते हैं । यह कहने पर कि 'जान ने अज्ञान का निरस्त कर लिया तब यह मानना अनिवाय हो जाता है कि जान एव अज्ञान का आधार एक ही है ।

मध्य ने माया तथा अविद्या का भिन्न माना है । माया दृश्याश्रित है तथा जगत् की कारण है । अविद्या जीवाश्रयिणी है एव उसमें सृष्टि का कोई सम्बन्ध नहीं । जीव का बंधन गहर के समान मिथ्या या भ्रम नहीं है अतः सत्य है । उस बंधन का मूल आधार अज्ञान है तथा ईश्वर के वास्तविक रूप के विपरीत प्रतीति है ।^३ अज्ञान के कारण गीड़िन जीवात्मा का तो अनुभव भी किया जा सकता है । जबकि ब्रह्म अनुभूत-सत्य नहीं है । ब्रह्मानुभववादी अद्वैत मत में यदि अज्ञान उपाधि के कारण है तो प्रश्न उठेगा कि उपाधि ब्रह्म का स्वाभाविक घम है अथवा आकस्मिक । यदि आकस्मिक घम है तो ब्रह्म के पहले एव साथ साथ उसकी सत्ता हानी चाहिए ।^४ इस तार्किक विसंगति का उत्तर अद्वैती उसे अपना भूषण कहकर देने हैं । यद्यपि अविद्या अनिवचनीय है ।

मध्य म्बोद्धत अविद्या का स्वरूप वास्तव है किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वह वाचनीय नहीं है । ईश्वर की दृष्टि एव जीव के प्रयत्न से उसका वाच सम्भव है ।^५ अज्ञान अज्ञान से जीवन के सम्बन्ध का समुचित समाधान खोजना अमम्भव है ।

१ वादिराजतीर्थ— द्वितीया प्रकृति प्रोक्ता तद्रूपा हि गुणास्त्रय ।

तेषा सम्पातजो नागो ममाहमिति या मति ॥ भागवत ता० २।१८

२ — 'पुगतो हि तम । तत्त्वोद्योत, पृष्ठ १६

३ जयतीर्थ— 'अज्ञानमपि सत्यमेव नाज्ञानकल्पितम् ।' मायमुषा, पृष्ठ ६४

४ मध्य— 'अज्ञानागितमेवेत्तु घटते न कुतश्चन ।

उपाधिभेदात्तु घटते इति चेत्तस्वभावतः ?

अज्ञानतो वा ? द्वैतस्य सत्यता स्वत एव चेत् ॥ उपाधि ता०, पृष्ठ ० ३

५ डा० बी० एन० के० शर्मा— विनासकी आव शी मध्वाचार्य, पृष्ठ १६१

इसीलिए उसे ईश्वराधीन माना है।^१ ईश्वर की अचित्त्व भूतशक्ति व कारण ही माया जविद्या अथवा प्रकृति जीव के पानात्मक स्वरूप का जागृदित करती है। यदि यह बाह्य सत्त्वान् है तो पान व अग को किस तरह आवृण करती है? इसका उत्तर यही है सत्त्वता है कि प्रकृति स्वत जड एव अस्वतत्र है, अन आवत्तक हाने के बाद भी ईश्वर की इच्छा या शोना आवश्यक है। आत्मा व व न का म व न प्रकृति की शक्ति माना है। इसका समर्थन अनक श्रुतिवाक्या स होगा है।

मध्व का वच सम्प्रती उक्त सिद्धांत पयाप्त यथावधानी है। वह जीव का कर्तृत्व एव भावनृत्व दोनों का ही वस्तुतः सत्तात्मक मानना है। यद्यपि वह ईश्वराधीन है। जीव की क्षमताए इ वर स ही निकली हं कि तु इस सत्य पान की अप ना, जीव अनान के कारण, उनको स्वयं स निमृण मानता है यही अविद्या है तथा वह वास्तव है। मध्व का वचविषयक निष्कर्ष है कि अनान जीव का अपनी वास्तविक स्थिति स परिचिन नहीं होने दता। उन स्वप्रकाशी तत्व के स्वरूप के कुछ भाग को छिपाय रखता है। जीव सविनेप एव अस्वतत्र है। इसीलिए 'दुष्कृतवमविद्याया' जसी स्थिति द्वैत मत म उपस्थित नहीं होती जसी कि अद्वैत मत म है। जीव की ब्रह्म से भिन्नता का कारण विनेप है। विभिन्न वस्तुभा की भिन्नात्मक सत्ता इसी विनेप के कारण है।

ईश्वर जीव का ठीक वसे ही कारण है, जमा कि पिता पुत्र क प्रति कारण है।^२ अन मध्व का अगाणिभाव का अभिप्राय पिता-पुत्र के समान कारण काय की प्रतीति करा दना है। जीव की स्वरूपोपाधि कल्पना से उक्त स्वरूप तो निश्चित हाता ही है साथ ही कई सिद्धांतों की रक्षा होती है। बहुजीववाद का समाधान भी इसी से होता है। इसी के द्वारा उन श्रुति-वाक्या का भी समाधान हो सकता है तथा उनको ईश्वरपरक माना जा सकता है जो उस सबश्रुत आप्त-काम आदि प्रतिपादित करते हैं, निरकुण ब्रह्म नहीं। भेद की सत्यता का भी यही आधार है।

मध्व न वच को सत्य माना है कि तु वाच्यता कालापेक्षी होती है। जो वस्तु कुछ समय तक रहं उसका वाचित होना उसकी प्रकालिक सत्ता का निषय नहीं करता क्योंकि थोड़े समय रहने वाली वस्तु अधिक समय तक रहने वाली वस्तु स, कम सत्य नहा है।

जीव का पानत्वभाव होने पर भी उसका मोक्ष विना ईश्वर के सम्भव नहीं

१ मध्व— 'वधो पि तत एव स्वाद्यस्मादव तयो प्रभु ।' भा० ता० २।७४

२ गीता ७।१४ श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१६ ब्रह्मसूत्र ३।२।५

३ मध्व— माम् रक्षतु विभुनित्य पुनो ह परमात्मन । ब्रह्मसूत्र भा० १।१।३

है ।^१ यकिन मुक्त होने की इच्छा से जिनासा करता है । जिनासा के परिणामस्वरूप प्राप्त हान वाम ज्ञान से, जो ईश्वर की कृपा के कारण ही है मोक्ष होता है ।^२ अतः ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष की प्राप्ति समभव नहीं है । ईश्वर की उक्त कृपा भक्ति के द्वारा ही प्राप्य है । श्रेष्ठ भक्ति ही ईश्वर को प्रेरित करने में समर्थ है । वस्तुतः इस प्रकार भक्ति ज्ञान का ही भाग होने के कारण उसे ज्ञान भी कहा जाता है । और ज्ञान की विशेष स्थिति भक्ति के रूप में ग्रहीत है । जिस प्रकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तुएँ ज्ञानगम्य होती हैं वैसे ही स्नेह का योग अर्थात् भक्ति भी ज्ञानगम्य है । इसीलिए प्रायः श्रुतियाँ भक्ति का ज्ञानगम्य माना है । भक्ति ज्ञान से भिन्न नहीं है ।^३ ईश्वर की परमाच्छादिका शक्ति का निरान्तरण ईश्वर के द्वारा ही होता है । अविद्या के दूर हो जाने के बाद भी पूर्णानन्द तथा विम्बस्वरूप प्रतीति, बिना भगवत्कृपा के, सम्भव नहीं । भक्ति ही मुक्ति का एकमेव आधार है । भक्ति ईश्वर की महत्ता के ज्ञान के साथ उत्पन्न होने वाला स्नेह ही है ।^४ भक्तिप्राप्ति के पूर्व जीव अन्धकार में भटकता रहता है ।^५ भक्ति ज्ञान के पहले एव उपरान्त भी रहती है । इसलिए मध्य की दृष्टि में ज्ञान से भक्ति अधिक उपादेय है । मोक्ष प्राप्ति के क्रम में भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है । तथा ज्ञान से भक्ति, भक्ति से शुद्ध दृष्टि तथा उस दृष्टि से भी भक्ति भक्ति के द्वारा मुक्ति एव उससे भी मुक्तरूपिणी भक्ति ही प्राप्त होती है ।^६

१ मध्व— इत्यादन हृदि विना ।

ज्ञानस्वभावतोऽपि स्यात् भक्ति कस्यापि हि बवचित् ।”

अनुसारयान, पृष्ठ १०

२ वही— जिज्ञासोत्पन्नान्जात् तत्प्रसादादेवमुच्यते । अनु०, पृष्ठ १

३ वही— ‘ज्ञानस्य भक्तिभागत्यात् भक्तिर्ज्ञानमित्युच्यते ।

ज्ञानस्यैव विगोपो मद्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

परोक्षत्वादपरोक्षत्वे विगोपो ज्ञानगो यथा ।

स्नेहयोगोऽपि तद्वत् स्याद्विगोपो ज्ञानगो यत ॥

इत्यभिप्रायत प्रायो ज्ञानमेव विमुक्तय ।

वदन्ति श्रुतय सास्य विगोपोऽपि ह्युच्यते ।” पृष्ठ ५०

४ वही— माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु मुक्तं सर्वतो पिक ।

स्नेहो भक्तिरिति प्रीवनस्तथा मुक्तिर्न चा यथा ॥

म० भा० नि०, १।२६

५ वही— ‘ब्रह्मनूय भाष्य ३।२।१६

६ वही— भक्त्या ज्ञान ततो नितस्ततो दृष्टिस्ततश्च सा ।

ततो मुक्तिस्ततो भक्ति सेव स्यात् मुक्तरूपिणी ॥” अनु० ३।४ पृ० १”

भक्ति इतना महत्त्वपूर्ण साधन है कि वह इस क्रम के प्रारम्भ से लेकर अत तक है। भक्ति के उपरांत भी भक्ति की अव्याहृत स्थिति को इस मत ने माना है। मध्व के अनुसार वही साधन है तथा साध्य भी है। हरि की उपासना साधन और सिद्धि दोनों रूपों में स्थित है।^१ जीव का ईश्वर से सम्बन्ध न उत्पाद्य है न विनाश्य वह तो स्वरूप ही है। अपने स्वरूप में अवस्था ही मुक्तावस्था है।

साधना-यात्र के अम्बुवद्ग्रहणम' के व्याख्यान में मध्व ने स्पष्ट किया कि ईश्वर और जीव के सादृश्य के नित्यसिद्ध होने के कारण आनन्द और ज्ञान का जीव में भी होना नित्य ही है फिर भक्ति और ज्ञान आदि साधना की आवश्यकता क्या है? इसके लिए ही अम्बुवद्ग्रहणम कहा गया। अम्बुवद् का अभिप्राय है स्नेह से तथा ग्रहणम का अर्थ है ज्ञान अर्थात् स्नेहपूर्वक ज्ञान। अतः इस सूत्र से स्पष्ट हो गया कि भक्ति के बिना वह सादृश्य नित्य होने पर भी अनिवार्य नहीं होता। अर्थात् भक्ति के लिये भक्ति आवश्यक है^२ भक्ति इस प्रकार अत्यन्त आवश्यक है। वही सभी कुछ है।

विष्णुरहस्य के अनुसार^३ मध्व का जीव सिद्धांत है कि अनन्त नित्य जीव अनादि कर्म से आबद्ध हैं। सभी लिंगदेह तथा स्थूलशरीर से संयुक्त हैं। यदि वे इससे संयुक्त न होते तो वे कर्म कसे सम्पादित करते। विष्णु की भक्ति से मुक्त कस होते तथा विष्णु भक्ति के अभाव में मोक्ष को कसे प्राप्त करते?

विष्णुरहस्य का उक्त उद्धरण पर्याप्त अपूर्ण एवं तक विच्छिन्न है। जीव का प्राथमिक स्वरूप क्या है? इसका उत्तर यदि उक्त सद्म के द्वारा प्राप्त किया जावे तो स्पष्ट होगा कि जीव अनादि कर्म से बद्ध है। लिंग देह से युक्त है। इससे मुक्त होने के लिए विष्णुभक्ति आवश्यक है। विष्णुभक्ति के बिना स्थूल शरीर कसे हो?

१ मध्व— हरेरुपासना चात्र सदव सुखरूपिणी ।

न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यत ॥ ब्र० सू० भा० ४।४।२१

२ वही— नित्यसिद्धत्वात्सादृश्यस्य नित्यानन्दानादि न भक्तिज्ञानादिना प्रयाजन मित्यतो ब्रवीति-अम्बुवद्ग्रहणात् न तथात्वम् । अम्बुवत् स्नेहेन ग्रहणम ज्ञानम् । भक्ति विना न तत्सादृश्यं सम्यग्भि-यज्यते ।'

ब्र० सू० भा० ३। १०

३ 'अनादिक्रमणा बद्धा जीवा नित्यं ह्ययनन्तम् ।

लिंगदेहयुता सर्वे पतिता मूर्च्छिता इव ॥

यदि ने स्थूलदेहेन युता न स्युरिमऽखिला ॥

कथं कर्माणि कुवरन् विष्णुभक्तिपरायणा ।

अपूर्णभक्तयस्ते वा कथं मोक्षमवाप्नुयु ॥

विष्णुरहस्य, अध्याय ५

जीव तत्व

पह वचन का वचन अनादि है किंतु मध्व ने स्वीकार किया है कि वच ईश्वराधीन है। जीव को जब कभी इस वचन ने आवृत्त किया होगा तब ईश्वरेच्छा ही रही होगी। उस आवरण के पूव, अर्थात् ईश की जीववचेच्छा के पूव, जीव की स्थिति क्या थी? क्या वह स्थिति मोक्ष के समानांतर थी अथवा हीन थी? यदि समानांतर थी तो फिर इस सम्पूर्ण प्रपञ्च की क्या आवश्यकता? यदि हीन थी, तो हीनता किस रूप में थी? मध्व अथवा उनके सम्प्रदाय के आचार्यों में से किसी भी इस तथ्य का स्पष्ट समाधान नहीं किया है। इस प्रकार की दृष्टि मध्व ने जीव एवं अनान सम्बन्धी मायता तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर आघात है।

मध्व के उक्त विवेचन से, जीवात्माओं के भेद, स्वरूप एवं सत्ता के प्रति वेदा त परम्परा के यथायथा दृष्टिकोण का बोध होता है। प्रत्यक्षानुभव की प्रामाणिकता के आधार पर 'जीव' के इस स्वरूप को मध्व ने ग्रहण किया है।

सप्तम अध्याय जगत् तत्त्व

सामान्यत 'जगत्' पद का अर्थ, चेतन एवं अचेतन दोनों ही, भाव पदार्थ है। किंतु मध्व की पदायमीमांसा के अनुरोध के कारण जीवेद्वर भिन्न तरह 'जड' पदार्थ ही जगत् पद का अभिधेय है। भारतीय दर्शन में जगत् सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से उपलभ्य है। किंतु प्राचीनता एवं आचार्यों की विविधता के कारण अनेक प्रकार की दृष्टियाँ इस यात्रयान के सदर्भ में प्राप्य हैं।

जगत् के मूल कारण के अन्वेषण में द्विविध प्रवृत्ति प्राप्त होती है। एक वग उसके कारण के रूप में एक ही तत्त्व की स्थिति स्वीकार करता है। दूसरे वग में अनेक तत्त्वा को, कारण के रूप में, अभिहित किया है। पहले वग के विचारक उपनिषद् एवं उसके अनुवर्तों मत हैं। दूसरे के अनुकरणकर्ता चार्वाक जन बौद्धादि विचारक सम्प्रदाय हैं।

उपनिषद् के ऋषिगणा ने अनुभव किया कि जो भी दृश्यमान भौतिक तत्त्व हैं वे सभी नष्ट होते हैं। जो वस्तु कायरूप होती है उसका कोई न कोई कारण अवश्य ही होना चाहिये। दृश्य जगत् के अस्तित्व रूप को ग्रहण करके उसके कारण को कुछ आचार्यों ने अस्तित्व रूप माना। अ यो ने उस असत् दृश्य रूप को देखकर असत्कारण की भी कल्पना की है। इस मत के अनेक उद्धरण प्राप्त हैं।^१

किंतु इन विचारकों में कुछ ऐसे भी चिन्तक रहे होंगे जो समन्वय का माग खोजने में भी प्रवृत्त थे। उन विचारकों के अनुसार असत् ही पहले था। उससे सत् हुआ तदनन्तर क्रम आगे बढ़ा।^२ नासदीय सूक्त के ऋषि को इन दोनों एकाता का निषेध करना पड़ा। कारण के अन्वेषण होने से अज्ञात होने से, उस कारण के स्वरूप

१ "असद्वा इदमग्रमासीत् ।' तत्तिरोयोपनिषद् २।७

'नवेहृ किंचन अग्र आसीन् । मृत्युनवेदमावतमासीत् ।

वृहदारण्यकोपनिषद् । १।२।१

२ असदेवेदमग्र आसीत् । तत् सदासीत् । तत् समभवत् । तदाण्ड निरवतत ।"
छांदोग्योपनिषद् ३।१।६।१

के इन द्वन्द्वा म से किसी की भी स्थिति हो सकती है।^१ इसमें अयावृत्तत्व का ही बोध होता है। सत् तत्व भी आप अग्नि आदि व रूप म अनेक प्रकार का हो सकता है, किंतु ऋग्वेद के ऋषि न इस भी एक ही तत्व माना। भिन्नता केवल नाम निर्देश-मान के लिए है।^२

दगन के अब तक के विकास ने केवल असत् रूप न मानकर हृदय जगत् के मूल कारण को अस्ति रूप म ही माना। तथा उस सत् भी ग्रहण किया गया। 'याव-वर्गेष्वपि म भी एसी का जगन् तक सुगन्धित रखा गया है।'^३

सांख्य की 'जगत् सम्बन्धिनी दृष्टि म इन्द्रियानुभव की अपेक्षा मुख दुःख एव माह म अनुभव के कारण एव अनुभव की बुद्धि की मवेत्ता को आधार बनाकर, मूल जगत् स बुद्धि तत्त्व, सम्पूर्ण पदार्थों को मुख दुःख मोह स्वभाववान् अनुभूत किया गया। इसके उपरान्त स्वानुभूत मुख दुःख मोहात्मक सामान्य-तत्व के आधार पर उस मूल कारण के स्वरूप का निश्चय किया। मुख दुःख माह जो सब वस्तु म समान रूप से विद्यमान हैं उनके नियामक अग का ग्रहण अवश्य होना चाहिए। परिणामतः सत्, रज एव तम इन तीन गुणा की अविभाज्य घटक के रूप म स्थित होने व कारण अवयवी प्रकृति की सत्ता ग्रहण की। गुणा के वाय परस्पर भिन्न होने पर भी मह-कारणवत् प्रवृत्ति गीत है। इस प्रकृति का कोई कारण नहीं है। कारण के अनुमधान म कही पर तो रचना ही होगी अनवस्था प्रसंग उपस्थित होगी। यह मूल कारण होने म मव्यापी है। काल के द्वारा भी अनवच्छिन्न है। वह सत्त्व प्रधान बुद्धि का आश्रय पाकर मुख-दुःख का अनुभव करता है। गुणों की प्रधानता स विषय के रूप म ग्राह्य भी वही तत्व है। उक्त विवचन सार सत्त्व म दृष्टि म रचकर किया गया है। प्रकृति से ही ज्ञाता भोक्ता का ज्ञान और भाग्यप्राप्य आदि की सृष्टि होती है। वह अतत्त्व है निर्मा का अधिपत्य उस पर नहीं है।

'याव वर्गेष्वपि तत्त्व चिन्तन म एव मूल भूता व कारण को भी मूल एव तत्त्व गुणा से युक्त ग्रहण किया गया है। वाय के कारण-सत् तत्व भी उसी जाति के होन चाहिए। मूल महाभूत परमाणु रूप है। परमाणुओं व संयोग से मूल, मूलतर एव मूलतम की सृष्टि हुई। य परमाणु सत्त्व है। इनका कोई अग कारण नहीं है। वाय के द्वारा ही कारण स्थिति का बाध होता है।'^४ सांख्यिक परिणाम-

१ 'नामनीय सूत्र १०।१२८

२ 'ऋग्वेद १।१६४।४६

३ 'प्रगस्तनाभाष्य मातृम्य वषम्यप्रकरण।' 'यावमूत्र ४।१।१४

४ 'सदकारणवन्तिय। तस्य वाय विरम्। कारणभावात् वायाभाव।' वाग्विक दगन ३।३।१३

वादियो म काय दृश्य होना है। वह कारण से भिन्न नहीं है। जबकि इसम कारण से काय सवधा भिन्न है।

चार्वाक मत इन्द्रियगम्य विषय को ही जगत् का कारण मान लेता है। पच भूता से जगत् निर्मित है। जगत् की सत्ता है। वह मिथ्या प्रतीति के रूप म नहीं है। मृष्टि के क्रमिक विकास के लिए अथ किसी नियामक तत्व की अपक्षा इस मत म माय नहीं है। दशन मे सर्वाधिक िषय परक एव स्थूल यही दृष्टि है। यह विचार क्रम भी कारण के रूप म अनेक तत्वा को मानता है।

जन रम्परा म घर्मास्तिकाय एव अघर्मास्तिकाय दो प्रकार के द्रव्य ह। आकाश और पुद्गल भी अचेतन जगत् के मूल म ह।^१ परमाणु जन मन मे भी ग्रहीत है। स्थिति क अनुमार व ही वायवीय तजस आि रूप ग्रहण कर लेते है। परमाणु म कोई जाति गत भेद नहीं ह। परमाणु म वण रस गन्ध एव स्पग् की िसितया समान ह। अत परमाणुआ के सघात से उत्पन्न होने वाला स्वय (काय) कोई नया द्रव नहीं है। वह विशिष्ट रूप अथवा सस्थान मान है। वैशेषिक परिमाणु की कूटस्थ नित्यता प्रतिपादित करते है। जबकि जन विचारक परिणामनित्यता ग्रहण करते है।^२ जन मन म स्वीकृत परिमाणु वशेषिक स्तीकृत परिमाणु से अत्यन्त सूक्ष्म है। सूक्ष्म किरण म दृश्यमान रज न जाने कितने परिमाणुआ का स्क व है। य अनेक है।

बौद्ध विचारक जगत् को रूपात्मक कहने हैं। रूप का जय केवन नेत्रग्राह्यता ही नहीं है अपितु सभी इन्द्रिया से ग्राह्य भौतिक तत्व रूप ही है। काय के स्वरूप क आधार पर ही कारण का स्वरूप है। स्परसादि इन्द्रियागोचर कारण म भी है। स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत् का निर्देश रूप द्वारा ही किया गया है।^३ बौद्ध भी अणु परिमाणुवादी हैं कि तु जन एव वशेषिक क अनुमार व जगत् को नित्य नहीं मानते। तत्व सतत् परिवर्तनशील हाना है। काल से वस्तु म परिवर्तन का कारण है। स्वभाव से प्रवृत्तक्षणिक परिवर्तन के क्रम को ही काल कहा है। जैन, मायवशेषिक एव सांख्य परम्पराओ म पारस्परिक विभिन्ता होने पर भी य सभी घामिकी नित्यता को स्वीकार करती है।^४ किंतु बौद्ध मत म कोई भी अणुण्ड तत्व सूक्ष्म स्थूल भौतिक सृष्टि का आधार नहीं है। एक क्षणिक तत्व के आधार पर दूसरा दूसरे के आधार

१ अजीवकाया घर्मात्रमाकाण्डुगला । ५।१ तत्त्वाय सूत्र ।

गतिस्थित्युपग्रहो घर्मात्रमशोत्पकार । ५।१७ वी ।

२ वी ५।४ १० ११

३ विमुद्धिमग १।४।३२ ८०

४ पण्डित सुवलात सधवी नारतीय तत्व विद्या, पृष्ठ ६५

पर तीसरा, प्रतीत्यसमुत्पन्न रूप में 'रूप-जगत्' के परिवर्तन का क्रम चला करता है। पूर्व रूप की अवस्था के द्वारा उत्तरक्षण की अवस्था उत्पन्न होती है। इनके मत में भी रूप बहुत्व अथवा सात्तति-बहुत्व है।^१ अतः धर्मों का निषेध करके मात्र धार्मिक धर्मों का ही ग्रहण किया गया है।

बुद्ध के उपदेश पर ही आधारित परवर्ती चिन्तन परम्पराओं में विभिन्न मत उपलब्ध हैं। महास्तिवादी, सौत्रातिक विज्ञानवादी एवं गूयवादी इनमें पारस्परिक मतभेद हैं।

महास्तिवाद एक सौत्रातिक मत में धर्मबहुत्व स्वीकृत है। महास्तिवादियों के अनुसार जो धर्म अनागत अवस्था में था वह बतमान हो गया। यही बतमानता का त्याग करके आगत रूप में परिवर्तित हो जावेगा। इस प्रकार इस मत में धर्म की प्रैकान्तिक स्थिति के कारण प्रत्येक धर्म धर्मों के समान हो जाता है। बालभेद में अवस्था का स्वरूप उभवा धर्म बन जाता है।

अथ बौद्धान तत्त्व का अर्थ 'अयक्रियाकारित्व' माना। यह बतमान में ही सम्भव होने के कारण जतीत एवं आगत में अस्तित्व रहित धर्म का बसल बतमान तक ही सीमित मानत है।^२ केवल बतमान में ही धर्म का मानने पर सौत्रातिकों की मायकारण की व्यवस्था का भा समाधान करना चाहिए। इस संध में उनका कथन है कि पूर्वक्षण में रूप रस, गन्ध आदि का जो अविभाज्य मनुदाय है, वह उत्पन्न हात ही नष्ट हो जाता है। उसका विनाश दूसरे नम दाण का उत्पाद है। इसके मध्य में अन्य कोई शय नहीं रहता।^३ इस तरह चलनवाली दाणा की अव्याहृत धारा ही धर्म-सात्तति है। प्रत्यभिज्ञादि के विषय में बौद्धों का कथन है कि साह्यादि का भा जब दृष्टा की जाता है तब वह धर्म के कारण ही एकलबुद्धि प्राप्त करता है। जिन चिन्तकों ने प्रज्ञा को जागरूक कर लिया है, उनको प्रत्येक धर्म परस्पर भिन्न दिखते हैं। यह भेद साधारण मनुष्या की दृष्टि में नहीं होता। वे भ्रान्त हाकर अनेक बुद्धि से सारा व्यवहार सम्पादित करते हैं।^४

महायान के अन्तर्गत प्रवर्तित विचारधारा में दृश्यमान भेदमय रूपादि प्रपञ्च अविद्याकल्पित अथवा सचनिसत्य माना गया है। विज्ञानवादी भी भेद के अनाकलन के कारण गूयवादी के समीप ही हैं। इनके अनुसार भी भेद प्रधान बाह्य जगत्

१ तत्त्वसंग्रह, स्थिरभाव परीक्षा

२ तत्त्वसंग्रह पञ्चिका, पृष्ठ ५०४

३ प० मुपत्तात सधवी, भारतीय तन्त्र विद्या पृष्ठ ६६

४ तत्त्वसंग्रह स्थिरभाव परीक्षा

हेतु बिन्दु टीका, पृष्ठ १८१

वास्तविक नहीं है।

उपनिषद् के आधार पर प्रवृत्त शरकर भी यही तथ्य प्रतिपादित करते हैं कि दृश्यमान भेद अविद्याकल्पित हैं।

इन दो मता के पूर्व जितने भी विचारक्रमा का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया, वे सभी कारण को एक मानें अथवा अनेक नित्य मानें अथवा क्षणिकधम किंतु ये सभी जगत् को वास्तव मानते हैं। अज्ञान निवृत्ति के उपरांत भी सिद्ध को दृश्यमान विन्व प्रपञ्च वमा ही दृश्य है जैसा कि पहल था। द्रव्य जानी हो अथवा अजानी अथवा कोई अंतर नहीं है।

हि तु महायानी एव शकारानुर्ती भिन्न प्रकार से ही सोचते हैं। इन्द्रिया अपूर्ण एव दूषित हैं अतः उनमें कारण का रूप जाना नहीं जा सकता। अतः स्थूल जगत् के कारण एव स्वरूप के विषय में इन्द्रिय और मन से भिन्न कोई आधार ग्रहण करना चाहिए। वह आधार वासना मन्त्रेण अथवा अविद्या से विनिमुक्त चित्त में आविर्भूत योग प्राप्त ही हो सकता है। महायानी के अनुसार अविद्या के न रहने पर सुख दुःख जाति भी नहीं रहें। अतः जगत् मिथ्या है। केवलाद्वैत के अनुसार प्रपञ्च भेद का नामरूपात्मक है माया के कारण ही है। दोनों एक ही प्रकार के उदाहरण से अपना कथन स्पष्ट करते हैं।

उदाहरण के लिए स्वप्न में किसी व्यक्ति में दृष्टि का गवाक्ष में से कक्ष में प्रवेश करते देखा और भयभीत होकर भागने लगा। यह स्वप्न गत दृष्टि जिस प्रकार परिवर्तित है बाह्यजगत् भी उसी प्रकार से परिवर्तित है।^१ केवलाद्वैती मायाजाल एव मगमरीचिका सपरञ्जु आदि के उदाहरण से यही सिद्ध करना चाहते हैं कि दृश्य जगत् अवास्तविक है। अपने समथन में एव न बुद्ध वचन योगज्ञान उद्धन किए दूसरे न उपनिषद् वाक्य।

महायानान्तगत विचारक्रम बाह्यजगत् को परिवर्तित मानने पर भी यावहारिक उपयोग की दृष्टि से वैभाषिक मत के स्वरूप का ग्रहण करते हैं।^२ अद्वैती विन्वप्रपञ्च को मिथ्या मानने पर भी उसमें चलन वाल प्रवृत्त को साध्य सम्मत प्रवृत्तिवाद का आश्रय लेकर सिद्ध करते हैं।^३ अतः जगत् के यावहारिक सत्त्व में एक वैभाषिक दृष्टान्त है अमरा सांग्यदृष्टान्त।^४

१ विन्वभावनिर्देशकारिका २८

२ द्वैत मत्त ममुपाधित्य बदाना घमनेना।

तोकसवृत्तित्तत्य च सत्य च परमाथत ॥ मायमिक कारिका २४

जभिधमनीप पृष्ठ २६०

३ शरकर द्वा योग्योपनिषद् भाष्य ६।१।२४

४ प० मुवलाल सघवी भारतीय तत्व विद्या पृष्ठ ७३

जगत तत्व

इस प्रकार सक्षेप म भारतीय चिन्तन में मध्व से पूर्व की जगत् मन्त्र-धी दृष्टिया का विवेचन प्रस्तुत किया गया। म व अपने तत्व निर्धारण म 'याय-वैशेषिक' एव साय से प्रभावित हैं। उसी प्रकार के तत्वा का ग्रहण उनके द्वारा हुआ है। मध्व के आगामी विवेचन से यह पूणत स्पष्ट हो जावगा कि जगत् की वह पूण सावकालिक सत्ता को म्बीकार करता है। सृष्टि प्रक्रियादि म उसकी सत्ता स्वीकृत है। वह ईश्वराधीन ही काय म्पादन करता है। स्वत ता वह जड ही है।

पचभेद की प्रकृष्टता ही प्रपच है।^१ दस मायता के साथ मध्य की यथाय परक दृष्टि में 'जड' तत्व की सत्ता एव स्वरूप के विषय म गवर के अद्वैत से भिन्न स्थिति की मायता सहज स्वामाविक थी। मध्व कल्पित यह द्वन भ्राति नहीं है।^२ विद्व की दृष्टि ईश्वर की इच्छा से हुई है। ईश्वर आप्तकाम है केवल लीला की दृष्टि से ही वह सृष्टि करता है। युक्तिमल्लिका म ईश्वर की उम व्यक्ति के माय तुलना की गई है जो प्रसन्नता म नत्यादि करता है।^३

मध्व मत में स्वीकृत जगत् वास्तव है। जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष अनुमान एव श्रुति के द्वारा स्थापित करने का प्रयास किया गया है। द्वैन में ज्ञान के उभरण के रूप म साक्षी को भी ग्रहण किया है। सामान्य इन्द्रिया से उत्पन्न ज्ञान सत्य एव प्रामाणिक माना जाता है। वदात के प्राय सभी मता म ज्ञान का स्वत प्रामाण्य है। द्वैन अद्वैत एव विशिष्टाद्वैत इसी मत के अनुग्राहक हैं।^४ किंतु प्रामाण्य, विषय के बाधित होने के बाद नहीं रहता।^५ आ प्रामाण्य के साथ ही जगत् का नत्यत्व भी सम्बद्ध है।

जगत् की सत्ता के प्रदन पर भी गहर और मध्व में गम्भीर मतभेद है। प्रस्तुत प्रकरण म शकर सम्मत विवेचन प्रस्तुत करके मध्वकृत खण्डन सूचिन करना अधिक मगत होगा। 'जमाद्यम्य यत' सूत्र की व्याख्या में गवर ने जगत् की प्रकृति का विवेचन किया है।^६ जगत' अविद्याकृत है। इसी के कारण वस्तु म अवन्तु का बोध होता है। 'जगत की उभन प्रतीति, सत्तात्मक तभी तन है जब तक कि अज्ञ

१ मध्व— प्रकृष्ट पचविधो भे प्रपच । विष्णु तत्र निणय, पृष्ठ २७

२ मध्व— परभेदवरेण जातत्वात् रति तत्वाच्च न द्वैत भ्रातिकल्पितम् । विष्णु तत्र निणय पृष्ठ २७

३ यादिराजतीय—युक्तिमल्लिका, पृष्ठ ४४७

४ डा० बी० एन० के० गमा, पिनासफी आव श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ १३७

५ व्यामनीय— न हि विषयावाधमननर्भाष्य प्रामाण्यग्रहण नाम । वायामृतम पृष्ठ १४७

६ गवर—ब्रह्मगुत्र भाष्य, पृष्ठ ७

साक्षात्कार नहीं हो जाता । अथ अनेक स्थानों पर शंकर ने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है ।^१ प्रवहमान जलधारा अथवा दीप की ज्योति के समान जगत्' शक्ति है । वह बुदबुद के समान है । यह स्वप्न म दख गए गणवतनगर के समान है, जो जय तक देखा जा रहा है तभी तक^२ उसका वाद नष्ट है ।^३ इस प्रकार क तथा अथ अनक विवचना के द्वारा अद्वैत मत म जगत्' की अधिकाधिक रूप म भ्रम जय प्रमाणित कि ा गया है । त म अद्वय रूप म कवल ब्रह्म की ही सत्ता अत्यन्त स्वीकार करता है स्वभावतः उस मत म जगत्' की सत्ता हीन मानी ही जाती चाहिए । मृत्तिका क अनिश्चित घटादि वास्तव म सत नहीं है ।^४ जगत्' की सत्ता का अबाध्य प्रमाणीकरण, निश्चित रूप से ब्रह्म का अद्वयता का बाधक हागा ।^५ यदि जगत्' सत्य है तो उस ब्रह्म म भिन्न दूसरी सत्ता के रूप म मानना होगा ।

शंकरोत्तर विचारना ने एतदथ कतिपय तर्कों का उपयोग किया है । विषय और विषयी का पारस्परिक सम्बन्ध एव उनके भेद के आधार पर 'जगत्' का स्वरूप अनिवचनीय हो जाता है । अद्वैत मत म विषय और विषयी का बोध आध्यात्मिक है अन स्वभावतः उनको जगत्' का मिथ्यात्व स्वीकार करना होगा ।^६

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार ज्ञान का उद्देश्य जगत्' की माया की निवृत्ति है ।^७ छादोग्य म प्रतिपादित है कि एक ज्ञान के प्राप्त कर लेने स सभी कुछ जान लिया जाता है ।^८ ज्ञान से किसी वस्तु की निवृत्ति तभी सम्भव है जय वह वस्तु अनिवचनीय हो । उसी प्रकार स एक के ज्ञान से ही सवज्ञान प्राप्त होना भी अथ सभी वस्तुओं के एव म विलीन होने की मायता के ग्रहण करने पर ही सम्भव है । यदि अनेक विषय वास्तव हागे तब उनका ज्ञान सवतो-व्याप्त कस होगा ?

गौडपाद की कारिकाआ म जगत्' मिथ्यात्व को स्थापित किया गया है । उही तर्कों का परवर्ती विचारको ने भी उपयोग किया है । गौडपाद का प्रश्न है कि क्या जाग्रत अवस्था म उपलब्ध जागतिक अनुभूति सत् है ? तब उ म सत्' की इस

१ शंकर कठोपनिषद् भाष्य २।३।१

२ शंकर— नरूपमस्येह यथा वर्णितम तथा नवोपलभ्यते । स्वप्नमरीच्युत्वमाया ग वननगरसमत्वाद्यष्टनष्टस्वरूपो हि स सत्यत एव ना तो न पयन्तो निष्ठा समाप्तिर्वा विद्यते । भगवद्गीता भाष्य १५।४

३ शंकर— विवेक घूडामणि श्लोक स० २३१

४ वही—श्लोक सत्त्वा २३४

५ डा० ए० के० नारायण—क्रिटीक आव मन्त्र रेफूटेशन आव वदात पृष्ठ २४१

६ भूयश्वा ते विश्वमायानिवृत्ति । श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१०

७ छादोग्योपनिषद् १।१।५

परिभाषा कि सत् अविरोध्य होता है, स सिद्ध होना चाहिए। किन्तु जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में ग्राह्य विषय बाध्य होते हैं। जबल तुरीयावस्था में का बोध बाधित प्रमाणित होता है। इसी अवस्था के कारण पर जाग्रत अवस्था का बाध बाधित प्रमाणित हुआ है।^१ जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वप्न उष मिथ्या प्रतीत होता है ठीक उसी प्रकार स स्वप्नावस्था में समस्त जाग्रत अवस्था गत बोध मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार अनुभव का विषयत्व, विषय विषयिणत्व इन तथा आद्यतरुण कलावधि, व आचार पर जगत सत्यत्व का खण्डन गौणपाद न किया है। स्वप्न एवं जाग्रत प्रतीतिया मायातृप्त हान में मिथ्या हैं।

अनुमान के रूप में उक्त तत्त्व का रचने का प्रमाण गहरने अपर माध्य में लिया है—

(१) जाग्रत अवस्था के विषय मिथ्या है। (प्रतीति)

(२) क्याकि व दृश्य है। (दृत्तु)

(३) स्वप्न अनुभव के विषयो के समान (उत्तरण)

(४) जाग्रत अवस्था के विषयों की दृश्यमानता स्वप्न विषयों की दृश्यता के समान है। और स्वप्नगत विषयों का मिथ्या होना पूर्व प्रमाणित है। (प्रत्यक्षन)

(५) अतः जाग्रत-अवस्था के विषयों का बोध भी मिथ्या है।^२

अनुमान में पक्षयमता और ध्याप्ति का विचार आवश्यक है। उक्त अनुमान में स्वप्नता और मिथ्यात्व की व्याप्ति होनी चाहिए। अत्र ध्याप्ति की दृष्टि में जहाँ जहाँ दृश्यता है वहाँ वहाँ मिथ्यता है। इस स्वप्न, सुविनरजतादि प्रतीतिया इन सम्पूर्ण उदाहरणों में स्वप्नता और मिथ्यात्व की व्याप्ति का प्रसंग उपलब्ध है। यह केवलान्दयी ध्याप्ति का उदाहरण है क्योंकि यहाँ व्यतिरेक ध्याप्ति का उदाहरण प्राप्त नहीं होगा।^३ जो कुछ भी उदाहरण के रूप में उल्लिखित किया जावेगा वह सभी मिथ्या होने के कारण साध्य-साधनीय होगा। अनुमान में साध्य सदिग्ध स्थिति में रहता है। अनुमान लिया के उपरान्त ही वह निःसदिग्ध रूप में साधित होगा। अतः प्रक्रिया के मध्य में साध्य की उदाहरण बनाना उचित नहीं है। साथ ही केवलान्दयी में भी साध्य निश्चिन्त सम्भव है। यह आवश्यक नहीं है कि निश्चिन्त के उपरान्त व्यतिरेक-ध्याप्ति का ग्रहण लिया ही जावे। अतः जगत का मिथ्यात्व केवलान्दयी रेतु से ही सिद्ध हो गया। व्यतिरेक ध्याप्ति की वहाँ न तो स्थिति ही है और न उपयोगिता ही।

१ गौडपाद—भाष्यकारिका १।१५

२ वही, २।४५

३ गहर—भाष्यकारिका भाष्य २।४

४ वेदान्तपरिभाषा, पृष्ठ ८३

मन्व ने उक्त अनुमान का खण्डन तीन आधारों पर किया है। पक्ष हेतु एवमाद्यगत दोष।

पक्ष के आधार पर मन्व का तर्क है कि अनुमान के प्रस्तुत प्रसंग में आद्यसिद्धि नामक दोष है। यदि जगत् की जाग्रत अवस्था के विषय वस्तुतः मिथ्या है, तब साध्य के रूप में मिथ्यात्व का ग्रहण का उपयोग ही क्या है? जिस प्रकार सगनकुमुम की सुरभि के अनुमान के द्वारा प्रमाणित करने में आश्रय सगनकुमुम की असिद्धि के कारण अनुमान का प्रयोग ही नहीं हो पायगा। उसी प्रकार गणकर्मण में भी विश्व का मिथ्यात्व अनुमान से प्रमाणित करना मवया निरर्थक है।

अद्वत मतानुयायियों का इसका विरुद्ध कथन यह है कि अवास्तव और मिथ्या में अंतर है। जगत् सत्ता और असत्ता के रूप में निवचन योग्य न होने के कारण ही मिथ्या है। मन्व का तब जगत् के सत् को स्थायी या पारमार्थिक रूप से सत् मानने के कारण प्रवृत्त हुआ है। किन्तु यदि अनिवचनीयता से युक्त जगत् का मिथ्यात्व अनुमान द्वारा अभोक्त है तो यहाँ असिद्धि विज्ञापनता नामक दोष होगा। साध्य का स्वरूप स्पष्ट रूप से स्थिर होना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का तिरोधान जाना पड़ता है।^१

हेतु दृश्यत्व भी गणकर्मण में अवास्तव होने से असिद्ध है।^२ दृश्यत्व एव मिथ्यात्व की वाप्ति के ग्रहण में मन्व ने विरुद्ध अनकारित्व सोपानिक अनध्यवसित कालात्ययापच्छिद्य दोष निर्दिष्ट किया है।

अनुमान के प्रसंग में सपक्ष के अभाव होने से विरुद्ध नामक हेतुगत दोष आपतित होता है। अद्वत मत में अनिवचनीयत्व को मान लेने पर सपक्ष का अभाव प्राप्त होता है।^३ यदि सपक्ष नहीं है तो हेतु की स्थिति विपक्ष में भी होगी। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से सपक्ष का अभाव विरुद्ध हेतु की स्थिति प्रमाणित करता है। अनिवचनीयता को मध्व मत में पूणत अस्वीकार कर दिया गया है। अतः मध्व की दृष्टि में कोई भी सपक्ष प्राप्त नहीं होगा। संप्रति प्रसंग के हेतु में साधारण अनकारित्व नामक दोष है। जब हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों स्थानों पर समान रूप से पाया जाए तो साधारण अनकारित्व होता है।^४ ऐसे प्रसंग में वाप्ति ग्रहण न हो

१ जयतीर्थ—मिथ्यात्वानुमानखण्डन टीका पृष्ठ २

२ व्यासतीर्थ—यायामृत, पृष्ठ ४६ ५०

३ मन्व—अनिवचनीयसिद्धिरेव सपक्षाभावाद्विरुद्ध।

मिथ्यात्वानुमानखण्डन, पृष्ठ ४

४ 'य सपक्षे विपक्षे च भवेत्साधारणस्तु स। यायमुक्तावली वारिका ७३

सकन के कारण अनुमान प्रवृत्त ही नहीं हो पाता। दृश्यत्व, जो जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ है, उक्त दोष से दृष्ट है। मध्य के अनुसार आत्मा भी दृश्य (नेप) है, किन्तु वह मिथ्या नहीं है। अतः दृश्यत्व हेतु विषयत्व भी प्राप्त है। स्मरणीय है कि मध्य आत्मा को दृश्य मानते हैं। किन्तु शंकर ने दृश्य न मानकर स्वयं प्रकाश माना है। मध्य के अनुसार प्रस्तुत प्रयोग में 'सोपाधि' हेत्वाभास के अन्तर्गत 'साध्यत्वासिद्ध' नामक दोष भी है। सभी मिथ्या प्रतीतिषु विपरीत प्रमाण विषय हैं। इसी प्रमाण विरोधित्व^१ को आधार बनाकर मध्य ने उक्त दोष निर्दिष्ट किया है। विपरीत प्रमाणत्वं मिथ्यात्व में तो व्याप्य है कि तु दृश्यत्व में ही प्राप्त है। प्रत्येक दृश्य प्रमाण निरुद्ध नहीं है, इसलिए दृश्यत्व में अव्यापक होने से यह उपाधि है।

जो हेतु साध्य के समान असमान धर्मों से रहित हो, वह परिणामन किन्हीं प्रकार के ज्ञान को प्रदान करने में असमर्थ होता है। "अध्यवसाय" से असमर्थ होने के कारण वह 'अनध्यवसित' नामक हेत्वाभास है।^२ हेतु या साध्य के समान अतमान धर्मों से सम्पन्न होकर पाया जाना आवश्यक है। किन्तु जयतीर्थ आदि आचार्यों ने अनध्यवसित का केवल यही अर्थ लिया है कि जो साध्य के ज्ञान को 'प्राप्त करने में अव्योम्य है।'^३ शंकर के मन में सभी कुछ मिथ्या है। अनुमान जो मिथ्यात्व को प्रमाणित करेगा वह भी मिथ्या है। यह तक हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि की अक्षमता को प्रमाणित करता है।^४

कालात्ययापदिष्ट को ही वाचित विषय हेत्वाभास भी कहा गया है। जिस हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण में निश्चिन्त हो गया है, वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है।^५ दृश्यत्व हेतु से जगत् मिथ्यात्व को प्रमाणित किया गया है। किन्तु जगत् मिथ्यात्व प्रत्यक्ष तथा अन्य प्रमाणा से वाचित है। अर्थात् जगत् सत्यत्व

१ मध्य—'प्रमाणविच्छेदत्वमुपाधि ।' मिथ्यात्वानुमानखण्डन पृष्ठ ४

२ श्रीशंकर—'यश्चानुमेय विद्यमानस्तत्त्वमानासमानजातीययोरसन्निव सोऽप्यतरासिद्धो अनध्यवसायहेतुत्वान् अनध्यवसित ।' प्रगस्तपादभाष्य मायकदली, पृ० २३६

३ जयतीर्थ—'न विद्यतः अध्यवसितमध्यवसाय साध्यसिद्धिपत्मात् स तथावन इति । मिथ्यात्वानुमानखण्डन टीका, पृ० ५

४ मध्य—'जगताऽभावेऽनुमानस्याप्यभाव इति तत्र वाचितत्वेन अनध्यवसित ।' मिथ्यात्वानुमानखण्डन, पृ० १

५ 'यस्य साध्याभाव प्रमाणेन निर्दिचन स कालात्ययापदिष्ट ।' प्रमाणचन्द्रिका, पृ० १५५

प्रमाणित है। अतः उक्त हेतु बाधित विषय नामक हेतुभास से दूषित है।^१

गणर के सिद्ध जितने भी तत्र इम मन्त्रप्रदाय क विचारणा के लिए हैं उनसे मूल म व्यावहारिक एव प्राणिभासित सत्ता की विविध मायता का अभाव है। मध्य मत्तानुयायी व्यावहारिक सत्ता एव पारमार्थिक-जसत्ता (गणू की) पर विश्वास नहीं करते। अद्वैतानुयायी विचारक असात्ता को आधारभूत मायता क रूप म ग्रहण करते हैं। अतः इम प्रकार सत्ता का स्वरूप ही तब सदिग्ध है तब मध्य उम आधार बनाकर लण्डन करें यह भी युक्तिसंगत नहीं है। अपनी मायता को तार्किक परिवेष देन की आशाणा म श्रद्धा मत के अनुमान का प्रसंग भी अविन गहायन नहीं है। स्वयं मिथ्या अनुमान से जगत् मिथयात्व प्रमाणित करना वस्तुतः चिन्त्य है।

✓ मध्य विचारक जगत् की सत्ता और उससे अनुभव की गत् मानते हैं। इसके लिए उन्होंने प्रत्यक्ष के पांच साधना के अनिर्विकल सांगि का भी हेतु माना है। यह जगत् क सत्यत्व का प्रत्यक्षत प्रमाणित करता है। व्यावहारिक रूप म ही इसकी सत्ता प्रत्यक्षत सिद्ध है ऐसा अद्वैतानुसारी विचार मानने पर तो प्रत्यक्ष प्रमाण प्रामाणिक ही नया रण। काल की दृष्टि से उसकी प्रामाणिकता बाधित हो गई।^२ यदि प्रमाण का स्वतस्त्व पुष्ट भी महत्व रखता है तो जगत् की सत्ता ग्रहण करनी ही होगी। उनकी सत्ता के लिए किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं है। युक्ति की आवश्यकता तो मिथयात्व प्रमाणित करने के लिए है।

मध्य के अनुसार जो भी ज्ञान प्राप्त हो रहा है उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए। एक बार यदि परीक्षा करने के उपरांत उसके सत्यत्व को स्वीकार किया जाता प्रत्यक्ष ज्ञान म उसकी प्रामाणिकता का ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रत्यक्ष प्रमाण की स्थिति एव प्रामाणिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष को न मानने से तो अद्वैत मत की भी हानि है क्योंकि शुक्ति रजत की भ्रान्ति मे यह रजत नहीं है यह ज्ञान भी प्रत्यक्षान्वित है। अथवा 'यह रजत है' इसकी अप्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं हो पावेगी। परिणामतः ज्ञान की अभिलाषा म प्रवृत्त होने पर मूल की ही हानि हो जावेगी।^३ अतः प्रत्यक्ष की अनिवायता एव उपधागिता को किसी भी तरह हान नहीं बनाया जा सकता। अनुमान अथवा गद के द्वारा प्रत्यक्ष का तिरस्कार

१ मिथयात्वानुमानलण्डन, पृ० ६

२ मध्य—प्रामाण्यस्य च भयानि कालतो याहता भवेत्।

कालान्तरेप्यमान चेदिदानी मानता कुत ?' अनुयायान, पृष्ठ ५५

३ यामतीथ—नेद रूप्यमिति प्रत्यक्षप्रामाण्यमावश्यकम्। अथवा इद रूप्यमित्यस्या प्रामाण्य न स्यादिति वद्विमिच्छतो मूलसिद्धातहानि। यायामृ, पृष्ठ १३६

अयोपाश्रय दोष से द्रष्टृ हागा । वह अनुमानानि या उपजीव्य है ।

जगत् स्वयत्त्व इमो उपजीव्य प्रत्यक्ष पर आश्रित है । यह रजतादि के समान भ्रान्ति-अय नही है । साक्षि के द्वारा दृष्ट दृष्ट एव सुपरीक्षित होने के कारण वह यथाथ है । किसी भी शुद्ध प्रत्यक्ष को कोई अय अधिक सम्यक् बाधित कर सकता है यह विचार अग्राह्य है । साक्षि, मत्त्व मत म, प्रत्यक्ष का महत्त्वपूर्ण आधार है । एक बार इस आधार को स्वीकार कर लिया, तो फिर जीव-ब्रह्मैक्य प्रतिपादित करने वाली श्रुतियों, तथा उसके जवान्तर निष्कय-जगत् मिथ्यात्व को प्रतिषिद्ध करना सहज हो जाता है । 'तत्त्वमसि यह मुप्रभिद्ध महावाक्य भी साक्षि के द्वारा ही अपने अय प्रत्यायन में समथ होगा । जिस प्रकार सुप्त एव दुःखानुभूति साक्षि द्वारा प्रमाणित होकर ही अनुभवगम्य होती है ठीक उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी साक्षि की प्रामाणिकता के उपरांत अनुभव प्राप्त करा सकेंगे । इस वाक्य प्रयोग में साक्षि की प्रामाणिकता के उपरांत अनुभव प्राप्त कहा सकेगा । इस वाक्य प्रयोग में साक्षि-वर्तय के द्वारा ग्रहीत अय केवल यही है कि 'जगत् के मिथ्यात्व में इस वाक्य का तात्पर्य नहीं है । यह एक वाक्य अवश्य है और उसका अय भी है, किन्तु वह अय जगत् मिथ्यात्व 'है ।' इस पर भी जगत् मिथ्यात्व-परक मान लन पर उपपत्ति का विरोध, अर्थान् प्रत्यक्ष का विरोध होता है ।

अद्वैत मतानुयायी विद्वान् स्वप्न एव भ्रम आदि के साम्य पर जगत् का मिथ्यात्व प्रमाणित करने हैं । अर्थान् प्रत्यक्ष की सत्ता केवल वर्तमान क्षणा में ही सीमित रहती है । एसी दृग्ग में स्मृति आदि सभी का क्षेत्र समाप्त हो जावेगा । केवल अनुमान के आधार पर प्रत्यक्ष को बाधित करना अनुचित है । स्वप्नगत अनुभूतियों को लेकर न गौडपाद का अनुसरण करते हुए मिथ्या माना है ।^१ स्वप्न में दध गण विषय कोई भौतिक स्वरूप नहीं रहता । न तो वे स्वप्न द्रव्य से भिन्न हैं और न अभिन्न । यदि स्वप्न विषय होने तो वे ही विषय दृग्ग को भी दृष्टिमोचर होते । यदि उन्हें अभिन्न माना जाए तो इतने रूपा में उसी अभिन्नविन कस ?

स्वप्न के आधार पर ही जगत् का मिथ्यात्व उन्नत मत में ग्रहीत किया गया है । इसीलिए मध्व शंकर में इस मत को स्वीकार नहीं करते कि स्वप्न मिथ्या है । स्वप्न में दृष्ट सुप्त दुःख की अनुभूति जाग्रत अवस्था में भी होती है । कामिनीसमोय

१ जयतीर्थ—न भ्रमो वय नस्तीदवाक्यमिति । नाप्येषा पदानामत्र शक्तिनास्तीति । किन्तु अस्य वाक्यस्य प्रपञ्चमिथ्यात्व तात्पर्यं नास्ति । उपपत्तिविरोधाभावाद् हि प्रतीतासौ तात्पर्यस्य नापत्तः । अयं चानुपपत्तिविरोध इति ।^१

माध्वगुणा पृष्ठ ६०१

२ गौडपाद कारिका २।१ ३, ब० सूत्र गाररभाष्य ३।२।३

जादि के स्थूल परिणाम जाग्रत अवस्था में दिखाई देते ही हैं। साथ ही यह प्रश्न कि स्वप्न द्रष्टा सब भिन्न हैं कि जभि न ? मन्व मत में महत्त्व नहीं रखता क्योंकि सम्पूर्ण स्वाप्न विषय ईश्वर के द्वारा जीव में उत्सृष्ट हैं। उसी सवशक्तिसम्पन्न की इच्छा से व नष्ट भी हो जाते हैं। स्वप्नगत विषयों के बाध के प्रसंग में यह आवश्यक नहीं है कि कोई द्रष्टा अपने भौतिक शरीर से निस्लकर उन विषयों का ज्ञान प्राप्त करे। यह बोध तो मन से ही प्राप्त किया जा सकता है।^१ स्वप्न वासना जय है यह तो शकर भी स्वीकार करते हैं।^२ वासना का स्वप्न विषय के उपादान के रूप में ग्रहण करने से तद्गत यथायथा के द्वारा अनेक विराघा वा समाधान हो जाता है। यही कारण है कि शकर यह मानने को बाध्य हैं कि स्वप्न गत विषय को मिथया कहा जा सकता है, न कि विषय को स्वरूपतः, क्योंकि जाग्रत दशा में तो उसकी उपलब्धि होती ही है।^३ मध्व और जाग बत्कर सस्कारनाय जीव के मन में रहने वाले, स्वाप्न विषयों को भी सत् मानते हैं।^४ यह बाह्य कारणों से उत्पन्न नहीं होना केवल वासनात्मक हैं इसीलिए मध्व ब्रह्मसूत्र में प्रयुक्त मायामात्रम् पद का व्याख्यान करते हुए व्यक्त करते हैं कि वासना इनकी उपादान कारण एवं ईश्वर निमित्तकारण है।^५ जयतीथ के अनुसार यदि यहाँ केवल वासना का मुख्य प्रयोग करते तो ईश्वर की प्रज्ञा का ग्रहण न हो पाता। दोना का पृथक् पृथक् उल्लेख विस्तार का कारण बनता, अतः मुख्य और अमूर्त दोना की ही विवक्षा की दृष्टि से मायामात्रम् का उल्लेख किया गया।^६ वासना के कारण के रूप में रहने से इनमें बाह्य अर्थों के समान अथक्रिया

१ जयतीथ—यथा बाह्यकारणत्वात् स्वप्नविषया तदा सम्यग्भिन्नयज्येव न।

न चवम्। अतः सस्कारोपादानिका एवेति भावः।

वासनामयाना मेरुमन्दरवसतादीनां शरीरादनिगतैव मनसा

दगानसम्भवान्। तत्त्वप्रदीप ३।२।३

२ शकर—जाग्रत्प्रभववाननानिमित्तत्वात् स्वप्नस्थः। श्र० सू० भा० ३।२।६

३ वही—यद्यपि स्वप्नानावस्थस्य सपदगानात्स्मानादिजाग्रतानमनसम् तथापि तदवगति सत्यमेव। श्र० सू० भा० २।२।१४

४ जयतीथ—मात्रनापरनामका सम्काराः। अनाद्यनुभवप्रवाहात्पनाः।

सम्काररित्युपादानकीतनम्। नच तथा गुणत्वेनोपादानत्वानुपपत्तिः।

मनोवृत्तिस्त्वेतद् द्रवत्वात्। सस्काराणां चातीन्द्रियत्वेन प्रदण्डकर्म

विनागोचरिक् प्रागुच्च चानुपपन्नो न दोषाय। यायमुना पृष्ठ ४६०

५ मध्व—ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।३

६ जयतीथ—यदि च वासनामात्रमिति मुख्यप्रयोगं क्रियते तथा इश्वरप्रज्ञा न सप्रहीना स्यात् पृथगुभयग्रहणे गौरव स्यात्। अना मुख्यामुष्यविप्रत्याभ्यग्रन्थाय मायामात्रमियुक्तम्। यायमुना पृ० ४६४

कारित्व नहीं है।^१ किंतु इसके कारण उनकी यथायत्ता के प्रति सदेह नहीं किया जा सकता। स्वप्नगत विषयों का मिथ्यात्व उन विषयों में नहीं, अपितु उनको जाग्रत पदार्थ के रूप में ग्रहण करने में है जबकि दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं।

दूसरा उदाहरण जगत मिथ्यात्व के लिए सप का भ्रम को भी लिया है। उसमें भी अथ क्रिया कारित्व होने से उसकी भी सत्ता माननी होगी।^२ भ्रम को ग्रहण करने का अभिप्राय वस्तु में अवस्तु का आरोप है। यदि यह आरोप यहाँ मिथ्या हो भी तो भी अत्र सपप्रतीति सत् भी है। जिस प्रकार वतमान कालीन सपप्रतीति से भिन्न वास्तव सपप्रतीति की स्थिति है। ऐसी दशा में दो जगत् की सत्ता माननी होगी। एक भ्रमात्मक दूसरा वास्तव जिसके आधार पर भ्रम हुआ। जगतीय के अनुसार, ऐसी स्थिति में, जो पात या सत्य है उसकी ही सत्ता क्या न मान ली जाय ?^३

मूलतः मध्य सारि चतुर्थ के आधार पर ही जगत् का सत्यत्व प्रमाणित करते हैं फिर भी इस मत में श्रुति के द्वारा भी जगत् का सत्यत्व प्रतिपादित किया है। अनक प्रति वाक्य इमं सद्ममं म उदत्तं क्वि ए गे हूँ।^४ ढा० दासगुप्त ने भी श्रुति की द्वैत-पक्षता को स्वीकार किया है।^५

प्रमाण के रूप में बुद्धि केवल दो ही विकल्पा का ग्रहण करती है। या तो किसी वस्तु का स्वल्प सत् हो अथवा ही नहीं। किंतु सत्वासत्त्व दोनों को छोड़कर दाना बुद्धि से भिन्न स्थिति का निर्धारण असम्भव है।^६

१ जगतीय—तथा तथा बाह्यवत् क्वचित् स्पष्टता बाह्यविक्रियाकारिता नास्ति।

वही पृष्ठ ४६६

२ मत्र—मयभ्रमात्तवपि हि पातमस्त्येन तात्पर्यम्।

तत्राथक्रियाकारितत्तदेवायकारम्। अनु० व्या० पृ० ६७

३ जगतीय—सत्यजगद्द्वयायोकारात् अस्यैव जगत् सत्यत्वानीकारस्य सधृत्वात्।

वादावली पृष्ठ ५३

४ श्रुतवत् २।१।१ २।२।६ ७ ७ १०।५।१६ वृत्तान्तप० ३।७।१३ मुण्डकोप
३।१।१२ षटोप० १।२।१३, ईतो० ३

५ There are so many passages in the Upanisads that are clearly theistic and dualistic in purport that no amount of linguistic trickery could convincingly show that they yield a meaning that would support Shankara's position that the Brahma alone is the ultimate reality and all else is false. A History of Indian philosophy vol II p 2

६ जगतीय—सत्त्वामत्त्व विनाय प्रमाणस्यरूपस्य बुद्धौ जागपयितुमशक्यत्वंतोप
पस्य तत्त्वोपकारानुपपत्तौ न। पापमुष्ठा पृष्ठ ३४

जो किसी वस्तु विशेष स विलक्षण को जान लेता है वह उसके स्वरूप को जान ही लेता है जैसे देवदत्त को घट से विलक्षण पट का पान हो गया तो अनुमानत उसका घट जानयुक्त होना सिद्ध हो गया ।^१ अत यदि जगत् 'असत्' विलक्षण पात हो गया तो उसका सत्त्व तो स्वतः प्रतीत है । किसी भी वस्तु की सत्ता उसकी अचक्रिया कारिता से भी निश्चित होती है । जगत् मे अचक्रियाकारित्व है अतः वह सत् है ।

सृष्टि, द्वैत मत मे, तत्त्व के मूल मे निहित अथ का स्वरूप परिवर्तन है । यह परिवर्तन इश्वर की क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है । सृष्टि, इश्वर के जगत् से आठ प्रकार के सम्बन्ध मे से, प्रथम सम्बन्ध है । इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया इश्वर के अधीन है । प्रकृति मे प्रवेग एव उस परिणमित करके वहा परिणाम एव नियमन आदि के कारण वह उसना स्वामी है ।^२

इश्वर सृष्टि का आधार है किन्तु वह कारण काय के सामान्य स्वीकृत सम्बन्ध के समान जगत् से सम्बद्ध नहीं है । वह जगत् का मूलाधार है ।^३ क्योंकि सृष्टि का होना उसकी क्रिया पर ही निर्भर है । मध्य यायवगेपिक के समान असत्कायवाद नहीं मानते । किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि जगत् को प्रत्येक वस्तु सत् एव अनुत्पाद्य है । मध्य आकाश काल आदि की नित्यता स्वीकार करते हैं । इस प्रकार इन तत्त्वा की सृष्टि का अतिप्राय उनकी विशेष रूपोपलब्धि ही है, जो इश्वराधीन है । इस प्रकार सृष्टि स्वरूप परिवर्तन के रूप मे है । वह भी इश्वर की इच्छा से होता है । अतः अपने स्वरूप विशेष को पाना (नित्यतत्त्वा की दृष्टि से) एव विशेषरूप मे परिवर्तन हाना (अनित्य तत्त्वा की दृष्टि से) पराधीनत्व है अर्थात् इश्वराधीन है । इश्वर की आठ प्रकार की शक्तता का सृष्टि से सम्बन्ध विवेचित करते समय यह स्पष्टतः जान लेना आवश्यक है कि प्रस्तुत प्रयोग की सुविधानुसार आठा मे से किसी भी आधार पर अधीनत्व प्रमाणित हो सकता है । अर्थात् आठा का प्रमग होना आवश्यक नहीं है । सृष्टि के नित्य रूप की अधीनता नियमनादि के द्वारा हो सकती है । जबकि परिवर्तन रूप सृष्टि की अधीनता इच्छासे सृष्टि करन के कारण है । आकाश कालादि नित्य द्रव्या की पराधीनता स्वीकार करन मे किसी प्रकार की तर्क विरुद्धता नहीं है । नित्य-मत्ताय नियमित होन से अनित्य भी नहीं होंगे । न ही इन नित्य पदार्थों का कोई स्वरूप परि-

१ जयनीय—'यो यद्विलक्षण प्रत्ययि स तत्प्रतीतिमान् यथा घटविलक्षण पट एनि प्रतीतिमान् वस्तो घटप्रतीतिमान् इत्यनुमानात् । यादमुषा, पृष्ठ ५८

२ मन्त्र—प्रकृतावनुप्रविश्य ता परिणाम्य तत्परिणमनियामकतया तत्र स्थित्वा आत्मनो बहुधाकरणात् । ब्रह्मसूत्रभाष्य ११४।२०

३ 'अद्विगानमिन्द्रिगामूलाधार विचक्षण । ना० ता० मे उद्धत धामनपूराण

वतन, ईश्वर के द्वारा किया गया, जो उसे अनित्य प्रमाणित कर दे। ईश्वर की अधीनता का यह अर्थ भी नहीं है कि वह नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य में परिवर्तित कर देगा। बल्कि नित्य को नित्य के रूप में एवं अनित्य को अनित्य के रूप में नियमित करना ही उसका उद्देश्य है।^१

गृष्टि के परिवर्तन का भी दो रूपा में पाया जा सकता है। एक तो मूल द्रव्य में अल्पकालिक अथवा स्थायी दृष्टि में, कोई परिवर्तन होता है। (धमिण ताटस्यये सति धममात्र परिवृत्ति)।

दूसरे प्रकार के परिवर्तन में द्रव्य का पूरा स्वरूप ही बदल जाता है। (धमि-स्वरूपस्यैव परिणाम) मध्य पहले प्रकार के परिवर्तन को 'पराधीन विशेषाप्ति' एवं दूसरे को 'अभूत्वा भवनम्' कहते हैं।^२

ज्ञान के विषय के रूप में आने वाले जागतिक कार्यों में अधिकांश दूसरे ही वर्ग के हैं। किंतु कुछ के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण एवं श्रुति आदि भी प्रतिपादित करती हैं, कि वे उक्त परिवर्तन के प्रकारों में प्रथम वर्ग के हैं। इसीलिए उनको नित्य माना गया है। ज्ञान, आकाश, भूत, आत्मा और वेदादि सभी वर्ग में हैं। य अनाद्यत है। किंतु इनका, कर्ता के रूप में ईश्वर से कैसे सम्बन्ध स्थापित हो ? यह सभी ही सकता है जब किसी न किसी रूप में यह ईश्वर से उत्पाद्य मानी जावे। इसी कारण मध्य ने नित्यसृष्टि की मान्यता प्रतिपादित की। नित्यतत्वों का अर्थ धर्मों से युक्त जाना ईश्वराधीन है। ये धर्म द्रव्य की मूल प्रकृति से भिन्न भी हो सकते हैं और अस्मिन् भी। विशेषाप्ति के उदाहरण निम्नलिखित हैं।

नित्यपदार्थ	पदार्थ विशेषाप्ति का स्वरूप
१ चेतनप्रकृति	सिसद्भुत्व व्यक्त विनैव
२ अव्यावृत्ताकाश	मूलधम्बघ
३ प्रकृति	महदादिरूपरा विकृति
४ कालप्रवाह	प्रवाहियजय
५ महदाप्ति	उपचय-अपनमादि प्राप्ति
६ जीव	देहातरति
७ वद	अयबोरकाकत्याविर्भाव

१ जयतीघ— यथा अनित्य घटादिव अनित्यतया नियम्यते, तथा नित्यमपि नित्यात्मना नित्य सबदेवत्वरो नियामयति। " " " न चानित्यता पराधीनति क्वाचिन्नित्यता घटादे प्राप्ता। विनाशकारणोपनिषानध्मोव्यान् तथा नित्यस्य नित्यताया पराधीनत्वमपि, न जात्वनित्यतापत्ति। तन्नियमननियमात्।' यायमुषा, पृष्ठ ३३०

२ हा० बी० एन० के० दार्मि— किलासपी बाबू श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ १५७

पराधीनविशेषाप्ति के इस प्रकरण में विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह द्रव के स्वरूप में किसी प्रकार के अन्तर को उपस्थित करने की स्थिति में नहीं है, अपितु केवल 'विशेष' (घम) ही परिवर्तन के रूप में प्राप्त होता है। विशेष्यकारको उत्पन्न न करके विशिष्टाकार को ही उत्पन्न किया जाता है। अपूर्व विशेष यावद् द्रव्यभावी नहीं है। अतः काल आकाश आदि विशेष्यरूप एव पराधीनविशेषाप्ति-सयुक्त विशिष्ट को पूणत अभिन भले ही न कहा जा सके, तो भी उसे पूणत भिन भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके मूल में वह द्रव्य है जिसने अपने स्वरूप को परिवर्तित नहीं किया है। केवल विशेष घम की प्राप्ति ही की है। इस प्रकार इन तत्त्वों की सृष्टि को मूल द्रव्य से भिन्नाभिन कहा जा सकता है।^१ इस प्रकार अपूर्वविशेष के कारण उत्पन्न विशिष्ट आकार को अपने स्वरूप से अभिन होने के कारण उस उन मूल तत्वों का उपजन ही मानना चाहिए।^२ इस विशेष के उपजन का कारण ईश्वर है अतः ईश्वर उनकी सृष्टि का कारण है।

नित्य तत्वों के कारण के रूप में ईश्वर की मायता न कतिपय विद्वानों को भ्रम में डाल दिया। उनके अनुसार ईश्वर को नित्य-तत्त्व का कारण मानने पर प्रकाश आत्मा आदि सभी तत्व उत्पाद्यग्रहीत होंगे। उत्पाद्य होने के कारण वे नित्य भी नहीं होंगे। इस प्रकार का निष्कर्ष मध्व मत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण एव आत्म विरुद्ध कथन होगा।^३

इस प्रकार की विचारधारा वाले विद्वान आकाशादि की उत्पाद्यता घटानि की उत्पाद्यता के समान मानते हैं। परिणामतः वे निष्कर्ष में काय की अनित्यता को भी स्वीकार करते हैं किन्तु ये विद्वान मध्व मत के दार्शनिक आकलन में झगड़युक्त हैं क्योंकि उन्हें देखना चाहिए कि पराधीन विशेषाप्ति में 'उत्पाद्यता किस रूप की है?' क्या वह धार्मिकस्वरूप परिवर्तन के समान है? अथवा केवल नवीन वैशिष्ट्य के प्रति पादन के समान? यह ध्यान में रखने पर भ्रम के लिए अवकाश ही नहीं रहता नित्य पदार्थों की उत्पत्ति मानने पर उत्पत्ति का अभिप्राय विशेष घम से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त दूसरा कोई माग नहीं रहता।

द्वैत मत में जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का सिद्धांत साङ्ख्यानुवर्ती है। अपने समय में महाभारत भागवत तथा अन्य पुराणों से उद्धरण प्रस्तुत किये गए हैं। पाचरात्र संहिताओं का भी उपयोग मध्व ने बहुत किया है।^४

१ जयतीर्थ— तत्त्वविवेक टीका पृष्ठ ५

२ जयतीर्थ— अपूर्व विशेषोपजनने हि विशिष्टाकारोपजनोऽवश्यम्भावी। विशिष्टाकारश्च वस्तुस्वरूपभिन्न इति तस्यैवासाधुपजनो भवति। गायसुधा पृष्ठ ४३१

३ श्री एच० एन० राघवेन्द्राचार्य— द्वैत फिलासफी एण्ड इटस प्लेस इन वेदांत। पृष्ठ २१७

४ मध्वविजय ८।४

जगत तत्व

माय वरेणिक के परमाणुजय आरम्भवाद की अपेक्षा मध्व ने प्रकृति से सृष्टि प्रक्रिया का होना स्वीकार किया है। मूल तत्व से भौतिक सृष्टि की मायता को उसने स्थान दिया है। मूल वस्तु में भले ही स्थूल भूता के रूप में विकार होता रहे, किंतु वह तत्व तो मूलत रहता ही है। उससे इन कार्यों के भौतिक विषयत्व को भी स्थिरता प्राप्त होती है।^१ व भिन भि ७ परिणाम युक्त प्रकृति की सत्ता स्वीकार करते हैं। प्रकृति की मिद्धि तर्काश्रित न हाकर उपनिषद् प्रनिपाद्य है। यह अनादि प्रथम है। सूक्ष्म महाभूत के नाम से पुकारी जाती है।^२

प्रकृति ही प्रत्यक्षाप्रत्यक्षतया जगत् सृष्टि की कारण है। प्रत्यक्ष यह काल एव सत रज-तम गुणा की कारण है। महत् अहंकार आदि की अप्रत्यक्ष कारण है। यह नित्य और व्यापि है। वह सीमित नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ में ही त्रिगुण एक निश्चित अनुपात में विभाजित होकर^३ इन तीनों का पारस्परिक सषय चौबीस (२४) तत्वा की सृष्टि करता है। महत् अहंकार, बुद्धि मन, दशोद्भयसमुदाय, पाच ईद्रिय विषय एव पाच स्थूलमहाभूत। महत् प्रकृति की प्रथम एव ज्येष्ठ महत्त्वपूर्ण कृति है। अहंकार वकारिक तजस एव तामस इन तीन रूपा में विभाजित है। तजस अहंकार स दम ईन्द्रिया एव तामस अहंकार स महाभूत उत्पन्न हुए। प्रकृति के इन चौबीस तत्वा से ब्रह्माण्ड बना है। ये सभी तत्व मध्व ने तत्तदभिमानी देवताओं से सम्बद्ध माने हैं। ईश्वर या ब्रह्म इन सबके मूल में परमाधार के रूप में है। वही विविध शक्तियाँ को प्रबोधित करत हुए सम्पूर्ण श्रियाओं को सम्पादित करता है।^४ श्री, भू एव दुर्गा इन तीन रूपा से नियमित त्रिगुण अपना काम सम्पादन करत ह। सृष्टि का काल तब के काल का आठवा भाग माना गया है।^५ सभी तत्वा के अपने कारण भूत तत्व में विलीन होने को तय कहा जाता है। यही स्थिति तत्त्वभिमानी देवा की भी है। सृष्टि प्रक्रिया के साम्य सम्मत रूप को, प्राय स्वीकार कर उन के उपरांत स्वभावत मध्व ने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम जयवा विवत नहीं माना है।

- १ जयतीर्थ—तत्रैव हि वस्तु अवयवोपचयापचयाभ्यामयथा विक्रियत न पुनरय-
देव भवतीति परिणामवादिनो मयत । अत प्रत्यक्षभोग्यपु स्ववस्तुपु
प्रत्यभिज्ञया म्भिरस्वपह्ण युक्तमेव । 'यायमुधा, पृष्ठ ३६४
- २ जयतीर्थ—अनादेरपादानस्य भूतसूक्ष्मदादाभिधेयस्य प्रथानत्वान् । यायमुधा
पृष्ठ ३६०

३ मध्व—भा० ता०, पृष्ठ २४

४ वही—तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छब्दानी प्रबोधयन् ।
एव एव महाशक्ति कुर्वते सर्वमजसा ॥ ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।३

५ यही—तदस्य स्वष्टनी भाग सृष्टिकाल उदाहृत । भा० ता०, पृष्ठ ७१

परिणामवादा का आधार है कि ब्रह्म ही प्रारम्भ म था । उस समय अथ काई तत्व स्थित नहीं था । ब्रह्म के द्वारा अनुत्पन्न कोई भी तत्व नहीं है । ब्रह्म ही उद्बेच्छा से इस जगत् के रूप में स्वत को उत्पन्न कर लेता है ।

ब्रह्मपरिणामवाद का मान लेने पर जगत् क दुःख कष्टादि को भी उसी का परिणाम मानना हीमा ? ऐसी दशा में प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने परिणामन करत समय यह सब क्या उत्सृष्ट किए ? माथ ही ईश्वर का यह परिवर्तित रूप उसका स्वभाव होगा अथवा उसका परिणमित रूप ? यदि कारण चेतन है तो उसका विकार अचेतन रूप में कस प्राप्त हुआ ? उस भी चेतन होना चाहिए था क्याकि अचेतन का विकार कभी भी चेतन नहीं हाता ।^१ मध्व ने भास्करादि परिणामवादी गार्थ्या का मत अस्वीकार कर दिया है । शुद्ध चेतन क इस प्रकार क परिणामन को किसी भी श्रुति क द्वारा सगत नहीं बनाया जा सकेगा । श्रुति न कही भी स्पष्टत यह प्रतिपा न्ति नहा कि या कि चेतन अचेतन बन जाता है । ब्रह्म के जीव बन जाने के बाद भी, श्रुति म उसे जशरश शुद्ध ही कहा गया है । मूल कारण म परिवर्तन रूप धर्मों की कल्पना किए बिना काय सिद्धि के अभाव म मूल कारण मानना भी सम्भव नहीं होगा । वे परिवर्तन (जडत्वात्) मूल कारण म स्थित माने नहीं जा सकते ।

ब्रह्म परिणामवादा के समथन म कस नख के वधन एव बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था के बुद्धिगत परिवर्तन को उदाहरण के रूप म प्रस्तुत किया गया है । व चेतन के विकार है जीर अचेतन हैं किन्तु केन, नख एव शरीर वृद्धि जादि सभी शरीर की ही सृष्टि है न कि जीवात्मा का । जीवात्मा का उससे किसी प्रकार का काय कारण भाव सम्बन्ध नहीं है । युवा एव वृद्धावस्था म उपलभ्य बुद्धि वृद्धि यादि वृद्धिगत शरार क ही धर्म हैं । आत्मा की अस्थिति मात्र यहां अपेक्षित है । बुद्धि की वृद्धि म आत्मा उपादान के रूप म हो यह सम्भव नहीं है । प्रोक्त उपा हरणा के आधार पर ब्रह्म परिणामवाद्याों को स्वीकार करना चाहिए कि ब्रह्म का भौतिक भाग भौतिक जगत् का उपादान बनता है एव उसका चिन् भाग क्रियाशील होने के कारण क्रिया का सम्पादन करता है ; किन्तु इसका भी अतत परिणाम केवल निमित्त कारणवादम ही होगा क्याकि भौतिक उपादान क रूप म ब्रह्म को मानना सम्भव नहीं हागा जीर केवल चिन् तत्व जो निमित्त कारण है वही ब्रह्म के रूप म ग्रहीत होगा ।^२ कोई भी परिणामवादी शुद्ध प्रकृति स्वत य रूप से नहीं मानत है

१ मध्व—न चेतनविकार म्याद्यत्र क्वचिद् ह्यचेतनम ।

नाचतनविकाराऽपि चेतन स्यात्कदाचन ॥ अनुयाय्यान पृष्ठ १०

२ वही—भागेन परिणामचेत् भागयामेत् एव हि ।

यो भागो न विकारी स्यात्स एवास्माकमीश्वर । अनुयाय्यान पृ० १३

त्रिते साहित्यिक एवं आलंकारिक प्रयोग म ब्रह्म का 'गरीर' कहा जा सके। जीव के अतिरिक्त जगत् को भी ब्रह्म का परिणाम मानने वाला वेदात्तानुयायी विचारक मारक ही है।

रामानुज जगत् के कारण के रूप में ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान स्वीकार करते हैं। उसके मत म प्रकृति और उसके परिणाम हैं, किंतु उनकी स्थिति परम-पुरुष क शरीर के रूप म ही है।^१ जयतीथ ने रामानुज के मत की उद्धरणपूर्वक समीक्षा का है।^२ किसी विद्वान् न' प्रकृतिरचे यदि सूत्रा वा व्याख्यान करते हुए ब्रह्म का जगत् के उपादान के रूप में प्रस्तुत किया है। परमसूत्रम जचित् शरीरयुक्त ब्रह्म है। ब्रह्म स जयिष्ठित प्रधान जगत् का उपादान है। इस प्रकार इस मत में ब्रह्म का ही जगत् का उपादान स्वीकार किया है। यहा सवथा निर्विकार ब्रह्म की अपेक्षा विकारिप्रधान शरीरयुक्त ब्रह्म को उपादान माना है। यह उपादातत्व प्रधान महकृत ब्रह्म का कारणत्व मध्य मत में भी स्वीकृत है किंतु भास्करादि के द्वारा स्वीकृत उपादानत्व स्वीकार्य नहीं है। इसी का अनुव्याख्यान म निराकरण किया गया है।^३

श्रीरघु आदि अन्य परिणामवादी आचार्यों क अनुसार ब्रह्म की विच्छिन्न जगत् का उपादान कारण है। वह सच्चिदान्दात्मक ब्रह्म ही शक्ति है पर वह

१ रामानुज — न वयमध्यक्त तत्परिणामविशेषाश्च स्वरूपतो नाभ्युपगच्छाम ।

यपितु परमपुरुषशरीरतया तदात्मकत्वविरक्षणं । श्रीभाष्य १।४।३

२ जयतीथ — 'अत्र कश्चिन्न प्रकृतिचेत्यादीनि सूत्राणि ब्रह्मणो जगदुपादानतया व्याख्याय सूत्रनात्परमवाह परमसूत्रमाचित्प्रधानशरीर ब्रह्म यो व्यक्ते तिष्ठन् इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धम् । तथा च ब्रह्माधिष्ठित ब्रह्मात्मक प्रधान जगदुपादानमिति ब्रह्मैव जगदुपादानतयागीक्रियत इति । त प्रत्याह उपादानत्वमेवेति । एवं हि वदन्ना पिशुरित्य पृत्रजमनि, जगदुत्पत्तो ब्रह्मणोप्यवधित्वक्षणमेवोपादानत्वमिष्ट स्यात् । तवथा निर्विकारस्य ब्रह्मणो विकारिप्रधानशरीरस्य तदधिष्ठानत्वेनोपादानतया उचितत्वात् । स्वभूत चोपादानत्वं ब्रह्मणारत्मादिरप्यगीकृतमवेति नाशाम्नाक प्रद्वेष ।'

नशरीरकृत चेदुपादानत्व ब्रह्मण वयं तद्भिन्निरात्परणमित्यत्र आह नस्तिनि । सुदृक्च न पश्यन् ब्रह्मणा विद्वात्मना भवो नास्कराद्यगीकृता नास्मात्शरीरगीशियत अनस्तन्निराकरणमुपपन्नमत्र

पापमुपा, पृष्ठ १६७

३ मध्य — उपादानत्वमेवास्य यदुपादानना भवेत् ।

अगीकृत तन्पितृवन्व विद्वात्मना भव ॥ अनुव्याख्यान, पृष्ठ १२

उसके विद्रूप स भिन्न है। जयतीथ ने इस मत को उद्धृत करन हुए स्पष्ट किया 'कि ब्रह्म दो रूपों में पाया जाता है। अनन्त आनन्दात्मक चिदात्मक एव सत्तात्मक। अपने चिदात्मक रूप से वह निमित्त एव सदात्मक रूप से उपादान कारण है। निर्विकार ब्रह्म के उपादानत्व ग्रहण करन में कोई दोष नहीं है बयाकि उपादानत्व चिच्छब्द-वित्त का विषय है। जहाँ चित्त गति युक्त ब्रह्म परिणामी है इसका मान लेने पर किसी प्रकार की युक्ति का विरोध नहीं रहता।' जयतीथ का इससे विरुद्ध तर्क है कि ब्रह्म के सद्भाग से यदि परिणाम और चिद्भाग में निर्विकारित्व स्वीकार किया, तो क्या वे दोनों भाग परस्पर भिन्न अभिन्न अथवा भिन्नाभि न हैं? इसमें स कोई भी विकल्प तक मगत नहीं है। परस्पर रूप में दो वस्तुओं का ग्रहण एव ईश्वर की निमित्त कारण के रूप में स्थिति मध्य को भी माय है।^१

इसके अतिरिक्त शंकर का मत ब्रह्मविवतवात् के नाम से विख्यात है। वस्तुतः यह कोई कारणवाद है ही नहीं। इसमें वायस्व आम्नान केवल आभासमात्र है। जगत का जो कारण—ब्रह्म यहाँ निरूपित है, वह अज्ञान से जागत है। मृत्पिण्ड का उदाहरण मृत् की व्याख्या के हेतु छा योग्य उपनिषद् में दिया गया है किन्तु विवत का वह सम्यक उदाहरण ही नहीं है। मिट्टी के पात्र में तथा मिट्टी में सम्बन्ध की दृष्टि से विवत की स्थिति नहीं है। आरोपितत्व तो एक मृत्पिण्ड का एक मण्डप में भी नहीं है सभी मृत्पिण्ड की क्या वार्ता? युक्ति से यदि समथन की जायशा हो तो अभी समथन के पूर्व—विवादास्पद होने से वह दृष्टान्त नहीं बन सकेगा। दृष्टा न के लिए बुद्धि साम्य आवश्यक है।^२ अतः उक्त दृष्टान्त विवतवाद के अनुकूल नहीं है।

प्रकाशात्मयति के विवरण में ब्रह्म की उपादान कारणता तीन प्रकार से स्पष्ट की गई है। माया स युक्त ब्रह्म जगत का उपादान कारण होता है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया ब्रह्म पर अभिन्न होकर जगत् की उपादान होती है। ब्रह्म उसके माध्यम से जगत का उपादान कारण है। पहले मत में माया और ब्रह्म सम्बन्ध होकर जगत के उपादान कारण हैं। निर्विकार श्रुतिया का इस व्याख्यान से कोई विरोध नहीं होगा। वे श्रुतिवाक्य माया से असम्बद्ध शुद्ध चतय को लक्ष्य करके कही गई हैं। अथ दो प्रसंगा में भी निर्विकार श्रुति माया नामक शक्ति रहित ब्रह्म-परक है अथवा माया नामक माध्यम से रचित ब्रह्म परक है।

किन्तु जयतीथ ने तीनों दृष्टिकोणा का खण्डन किया है। पहले मत के अनुसार जिस प्रकार रस्सी के दो भाग परस्पर मिलकर रस्सी की निमित्त करते हैं

१ जयतीथ—वायसुधा, पृष्ठ २००

२ वही—आरोपितत्व तु एकस्यापि मण्डपस्यैव हि मृत्पिण्ड नास्ति किमुत सवस्य? वायसुधा, पृष्ठ २२६

उसी प्रकार ब्रह्म और माया मिलकर जगत् की सृष्टि करत है। इसके अनुसार जिस प्रकार रस्सी की निर्मिति में दोनों धागे समान योग देते हैं वया उसी प्रकार जगत के प्रति उपादानत्व में ब्रह्म भी उनना ही योग देता है जितनी कि माया? साथ ही जब ब्रह्म उपादान कारण है तब काय में केवल माया के ही गुण वया प्राप्य हैं? ब्रह्म का चेतन त्वादि अप्राप्य क्यों? यह कहना सम्भव नहीं है कि जगत में चित् का भाव मात्र प्राप्य है चिन्तन नहीं इसके अभाव में ब्रह्म का उपादानत्व क्या? साथ ही यदि ब्रह्म जगत का उपादान है तब उसे अनिवचनीय कमे कहा जा सकेगा? क्योंकि यह अनिवचनीयमाया मात्र की मण्डि नहीं है। ब्रह्म भी इसमें समान आधार पर उपादान कारण है। इसी प्रकार अन्य तक भी ब्रह्म की उपादान कारणता का, विरोध प्रतिपादित करते हैं। उपादान को शिवत के अर्थ में स्वीकार करना भी अनुचित है इसलिए कि इस अर्थ में वही भी उसका प्रयोग प्राप्त नहीं होता। कोई भी व्यक्ति पात्र के आभास में भूत्पिण्ड कारण के रूप में उपस्थित नहीं करेगा।

इस प्रकार द्वैत मतानुयायी विद्वान् ब्रह्मोपादानत्व का न मानकर ईश्वर का निमित्त कारण के रूप में स्वीकृत करत हैं। प्रकृति उसके अधीन है एवं वही जगत का उपादान कारण है न कि ईश्वर।^१ जगत ईश्वर से सवधा भिन्न है सत् है। उसका सत्ता प्रामाणिक है। प्रत्यक्ष प्रमाण का उपयोग इस दृष्टि में, होना है। मध्य मत के विद्वान् जगत का अपलाप किसी भी रूप एवं माया में नहीं करना चाहते। उत्पत्ति, स्थिति स्वरूप आदि सभी के विवेचन में तथा उसकी अविच्छेद गत्ता की स्थापना एवं युक्ति समस्त समया के लिए उनकी मण्डि अत्यन्त जागरूक है।

अष्टम अध्याय द्वैत-सम्प्रदाय तथा अन्य मत

मध्य का काल प्रायः सभी विद्वान् तरह-ही सदी ईस्वी मानते हैं। भारतीय दान व विकास में स्वतंत्र आचार्यों का रूप में, विरोध वेदात्त दान में यथार्थतम आचार्य है। मन्त्र न नवीन मत की स्थापना का प्रयास किया है। इस प्रयास में स्वभावतः पूर्ववर्ती वातावरण दार्शनिक एवं धार्मिक प्रभावी रहा होगा। मध्य न पूर्ववर्ती विचारको एवं सम्प्रदाया से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

दार्शनिक विकास की दृष्टि से शंकर का यथार्थत्व बहुत महत्वपूर्ण रहा है। शंकर के पूर्व व्याप्त बौद्ध धर्म एवं दान का महत्वपूर्ण प्रभाव क्रमशः क्षीण होता जा रहा था। शंकर का इस कार्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा। उपनिषद् प्रतिपाद्य दर्शन के प्रति पुनः आस्था की स्थिति प्रबलता के साथ दृष्टिगोचर होने लगी थी। शंकर ने पूर्व विद्वानों के द्वारा स्थापित अर्थ-तत्त्व की सुदृढ़ व्याख्या की। उस तत्त्वार्थीन विचारका का पूरा सहयोग मिला। केवल वेदात्त के ही आचार्यों ने बौद्धों का विरोध किया हो ऐसा नहीं था अपितु अतिसमाध्याय के समर्थक अथवा मता ने भी प्रबल युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। मीमांसा दर्शन के बौद्ध विरोधी विचारों की बहुमाय्य स्थिति की सभी तत्कालीन ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है। कुमारिल की विरोधी कल्प में प्रतिष्ठा अवश्य है। किन्तु सर्वाधिक प्रतिष्ठा शंकर के ही प्रबल तर्कों की रही। एक ओर अभाव के महत्व का प्रतिपादन करने वाले न्यूनवाद का शंकर ने खण्डन किया दूसरी ओर कम की भारतीय मान्यता का प्रतिपादन भी किया। कमवाद की स्थापना ने भारतीय आचार्य पक्ष को स्थिरता प्रदान की। शंकर न दान में एक पारमार्थिक तत्त्व व्याख्यात किया इसमें तर्कमय होना ही मोक्ष माना है।

शंकर के उपरांत कुछ गतात्थ्या तर्क अद्वैत मत बुद्धिजीवियों में सम्पूर्णतः प्राप्त रहा। दान के क्षेत्र की प्रमुख प्रतिभाओं ने इस दर्शन के विकास को और अधिक समर्थ किया। शंकर से रामानुज तक के मध्यवर्ती काल की रचनाओं पर दृष्टिपात करने से उक्त तथ्य और अधिक स्पष्टता के साथ प्रमाणित हो सकता है।

✓ शंकर का विधायक कार्य निगूण श्रुति का आधार पर आस्तिक मत की स्थापना करना

✓ था। इससे अधिक महत्वपूर्ण कार्य निषेधक था कि उन्होंने पूर्ववर्ती अवैदिक मायताओं का निरस्त किया। साथ ही अथवा ब्रह्मण्य मता की निर्मिति का द्वार उमुक्त

किया। भक्ति की प्रमुखता स्वीकार करने वाले परवर्ती काल के मत, गुरु के विरुद्ध ही, अपनी स्थिति निमित्त कर सके।

गुरु का अद्वैत उन उच्च व्यक्तियों को बहुत अधिक काल तक प्रभावित नहीं कर सका, जो जीव और ब्रह्म के पूर्ण तादात्म्य पर अथवा जीव की सत्ता के ही अभाव पर विश्वास नहीं करते थे। ईश्वर का अंतिम तत्व के रूप में मानने की प्रवृत्ति बलिष्ठापा, भक्त एवं भगवान की निरन्तरता एवं पारस्परिक सम्बन्ध की अपेक्षा के कारण गुरु मत से परवर्ती विद्वान् मनुष्य नहीं हो सके। उन सभी साधकों की प्रतिक्रिया के रूप में रामानुज मध्व तथा अय अनय मतों की स्थापना हुई।

रामानुज, मध्व आदि मत वैष्णव-सम्प्रदाय में सम्बद्ध माने जाते हैं। वैष्णव-मत के मध्व के पूर्ववर्ती विकास को संक्षेप में व्याख्यान का विषय बनाना अधुना प्रसंग प्राप्त है।

विष्णु की देवता के रूप में प्रतिष्ठा अयन प्राचीन काल से वैदिक साहित्य से प्राप्त होती है।^१ उसे शून्य का शक्ति भी कहा गया है।^२ उत्तर वैदिककाल में विष्णु की स्थिति और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। वैदिक साहित्य के पूर्वोपर भाग में विष्णु पद का उल्लेख भले ही मिले, किन्तु महाभारत के पूर्व तक वैष्णव सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं प्राप्त होता।^३ महाभारत के उक्त सम्बन्धित भाग का काल यद्यपि निर्दिष्ट नहीं है, तथापि मुद्रा-आदि के उल्लेख के आधार पर पाचवीं सदी ईसवी के पूर्व का समय ग्रहण किया जा सकता है।^४ वैष्णव मत के मूल में भक्ति की भावना थी। यह वैष्णव मत विष्णु के चंद्र प्रतिपादित स्वरूप से मिलता है। भक्ति की मूलतः स्वीकार करके प्रारम्भ, इस मत के विषय में, कतिपय विद्वान् इस विष्णु प्रभाव से प्रभावित आन्दोलन मानते हैं। उनके अनुसार रामानुज ने ही सर्वप्रथम इस आन्दोलन को महत्व दिया अतः इस पर निर्दिष्ट मत के प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।^५ डा० रामचन्द्रराय चौधरी के अनुसार—'अनिलेखों के साक्ष्य से प्रमाणित किया जा सकता है कि भागवत वासुदेव के भक्त थे। इस तथ्य का स्मरण करते हुए 'वासुदेव' के उल्लेख से इस मत का पाणिनी के काल में प्राप्त सिद्ध किया जा सकता है।'^६

१ अष्टावक्र ७।६।२

२ वही १।१५।६

३ महाभारत १।६।६७

४ डा० रामचन्द्रराय चौधरी, अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द वैष्णव सेक्ट, पृष्ठ १८

५ डा० ए० वी० दीक्ष—उत्तम आनन्द राय एगिप्टियन मोनायरी, सन् १९१५

पृष्ठ ८३८

६ डा० रामचन्द्रराय चौधरी—अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ द वैष्णव सेक्ट, पृष्ठ २३

अष्टम अध्याय द्वैत-सम्प्रदाय तथा अन्य मत

मन्व का काल प्रायः सभी विद्वान्तरहवीं सदी ईस्वी मानत हैं। भारतीय दान व शिवायस म स्वतंत्र आचार्यों के रूप में, विगत वेदात्त दान म, य अतिम आचार्य हैं। मन्व न नवीन मत की स्थापना का प्रयास किया है। इस प्रयाम म स्वभावतः पूर्ववर्ती वातावरण दानिक एवं धार्मिक, प्रभावी रहा होगा। मन्व न पूर्ववर्ती विचारकों एवं सम्प्रदायों से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

दानिक विकास की दृष्टि से शंकर का व्यक्तित्व बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। शंकर के पूर्व व्याप्त बौद्ध धर्म एवं दान का महत्त्वपूर्ण प्रभाव क्रमशः क्षीण होता जा रहा था। शंकर का इस कार्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उपनिषद् प्रतिपाद्य दान के प्रति पुनः आस्था की स्थिति प्रबलता के साथ दृष्टिगोचर होने लगी थी। शंकर ने पूर्व विद्वानों के द्वारा स्थापित अद्वैत-तत्त्व की सुदृढ़ व्याख्या की। उस तत्त्व की तीन विचारकों का पूरा सहयोग मिला। केवल वेदात्त के ही आचार्यों ने बौद्धों का विरोध किया हो ऐसा नहीं था अपितु अतिसामान्य के समर्थक अन्य मता ने भी प्रबल युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। मीमांसा दान के बौद्ध विरोधी विचारों की बहुमाय स्थिति की सभी तत्कालीन प्रयत्नकारों ने स्वीकार किया है। कुमारिल की विरोधी रूप में प्रतिष्ठा अवश्य है। किन्तु सर्वाधिक प्रतिष्ठा शंकर के ही प्रबल तर्कों की रही। एक ओर जभाव के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले शून्यवाद का शंकर ने सफाई किया दूसरी ओर कम की भारतीय मायता का प्रतिपादन भी किया। कमवाद की स्थापना ने भारतीय आचार पथ को स्थिरता प्रदान की। शंकर ने दान म एक पारमार्थिक तत्त्व व्याख्यात किया इसमें तमय होना ही मोक्ष माना है।

शंकर के उपरांत कुछ गतां या तत् अद्वैत मत बुद्धिजीवियों में सम्पूर्णतः व्याप्त रहा। दशन के क्षेत्र की प्रमुख प्रतिभाओं ने इस दशन के विकास को और अधिक समृद्ध किया। शंकर से रामानुज तक के मध्यवर्ती काल की रचनाओं पर दृष्टिपात करने से उचित तथ्य और अधिक स्पष्टता का साथ प्रमाणित हो सकता है।

✓ शंकर का विधायक कार्य निगुण श्रुति के आधार पर आस्तिक मत की स्थापना करना था। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य निषेधक था, कि उन्होंने पूर्ववर्ती अवैदिक मायता का निरस्त किया। साथ ही अन्य वर्णव्यवस्था की निमित्त का द्वार उभूत

किया। भक्ति की प्रमुपता स्वीकार करने वाल परवर्ती बाल के मत गहर के विरुद्ध ही अपनी स्थिति निमित्त कर सके।

गहर का अद्वैत उन अस्म्य व्यक्तियों को बहुत अधिक बाल तक प्रभावित नहीं कर सका, जो जीव और ब्रह्म के पूण सादात्म्य पर अथवा जीव की सत्ता के ही अभाव पर, विद्वान् नहीं बन सके। ईश्वर को अंतिम तत्व के रूप में मानने की प्रवृत्ति अभिनाया, भवन एवं भगवान की भि नता एवं पारम्परिक सम्बन्ध की अपक्षा के कारण गहर मन से परवर्ती विद्वान् सन्तुष्ट नहीं हो सके। उन सभी साधका की प्रतिक्रिया के रूप में रामानुज मध्व तथा अय अनक मता की स्थापना हुई।

रामानुज, मध्व आदि मत वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बद्ध माने जाते हैं। वैष्णव-मत के मध्व के पूर्ववर्ती विकास को सक्षेप में व्याख्यान का विषय बनाना अनुना प्रसंग प्राप्त है।

विष्णु की देवता के रूप में प्रतिष्ठा अय न प्राचीन काल से वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है।^१ उस ऋत का गम भी कहा गया है।^२ उत्तर वैदिककाल में विष्णु की स्थिति और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। वैदिक साहित्य के पूर्वार्ध भाग में विष्णु पर का उल्लेख भले ही मिले, किन्तु महाभारत के पूर्व तक वाष्णव सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं प्राप्त होता।^३ महाभारत के उन सन्दर्भित भाग का काव यद्यपि निरदिष्ट नहीं है तथापि मुद्राशा इत्यादि के उल्लेख के आधार पर पाचवीं शती ईसवी के पूर्व का समय ग्रहण किया जा सकता है।^४ यष्णव मत का मूल में भक्ति की भावना थी। यह वाष्णव मत विष्णु का वर प्रतिशान्ति स्वरूप में मित है। भक्ति की मूलतः स्वीकार करके प्रारम्भ, इन मत के विषय में कतिपय विद्वान् इस विष्णु प्रभाव में प्रभावित आन्दोलन मानते हैं। उनमें अनुमार रामानुज ने ही सचप्रथम इन आन्दोलन को महत्व दिया अतः इस पर किशोरियन मत के प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।^५ डा० रामचन्द्राय चौधरी के अनुसार— 'अभिलेखों के साम्य से प्रमाणित किया जा सकता है कि नागवत वामुदेव के भवन में द्रुग तप्य का स्मरण रच्य हुए वामुदेव' के उक्त से कम से कम जो पाणिनी के काल में प्राप्त सिद्ध किया जा सकता है।^६

१ अथर्ववेद ७।६८।३

२ यही १।१५।६।६

३ महाभारत १।५।६।७

४ डा० रामचन्द्र राय चौधरी अर्ली हि इंडी आब ए वल्कन बुक, पृष्ठ १६

५ डा० ए० बी० पी०—'रत्नम आन गणन पितृविक साधकगो, कृ १८६५

६ डा० रामचन्द्र राय चौधरी—'ज्यों विष्णु का नाम वाष्णव मत, पृष्ठ २३

विष्णु एव वासुदेव की अभिनता सूचक सत्रम भगवद्गीता एव अनुगीता क मध्य काल म प्राप्त होने लगने हैं। शक्तिपत्र (४३ वें अध्याय) म भी युधिष्ठिर के द्वारा कृष्ण को उद्दिष्ट व र्णा प्राप्त है। उसम भी कृष्ण और विष्णु को अभिन निरूपित किया गया है। पुराण काल म भी विष्णु को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है साथ ही उसे कृष्ण एव वासुदेव इन अपर अभिधाना स भी पुकारा गया।^१ अत वष्णव मत एव उसम प्राप्त भक्ति तत्व त्रिदिचयन घम के प्रभाव स प्रभावित नही है। उसका भारतीय उद्गम है। प्राचीन साहित्य म असंख्य मन्त्र इसके प्रमाणी करण क हेतु प्राप्त किए जा सकते हैं।

भगवद्गीता क उपरांत प्राप्त होने वान पाचरात्र साहित्य म वष्णव मत की उपलब्धि तो समान रूप स होती है कि तु भगवद्गीता और पाचरात्र सम्प्रदाय में भक्ति की हा समानता है। इस भागवत सम्प्रदाय भी कहा गया है। इसका उप जी व साहित्य पाचरात्र सहिताए हैं। इनको आधार बनाकर ही परवर्ती वष्णव मताने अपनी स्थापनाए की।

दक्षिण भारत में द्रविड सभो मे विष्णुभक्ति का प्रचार ईसा की जाठवी गता शी क उपरांत होता है। आल्वारसता क तमिलभाषा म लिख गए ऋषय राधा म विष्णु के प्रति प्रबल भक्ति का उल्लेख मिलता है। रामानुज को इही सन्ता से बहुत अधिक माना म प्रेरणा प्राप्त हुई। इस वष्णव सम्प्रदाय की विकास-शील सम्पूर्ण परम्परा ने शहर क ग्रह्य विवचन क स्थान पर सगुण भक्ति परव मतों की स्थापना का समय प्रेरणा प्रदान की।

य सभी वष्णव जाचाय उक्त पृष्ठ भूमि पर कतिपय समान आधार पर स्थित थ। सभी जाचाय कवन श्रुति को जात्यतिक प्रमाण नही मानते। वष्णव सम्प्रदाय म मायता प्राप्त वचना रचनाजा का आधिकारिक रूप म उपयोग भी किया है। उगाहरणत पाचरात्र संहिताजा का उपयोग रामानुज, स्र्वादि सभी आचायों न किया है। विष्णु ही आराध्य एव परमदेव है। अतारा की मायता क द्वारा अनन्त मत मता त्राको एक ही सम्प्रदाय स सम्बद्ध मानकर, अवतारा की प्रतिष्ठा सभी मतों म स्वीकार की गई।

विचार एव प्रवहार शोना ही क्षेत्रो म प्रचलित कतिपय आदातना क कारण प्रतिश्रिया और यथस्थित स्थापन की दृष्टि स नवीन मतों के स्थापित हान की तात्कालिक अपेक्षा थी। दक्षिणभारत म आल्वार सता क भावनाशील प्रभाव क कारण उसने समयन म व्यवस्थित विचार क्रम की स्थापना का, एव शकर के अद्वय

१ डा० आर जी० भण्डारकर, वष्णुविज्ञान, गवित्तम एण्ड जन्डर माइन्डर रिलीजम मिस्ट्रस, पृष्ठ ४९

ब्रह्म के निषेध की अनिवायता का अनुभव करके मध्व ने नवीन मत की स्थापना की रामानुज सम्प्रदायिक बग की स्थापना को दृष्टि से वैष्णव सम्प्रदाय से बहुत अधिक प्रभावित था। दूसरी ओर शंकर के अद्वयवाद के प्रति भी उनके मन में प्रतिक्रिया आगरूक थी। शंकर न, भले ही व्यवहार में वह किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो, दंगल के साथ किसी सम्प्रदाय का समावेश नहीं किया। रामानुज ने सम्प्रदाय एवं दंगल दोनों को समान स्थिति प्रदान करते हुए विगिल्पाद्वैत दर्शन एवं श्री वैष्णव सम्प्रदाय का स्थिर किया।

शंकर के द्वारा निगुण-श्रुतियों को दिया गया अत्यन्त महत्व किसी वैष्णव विचारक की अनुकूल प्रतीत नहीं हुआ। श्रुति में सगुण श्रुतियाँ भी प्राप्त हैं। उनमें ईश्वर के अनेक गुणों की स्थिति का साथ साकारता भी प्रतिपादित है। क्या सगुणानु-प्रतिपालक श्रुति-वाक्य उपलब्धीय वगैरे हैं? यदि उपस्था करने योग्य नहीं हैं तो फिर उनका सम्यक् समाधान एवं महत्व ग्रहण शंकराचार्य न वगैरे नहीं किया? इसी प्रकार का आशेष उन श्रुतियों के गणन-याम्यन के प्रति किया जा सकता है, जिनमें एक तत्त्व से भिन्न अनेक तत्त्वों की प्रतिष्ठा सूचक यह है। शंकर ऐसे प्रसंगों में अनेक-प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों को अनेक तत्त्वों की प्रतिष्ठा सिद्ध करने वाले वाक्यों में, श्रेष्ठ मानते हैं।

शंकर का पर एवं अपर ब्रह्म का व्याख्यान भी विवादास्पद था। बिना ईश्वर की पूजा एवं मत्तम प्रतिष्ठा किए वास्तविक-दंगल की स्थापना ही कैसे हो सकती है? प्राकृतिक गतिविधियों में भी देवत्व को आरोपित करने वाली वास्तविकता परम्परा को जो चाक जीवन के विश्वासा से निकट से सम्बद्ध थी, ईश्वर की स्थिति आभासमान मायाश्रित मानना कम और कब तक सम्भव हो सकता था? ईश्वर तत्त्व ही जब आत्यन्तिक नष्ट रहा वह अविद्यावृत्त हुआ गया, तब शरणागति, प्रवृत्ति आदि उम अविद्या निर्मित तत्त्वों के प्रति फाई भवन क्या भविष्य समर्पित कर सकता था। परिणामतः मूल-तत्त्व का रूप में तो ब्रह्म ही ही स्थिति रहे किन्तु उमकी मगुणता एवं मगुणरूप में उमकी आत्यन्तिकता ही वास्तविक थी। जीव की स्थिति भी शंकर मन के अद्वयवाद बहुत दृष्टनीय थी। जब तक अज्ञान है तभी तब उमकी सत्ता रहनी जते ही अज्ञान निरोधित हुआ वस ही उमकी सत्ता भी समाप्त हो गई। एतौ दंगल में कौन जीव शराराधन में तत्पर होगा? अविद्या का एक मात्र मोक्ष-माध्यम स्थापित करने का उपाय मत्तम में जीव की मायाश्रय स्थिति में शक्ति ही उपाय है। यदि ब्रह्म का अतिरिक्त समाधि मिथ्या है तब तो शक्ति अज्ञान मत्तम का उपाय ही निष्ठा जा सकती। शक्ति का कोई श्रेष्ठ ही नहीं उपाय।

इन सब कारणों से रामानुज सम्प्रदायिक विचारक ने शंकर के विरुद्ध नए

मता की स्थापना की। रामानुज म उक्त सभी विरोधा का परिहार यथासम्भव प्राप्त होता है। रामानुज मत भी आस्तिक सम्प्रदायों की अधिक सतुष्ट नहा कर मका। ब्रह्म व शंकर भिन्न आख्यान म जो विरोध दृष्टिगोचर हा रहा था उसका समाधान रामानुज का विशिष्टाद्वत नही हो सकता था। रामानुज की अभिलाषा, सम्भवत द्वत एव अद्वत के अंतर को समाहित करने की थी। उसी के परिणाम स्वरूप वह ब्रह्म की अद्वय स्थिति मे है। प्रतीयमान भेद का समाधान वह उसकी विगिष्टता के द्वारा करते हैं। रामानुज का ब्रह्म कोई समूह नही है। वह तो ऐसा एक आकार है जिसमे चेतन एव जड दोनो ही तत्व स्थित हैं। एक ही साकार तत्व में परस्पर विरुद्ध तत्व कैसे रह सकते हैं ?

यदि रामानुज से जिज्ञासा की जाए कि क्या जीव एव जडतत्व ब्रह्म से भिन्न है, अथवा अभिन्न ? रामानुज मत के अनुसार इनका पारस्परिक सम्बन्ध भिन्नाभिन्न होगा। यह भिन्नाभिन्नता, युक्ति-मूकक विचार करने पर, स्वय ही जसिद्ध प्रमाणित होगी। विचार करने पर यही प्राप्त होता है कि कोई वस्तु किसी से या तो भिन्न हो सकती है, अथवा अभिन्न। यदि जीव और जड को ब्रह्म से अभिन्न माना गया तब शंकर मत ही प्राप्त होगा। यदि भिन्न माना जाये तो मध्य मत। मध्य म स्थित भिन्नाभिन्नता पर आधारित मत न तो दयान म आद्यवादी मायता का समर्थन कर पाता है और न यथापरकता का। भक्ति की भी सायकता सभी हो पावेगी जब आराध्य उससे सबथा भिन्न हो। किसी भी रूप मे अभिन्नता भक्ति की मायता का हनन कर देगी।

मोक्ष के साधन के रूप म रामानुज यद्यपि प्रपत्ति को भी स्वीकार करते हैं कि तु गान और कम का भी मोक्ष प्राप्ति म उपयोग है। आत्मार सत्ता के प्रत्यक्ष एव ब्रह्म सम्प्रदाय की भक्तिविषयिणी मूल आस्था भी शंकर व रामानुज पर व्याप्त प्रचलन प्रभाव को न रोके सभी, अथवा गान को भक्ति के समवक्ष महत्व प्रदान करा की तत्परता रामानुज म कहा मे आई ? मध्य ने भक्ति की प्रतिष्ठा के प्रति सजग रहने हुए उपनिषद् गीता एव ब्रह्म सूत्र के भाष्य एव अथ श्रिया के द्वारा अपने मत की स्थापना की।

ब्रह्म सम्प्रदाय से विष्णु उसके जननार, भक्ति आदि को ग्रहण करके, शंकर एव रामानुज के विगुद्ध जडनपरक अथवा अद्वतो मुग्य दृष्टिकोण के प्रति अपनी अमूर्तनि ध्वन करत हुए मध्य ने श्चोन मत की स्थापना की। शंकर और रामानुज का अंतर जीव और जगत् की सापक्षिण सत्ता की स्वीकृति पर आधारित है। मध्य रामानुज के दृष्टिकोण को यद्यपि प्राथमिक पा क्षेपा क रूप म ग्राह्य मान सतत ये तो भी उमते सम्मूणन व सहमत न हो सके। इस अराह्यमति के मूल म

उनकी भेद की या अनिवार्यता के प्रति गंजयता ही थी। इनीतिए भेद की स्थापना के लिए मध्य न बखल वृत्त-सवरूप है अपितु पांच प्रकार के भेदों का भी दृढ़ता से प्रतिपादन करते हैं। य परस्पर भिन्न तीन तत्व—ईश्वर जीव एव जड वास्तविक हैं। सत्ता की दृष्टि से वे कभी भी छाय के पात्र नहीं होते। उनकी सत्ता के वास्तव होने का कारण ही उनका पारस्परिक अन्वयत्व है।

इसके अनिश्चित ईश्वर के प्रति जो दृष्टि किसी पूज्य ज्ञानिन विचारक की हो सकती थी, वह रामानुज की नहीं थी। मध्य उ रामानुज के परवर्ती अय वृत्त सम्प्रदाय निम्बार्क, बल्लभ आदि से प्रेरणा प्राप्त करन हुए विष्णु की सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित की। ईश का स्वरूप तभी साम्य है, जब कोई अय तत्व उसके अनिश्चित हों जिनका वह स्वामी हो। जीव और जड की वृत्त सत्ता माने बिना हरि की पूजना भी प्रतिपादित नही हो सकेगी। ईश्वर तत्व के प्रति वृत्तव-सम्प्रदाय में पूर्वप्रचारित इस धारणा को चाहने हुए भी, रामानुज निम्बार्क, बल्लभ अधिक प्रथम नहीं दे पाये। मध्य को भी इस सन्तान में कोई न कोई निष्पन्न लेना था। अपने पूज्य के विचारप्रथा को सामने रखकर मध्य ने अपनी धारणाएँ स्थिर की।

रामानुज भी वृत्तव सम्प्रदाय के समयक आचार्य हैं। रामानुज ने विष्णु की अवतार एवं भक्ति आदि अनेक अनिश्चित तत्वों का उपयोग वृत्तवमत से ग्रहण करके अपने ज्ञान में किया। यही स्थिति थोड़ा थोड़ा अन्तर ग्रहण करते हुए निम्बार्क, बल्लभ आदि की है। परिणामतः मध्य ने इन सभी को एक ही भाग का अनुयायी माना। वह भी उसी पथ का अनुवर्ती था, किन्तु उसने भेदानुभूत को प्रत्यक्षशक्त के विरुद्ध किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं किया।

भेद मायता की इस प्रसरता के कारण ही यह स्वीकार करना पड़ता है, कि मध्य के मत का प्रारम्भ प्रतिक्रिया स्वरूप था किन्तु कालक्रमानुसार विचार करने पर पता होता है कि यह मध्य की कोई सवया प्रथम एव नवीन प्रतिक्रिया नहीं थी। रामानुज निम्बार्क, बल्लभ आदि उसके पूर्व ही गहरा व विरुद्ध विचार प्रतिपादन में प्रवृत्त हो चुके थे। उनकी प्रतिक्रियायें कालक्रमानुसार ता प्रथम थी ही, साथ ही गुंठ अद्वैत विरागी दृष्टिकोण भी ये विचारक स्पष्ट कर चुके थे, जिस मन्त्र ने आगे बढ़ाया। सम्भवतः मध्य भी इस तथ्य से अवगत थे। तभी उन्होंने रामानुज का विशेष नहीं किया। मध्य के उपरांत सम्भवतः सोलहवीं शताब्दी में रामानुज एव मध्य सम्प्रदाय के विचारका का प्रबल विरोध बढ़ चला था। परकाल यति ने विजयीन्द्र पराजय नामक ग्रन्थ की रचना की, जो उन मायता के समर्थन

१ डा० एम० एम० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, भाग ४, पृष्ठ ६५

के लिए विचार्य है ।

द्वैतवादी सम्प्रदाय के अनुकरणधर्मा होने के कारण रामानुज एव मध्व की समानता का उल्लेख अभी किया गया । सामान्यतः उनके मत की विभिन्नता की ओर भी संकेत किया गया । मध्व का अर्थ मता सं महत्त्वपूर्ण आनन्द मोक्षावस्था का आनन्द भोग है । मध्व मानते हैं कि मोक्षावस्था में आनन्द के अनुभव करने वाले जीवा के आनन्दभोग में अंतर है । ईश्वर जिस प्रकार स जितनी मात्रा में आनन्द का अनुभव करता है जीव उस तरहसे नहीं कर सकता । जीवों की एव ईश्वर की क्षमता में अंतर है । उसी प्रकार स जीवा की परस्पर भी क्षमताएँ सदृश नहीं हैं । जिसमें जितनी सामर्थ्य होगी वह उतना ही आनन्द भोग कर पायगा । यह मध्व की आनन्दतारतम्य की मायता है । परधर्ती रामानुज विचारक परकालपति न विजयी द्र पराजय के प्रथम दो अध्यायों में इसका विस्तार से खण्डन किया है ।

द्वैतवादी सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती मता स मध्व ने ग्रहण एव त्याग दोनों प्रकार की वृत्ति का परिचय दिया है । इसी प्रकार अर्थ दर्शन प्रणालियाँ स मध्व ने बहुत कुछ ग्रहण किया । चार्वाक मत का भारतीय दर्शन के संपूर्ण विकास में धीरे विरोध किया गया है । इस विरोध के दो मूल आधार रहे हैं । एक तो चार्वाक का भौतिक सुख के प्रति प्रबल जाग्रह तथा दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रति सुदृढतम आस्था । मध्व ने इसकी नास्तिकता एव देहात्मवाद का खण्डन किया कि तु प्रत्यक्ष प्रमाण की सर्वांश यथापूर्ण प्रामाणिकतर मध्व द्वारा स्वीकार की गई । मध्व साक्षि की स्थिति को बलपूर्वक प्रतिष्ठित करते हुए प्रत्यक्ष को ही सभी प्रकार के ज्ञान का आधार मानते हैं । अर्थ विचारका की तरह चार्वाक की सुखवादी मनावृत्ति का विरोध न करते हुए मध्व ने अपने कम भोगादि करने के लिए प्रेरित किया है । इस प्रेरणा में वधन केवल एक ही प्रकार का है वह है कि ईश्वर के चरणों में दिनभर श्रद्धा रखते हुए ही उन्नत काय में सलग्न रहना चाहिए ।

अपने तत्त्व विवचन में वषण के स्वरूप को महत्त्व देते हुए मन्व में मीमांसा मत के प्रभाव को ही यकन किया है । श्रुति के मीमांसा सम्मन स्वतः प्रामाण्य को मानते हुए भी वे समस्त श्रुतियाँ काके द्र ईश्वर को ही स्वीकार करते हैं । सभी कम यथाऽऽ हरिनिमित्तं ही होना चाहिए ।

जैन एव बौद्ध धर्मों की अहिंसा का प्रभाव भी मन्व पर पड़ा । यज्ञ में पशु की हिंसा के स्थान पर आटेस निर्मित पशु का यज्ञ में उपयोग मन्व ने प्रचलित किया । मध्व विजयम इस प्रकार के यज्ञ के किए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । सम्भवतः ब्राह्मण धर्म में सुधार की दृष्टि में मन्व ने इसका प्रवर्तन जैन प्रभाव के ही कारण

दिया हो। दक्षिण कानड में उस समय जन धर्म का मग्वत प्रभाव था। बारहवीं एवं सरहवीं सदी ईस्वी में यह भाग जिसी जैन शासक के अधीन था। जैन दर्शन से प्रमाण मीमांसा एवं तत्त्व मीमांसा की दृष्टि से मग्व में अनेक समानताएँ प्राप्त हैं। जाति एवं आत्मा की प्रत्यक्ष प्रमाण विषयता, जो अद्वैत विरुद्ध है सम्बन्धी विचार दोनों मतों में समान रूप से प्राप्य हैं। जैन दर्शन के मत पर्याय एवं केवल ज्ञान मध्य के यागि प्रत्यक्ष एवं केवल प्रमाण के समकक्ष है। ज्ञान में जाता ज्ञप एवं ज्ञान की त्रिपुटी या जात होना उभय मत माय है।

जैन दर्शन के मुख्य सिद्धांत स्याद्वाद का मूल आधार वस्तु का अनंत धर्मात्मक होना है। वस्तु के दृढ़ रूप का न जानने के कारण प्रत्यक्ष के स्वरूप में भी सत्प्रसंगित्व है सद्विभवा, इदमेतद् की निश्चयायक प्रतीति में सिद्ध है। वस्तु का स्वरूप ही एसा है कि उसमें धर्मों का आन्तर्य है। इसी पर जन-ज्ञान का अयत महत्वपूर्ण विज्ञान एवं मायताएँ आधारित हैं। मुख्य ने भाँ जैन दर्शन के प्रभाव के कारण वस्तु में असंख्य विशेषों की मायता को स्थान दिया। ये विशेष ही वस्तु की विविध रूपों में दृश्य गताने हैं। वस्तु को सम्भावित विविध रूपों में देख पाना इन्हीं विशेषों पर आधारित है। वस्तु जैन मत में धर्मात्मक मानी गई है वस ही मध्य भी वस्तु से धर्म को जन्म न मानत है। जीव और जजीव के भेद का भी मध्य न स्वीकार ही किया है। सम्पूर्ण जगत् में जीवा का पाया जाना जैन दर्शन न स्वीकार किया है वही मध्य की भी मायता है।^{१२}

मीमांसकों में असहमत हात हुए मध्य, जगत् के काल मापका मूजन एवं विलय का मानत है। प्राभाकरों के समान भ्रान्ति के निरा 'अभ्यागिनिमवनिर्तमत्यापाति जैमे भ्रमोत्पादक एषा का प्रयोग न करके सृज्य बोध्य पदा का प्रयोग करत हैं। भ्रम के विषय को नयायिकों के समान अयं मत न कहने हुए भी उसकी सत्ता के प्रति मध्य आग्रह हैं। अधिष्ठान एवं भ्रम विषय इन दोनों की स्थिति नितांत आवश्यक मध्य न मानी है। अतः स्वप्न एवं माया-जगत् त्रिषया के अयत्न होने के कारण उनके सम्बन्ध में भ्रम के उत्पन्न होने का प्रदन ही नहीं उठता।^{१३}

पूर्वमीमांसा द्वारा श्रुति के अर्थ के सम्बन्ध में संप्रत्यक्ष प्राबन्ध को स्वीकार न करते हुए उपसंहारप्राबन्ध को ही और अरिह सम्पुष्टि के माय प्रतिपादित किया

१ डा० बी० एन० ए० दामा—फिनासफी जाव श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ १२

२ मग्व परमाणुप्रदण्ड ह्यमन्ता प्राणिरागय । विष्णु तत्र निणय, पृष्ठ ७६

३ यही—अधिष्ठान धर्म मग्व मत्पवस्तुद्वय विना।

न भ्रातिभवनि क्वापि स्वप्नमायादिकत्वनि । पृष्ठ ४५

है।^१

‘यायवशेषिक’ की पदाय भीमासा को प्राय मध्व न सम्पूर्णात् स्वीकार करके अपने द्वारा प्रतिपादित भी अथ अनेक पदार्थों को स्थान दिया है। पदार्थों के मूल व्याख्यान एव अवान्तर वर्गीकरण की दृष्टि से मध्व ने भीमासा एव ‘यायवशेषिक’ का उपयोग किया है। परिभाषाएँ भी अनेक जगह की ल्यो स्वीकार कर ली हैं। इस तथ्य को तत्त्व विवेचन से सम्बन्धित अध्याय स प्रमाणित किया जा सकता है।

वेदात्-सम्प्रदाय के अन्तगत साक्षि, स्वप्रकाशकत्व, भावरूपानान माया, प्रतिबिम्ब आदि पर मध्व ने नवीन सामग्री दी है। अपने मत की यथाथपरकता के आधार पर मध्व ने उक्त सभी धारणाओं को अपने मत में नवीन ढंग से प्रतिष्ठित किया। स्वतंत्र परतन साक्षि भेद सविशेषाभिन्न अथवा घमिस्वरूप में प्राप्त, स्वरूप तारतम्य आदि की पृथक विवेचना मध्व ने की है। इन सभी विवेचन प्रसंगा को भक्ति के आधार के रूप में ग्रहण करते हुए सुनियोजित करने के लिए द्वत मत की स्थापना हुई।

कुत्र विद्वाना के अनुसार बौद्धों का बौद्ध विरोध सहनशीलता की सीमा पार कर चुका था, अतः शंकर को बौद्ध-दशन के विरोध के कारण प्रतिष्ठा मिल सकी। मध्व ने शंकर के सिद्धान्तों में ‘याप्त प्रच्छन्न’ बौद्धता को स्पष्ट करके, बुद्ध दशन के वास्तविक विरोधी मत के नाते अपनी स्थिति प्रतिपादित की।^२

इस प्रकार की धारणा आग्रहपूर्ण है। शंकर को प्रतिष्ठा केवल विरोध प्रारम्भ कर देने मात्र से नहीं मिली। विरोध तो कुमारिल भट्ट ने भी किया था। भारतीय दशन के अथ आस्तिक सम्प्रदाया ने भी किया था। शंकर को ही इतनी प्रतिष्ठा क्या मिली? इसमें सिद्ध होता है कि विरोध उनके प्रभाव को बद्धिगत करने के लिए सहायक अवश्य रहा किन्तु उसके अतिरिक्त भी शंकर के व्यक्तित्व एव कृतित्व में अथ भी महत्वपूर्ण विनोपताएँ रही होगी। मध्व का भी महत्व शंकर को विनोप मत का अनुकरणकर्ता मात्र प्रमाणित कर देने में नहीं है। वह तो भेद के आधार पर ईश्वर जीव एव जड तत्व की यथाथपरक व्याख्या करने के कारण ही माय है। भारतीय दशन के आदवादी विचार की यथाथवादी प्रतिक्रिया के पर्याय के रूप में स्थित होने के कारण मध्व की महत्ता है। अतः मध्व मत की स्थापना शंकर के विरोध एव अणव सम्प्रदाय के विश्वास के अनुरोध पर आधारित है। इसको मध्व ने अपनी दृष्टि से उपस्थित कर दिया है।

१ डा० धी० एन० क० गमा—हिस्ट्री ऑफ़ द्वत स्कूल अथ वेदात् एण्ड इटम लिटरेचर भाग दो, पृष्ठ २४, २६

२ डा० नागराज गमा—रत जाव रियलिज्म इन इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ ७

मध्व मत की स्थापना के उपरान्त समवाचीन एवं परवर्ती इतर वेदांत सम्प्रदाय के ग्रन्था में द्वैत मत की घोर आलोचना हुई और द्वैत-मत के आचार्यों ने भी विरोधी तर्कों का स्रष्टन किया। परिणामतः उभयपक्षीय विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। बानावरण में निषेधक रूप में ही ये सम्प्रदाय परस्पर प्रभावित कर सकते थे। परस्पर आदान प्रदान का अयं क्रम सम्भव भी नहीं था। अतः तात्त्विक रचना की दृष्टि से मध्व मत का अयं मत पर, अन्य मता का मध्व मत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मध्व के उपरान्त मध्व का प्रभाव अनेक प्रकार के आन्दोलन में व्याप्त दृष्टि-गोचर होता है। दक्षिण भारत के हरिदास कूट के भक्ति से ओत प्रोत आन्दोलन की ओर बहुत समय तक इतिहासकारों का ध्यान ही नहीं गया। प्रथम बार विटें ने उदात्त उल्लेख किया।^१ हरि की प्राथनाओं को गाते हुए इस ममाज के साधु यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे। जनसाधारण की भाषा में इन्होंने भक्तों की रचना करके, गा-गाकर, उन्हें प्रचारित किया। ये सभी मध्व मत के अनुगामी थे। भक्ति की प्रधानता की वृत्ति ने सबत्र प्रतिपादित किया। जगन् ईश्वर के अधीन है, यह भी उनके असंख्य पदों में पाया जाता है। व्यासतीर्थ भी इसी वृत्ति के थे। दासों की यह परम्परा कन्नड में आज भी प्राप्त होती है, जो मध्वमत के सावजनिक जीवन में व्याप्त व्यापक प्रभाव को सूचित करती है।

बंगाल में भक्ति की मायता का प्रसार चैतन्य के द्वारा किया गया। बंगाल के जन जीवन में चैतन्य का प्रभाव अत्यन्त स्पृहणीय है। चैतन्य ने प्रारम्भिक हीना केवळ भारतो नामक अद्वैतमनानुयायी सम्पासी से ली थी।^२ अठारहवीं सदी का लेखक बलदेव विद्याभूषण चैतन्य को मध्व मत का अनुवर्ती मानता है। चैतन्य की कोई भी दार्शनिक रचना प्राप्त नहीं होनी है अतः किस सीमा तक मध्व का प्रभाव चैतन्य पर था, यह स्पष्ट कर पाना कठिन है। चैतन्य चैतन्य नामक जीवनीपरक ग्रन्थ में उसकी दक्षिण भारत की यात्रा की सूचना प्राप्त होती है। चैतन्य चरितामृत में भी उसकी उल्लेख यात्रा का उल्लेख है। दोनों ही सन्दर्भों से मध्व मत की प्रसंग चैतन्य द्वारा न की जाकर उनके प्रति विरोध ही पाता जाता है।^३ चैतन्य का उक्त विरोध सम्भवतः सम्पूर्ण मध्व सम्प्रदाय से न होकर नान, कम एवं

१ नागवमन छन्दस्सु—किटल द्वारा सम्पादित मंगलोर १८७५

२ कविकण्ठपुर—चैतन्य चन्द्रोदय, पृष्ठ १४०

३ कविकण्ठपुर—विपत एवात्र वैष्णवा दृष्टा। तेऽपि नारायणावासावा एव।

अपरे तत्त्ववादिन। तेऽपि तथा विद्या एव। निरवद्य न भवति तन्मतम्।^१

चैतन्य-चन्द्रोदय, पृष्ठ १७४

भक्ति को मोक्ष के साधन के रूप में मानने से था। चतुर्थ केवल भक्ति को ही मोक्ष का साधन मानते हैं।

चैतन्य के उपरांत उसके अनुवर्ती विचारका म रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी आदि सभी स्पष्टतः मध्व से प्रभावित प्रतीत होते हैं। रूप गोस्वामी मध्व को न केवल उद्धृत करते हैं अपितु उसकी वन्दना भी करते हैं।^१ रूप गोस्वामी की तुलना में जीव गोस्वामी मध्व से अधिक प्रभावित हैं। मध्व मत की मायताआ को स्वीकार करते हुए भी शंकर एवं रामानुज के उल्लेख इनके ग्रंथों में कम नहीं हैं।^२ 'सम्भवतः प्रारम्भिक चतुर्थ अनुयायियों का दृष्टिकोण सदैव सप्रह करने का रहा हो। मध्व के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य को भी यह महत्त्व देते रहे हा, पर मध्व का इन पर प्रभाव निर्विवाद रूप से सिद्ध है। इन विचारकों ने अपने मत को शुद्ध वचनवत् मत कहा है।^३

अठारहवीं सदी के इसी सम्प्रदाय के राधादामोदर तथा बलदेव विद्याभूषण मध्व के प्रभाव को पूणतया यक्त करते हैं। वेदान्त स्यमतक' नामक ग्रंथ में राधा दामोदर ने मध्व के ब्रह्म सूत्रभाष्य को उद्धृत किया है। राधादामोदर के शिष्य बलदेव विद्याभूषण ने आनन्दतीर्थ की अत्यन्त मुक्त कण्ठ से श्रद्धातिरेक स्वर में प्रशंसा की है। मुख्य रूप से रूप गोस्वामी जीव गोस्वामी तथा बलदेव विद्याभूषण इन तीन लेखकों ने ही दाशनिक् सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठा की। इनके पूर्व तक तो यदु भक्ति सम्बन्धी प्रबल आन्दोलन माना था। दाशनिक् याग्यान का आचार उसे नहीं मिल सका था। ब्रह्मसूत्र का भाष्य सम्प्रदाय बनने के लिए आवश्यक था। बलदेव ने गोविन्दभाष्य लिखकर उक्त अभाव की पूर्ति की। इस याग्यान में स्थान स्थान पर उसने मध्व के सिद्धांतों एवं तर्कों का उपयोग किया है।

डा० भण्डारकर ने अपने ग्रंथ में प्रतिपादित किया है कि महाराष्ट्र में मध्व मत का कोई प्रचार नहीं हुआ था।^४ भण्डारकर का उक्त निर्धारण यायसगत नहीं है। मध्व के काल से लेकर अद्यावधि दक्षिण महाराष्ट्र के कोल्हापुर शोलापुर सतारा पूना नासिक एवं अहमदनगर आदि जिलों में मध्व मत के प्रसार के चिह्न प्राप्त होने हैं। धारहवीं तेरहवीं सदी ईसवी में इन क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में वनद निवासियों के प्राप्त होने के संकेत उपलब्ध होते हैं। इनके प्रभाव की सीमा सम्भवतः

१ रूपगोस्वामी लघुभागवतामृत पृष्ठ ५५

२ जीवगोस्वामी, षटसद्वन्ध पृष्ठ १५ १८ ७७ ६३ १०१ आदि।

३ वही पृष्ठ २०

४ डा० आर० जी० भण्डारकर—वचनविजय गविजय एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ८४

अहमदनगर तक, गोदावरी के किनारे तक थी। देगस्य ब्राह्मणा के अनेक परिवार मध्व मत के बहुत समर्थक के रूप में आज भी विद्यमान हैं।

मध्व विजय के अनुसार चंदरी की यात्रा के लिए जात और आत समय मध्व महाराष्ट्र में से होकर गए थे।^१ मध्व के अपने क्षेत्र के बाहर के प्रथम गिण्य पञ्चनाभ में भेंट गोदावरी के किनारे ही हुई थी। ज्ञानेश्वरी में भी द्वैत मत का सम्बन्ध प्राप्त होता है।^२ मध्व सम्प्रदाय के व्यासराामाचार्य तथा आनन्दभट्टारक आदि परवर्ती आचार्य अहमदनगर के ही थे। प्रमुख मराठी कवि माध्व मुनि (१६६०-१७३१) जन्मना मध्व सम्प्रदायी ही थे।^३ मध्व का प्रभाव अवश्य इस क्षेत्र में था किन्तु मराठी भाषा में इस सम्प्रदाय के ग्रंथों की रचना न हो सकने के कारण साम्प्रदायिक रूप में यह प्रसृत न हो सका। प्रायः वनहट्टी जयतीर्थ की महाराष्ट्र का प्रमुख सत मानते हैं तथा नानदेव नामदेव आदि के साथ उसके भी नाम ग्रहण की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं।^४

मध्व सम्प्रदाय को प्रारम्भ में उत्तर कर्नाटक भाग में प्रथम प्राप्त हुआ। रामायण के काल में भी उस स्थान का साम्प्रदायिक महत्त्व था। विजयी द्वितीय का भी प्रभाव क्षेत्र यही भू-भाग था। चानुक्य एवं पालव आदि राजाओं के काल में भी इस मत को यहाँ पर यह महत्त्व प्राप्त हुआ था।

पद्महवी सदी ईसवी के राजद्वितीय ने विहार एवं बंगाल में इस मत का प्रचार किया। चतुर्थ सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती सत विष्णुपुरी के गुरु जयध्वज राजेद्वितीय के गिण्य थे। राजेद्वितीय के गिण्य विष्णुदासाचार्य ने उत्तर भारत में मध्व मत की स्थापना की। राजद्वितीय के ही एक अन्य गिण्य विबुधद्वितीय ने कर्नाटक के विद्येय भाग पर सम्प्रदाय की प्रतिष्ठित किया।^५

व्यासतीर्थ के गिण्य वादिराजनीय ने भी गुजरात एवं वाकण में मध्व सम्प्रदाय का प्रचार किया। कैलाशि नासवा का आश्रय उस प्राप्त था। आध्र देश के कतिपय जिना से मध्व के समय ही उनका गिण्य नरहरितीर्थ ने सम्प्रदाय का प्रचार किया। इस प्रकार मध्व के आठ-भट्टा ने भारतवर्ष के बहुत बड़े भू-भाग पर इस सम्प्रदाय का प्रचारित किया।

१ नारायण पण्डित मध्व विजय १०।४

२ नानदेव—प्रमेयप्रवालसुप्रभ इनाद्वैतकुम्भ।

सरिसे एकवटति इभमन्तवाकारि ॥ नानेश्वरी, १, १३

३ बी० एस० भावे महाराष्ट्र सारम्बत पृष्ठ १०२८

४ प्रो० एस० एन० वनहट्टी—मराठी वाङ्मय आणि वैष्णव सम्प्रदाय, पृ० ४३ ४४

५ गुरुगुणस्तव ५

उपसंहार

'द्वय वेदात् तत्त्व समीक्षा नामक' द्वावतमान प्रपञ्चक विगन अयाया म मव द्वारा मुमयोजित वेदात् दान कद्वत वा प्रनिपात्क मत क मूल तत्त्वा का विगन त्रिवचन प्रस्तुत किया गया है। इम सम्पूर्ण याग्यान स मव जोर उनके अनुयायिया के त्रिकोण को समभने म सुगमता हो सकती है।

मव के मत स्थापन के समय दो प्रकार की अत्यंत प्रबल धाराएँ प्रचलित थीं। एक विगुद्ध ज्ञान परक तत्त्व वि तन दूसरी भावातिरेकपूर्ण साम्प्रदायिक आदो लन थी। बौद्ध द्वाशनिक एव शंकराचार्य ने दान के क्षेत्र म जानाथयी परम्परा की सुद्ध स्थापना की। दूसरी जोर दक्षिण भारत म विशेष रूप स और समग्र भारत म सामान्य रूप से वणव सम्प्रदाय का भी प्रचार हुआ। रामानुज शंकर के परवर्ती एव मध्व के पूववर्ती हैं। वे भी इस द्विविध प्रभावपूर्ण धातावरण के साक्षी थ। परिणा मत सबप्रथम रामानुज ने वैणव सम्प्रदाय तथा द्वाशनिक चिंतन के सम वय की उपस्थित किया। तत्त्व मीमासा के स्वरूपगत विवेचन म अचित् तत्त्व की सापेक्षिक प्रतिष्ठा के हेतु उसे उ हाने ब्रह्माग क ही रूप म निरूपित किया। रामानुज के समान मध्व ने भी उक्त धातावरण से परिधय प्राप्त किया था कि तु दानो आचार्यों की प्रतिक्रियाआ म अतर है। द्वाशनिक विवेचन एव वणव सम्प्रदाय के सम वय की अपे ना मध्व की भी रामानुजके ही समान अनुभूति हुई और उ हाने उसका अपन मत की स्थापना म उपयोग भी किया कि तु तत्त्व मीमासा के विवेचन म मध्व का माग इन आचार्यों से सवधा भिन हो गया। जहा शंकर पूगत सुद्ध एव रामानुज प्रका रा तर स अद्वत प्रतिपात्त करते हैं वहा मध्व ने पूण रूपेण विरोधी धारणायेँ गवन की। वे गद्ध द्वात के प्रबल समथक है। रामानुज ने विगुद्ध चिदात्मक ब्रह्म की अप्रक्षा चिन्चिदात्मक तत्त्व की प्रतिष्ठा करके उपक्षित जगत् त व की स्थिति की बदा त दान के जतगत प्रकाशित करने का यत्न किया है। मव ने भी विवेचन म इसी प्रकार के उपक्षित तत्त्वा को महत्ता प्रदान की है। जहा तक ब्रह्म की निर्विकल्प, शुद्ध चत यात्मक अखण सत्ता से भिन विचार करने का प्रदन है रामानुज और मध्व समान रूप स विचार करते हैं कि तु इसके अतिरिक्त दिगागिति म दोनो विचारका मे कोई

साम्य नहीं है। इसका मूल कारण मध्व पर गकराचाप के पूर्ववर्ती यथाथवादी दशन प्रणालियाँ वाय-वैयक, सारय योग भीमासा, महा तव कि चार्वाक आदि का प्रभाव है।

मध्व पर इन दशन मतों के प्रभाव का स्पष्ट करने के लिये द्वैत मत के मूल आधार, भेद की प्रतिष्ठा, पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। पूर्वोक्त सम्पूर्ण दशन सम्प्रदाय मुक्त कण्ठ से अनेक परस्पर भिन्न पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। अर्थात् जा भेदात्मक दृष्टि पूर्वमतों की है, वही मध्व की भी है। इसके अतिरिक्त मात्र द्वारा प्रस्तुत पन्थ विवचन के द्वारा भी उक्त निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। पदार्थों को दम भागों में मात्र ने विभाजित किया है। वे सभी वाय-वैयकादि से ग्रहीत हैं। विषय पन्थ मध्व क अपने हैं। महा तक कि उनकी परिभाषाओं में भा किसी प्रकार का अंतर नहीं है।

इस प्रकार मध्व, दशन एवं सम्प्रदाय के सम वष के साथ ही यथाथवादी मता क प्रभाव क कारण निष्पन्न ग्रहण करने में पूर्व-क्रम से मवया पृथक् स्थित रह। इसी प्रसंग में यह भी विवच्य है कि मध्व ने कठोर भ्रमपरक दृष्टि रखने पर भी वेदान्त के सम्प्रदाय के रूप में ही अपने मत की प्रतिष्ठा क्या की? सम्भवत इसक मूल में वैष्णव मत के प्रति आस्था ही प्रभावी रही होगी। वैष्णव मन का प्रभाव मध्व पर बहुत गहरा है यह उनके प्रत्येक व्याख्यान से प्रमाणित किया जा सकता है। उस प्रभाव की परिष्कन न करते हुए भेदवादी दृष्टि से दार्शनिक प्रस्थान की निमित्त मध्व का अभीष्ट रूढ़ि होगी। एसी दशा में गीता ने मध्व को, सम्भवत नई शिवा दी। वासुदेव और विष्णु की वैष्णव सम्प्रदाय में अभिन्न माना गया है। गीता में डा० मण्डारकर, डा० रामचौधरी आदि विद्वानों के अनुसार, वासुदेव को सर्वेश्वर के रूप में प्रतिष्ठा है। गीता पन्थ सम्प्रदाय के आधार तथा में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गीता में मात्र को अपने व्याख्यान का आधार मिन गया होगा। परिष्कामन वेदान्त-समुदाय में एकाग्र पूजित यथाथवादी विन्तन-सारणी की अवस्थिति हुई। सम्भवत सम्पूर्ण व्याख्यान का वेद विद्वानों के कारण ही मध्व ने अत्यन्त मनायोग से गीता भाष्य की रचना की। इसीलिए 'महाभारत-तात्पर्यनिर्णय' नामक प्रकरण ग्रन्थ की भी रचना उन्होंने की क्योंकि गीता को सामान्यतः महाभारत का ही एक भाग माना जाता है।

वन्त-दशन के उपभोग क सत्यापक होने के कारण मध्व को भी तात्त्विक विवचन में कुछ सीमाएँ स्वीकार करनी पड़ी। चार्वाक मत का छोड़कर प्राय सभी दशन सम्प्रदायों के विचारकों को किसी साहित्य विषय का अनुसरण करने हुए ही विषय प्रतिपादन करना पड़ना है। अन्य मतों की अपेक्षा वेदान्त में यह सीमा और

भी अधिन बढोरता से ध्ययदूत है। इस प्रकार प्रत्येक दगन सम्प्रदाय मे तत्व विरचन की आधारभूमि के रूप में माय साहित्य वा व्याख्यान एव वयतिव वचारिक क्षमता का प्रयोग का आकलन किया जाता है। श्रुतियों के द्वारा पूर्व समूचिन व्याख्यान की सवमायता को सुरगित रगते हुए नए मत की स्थापना एव नवीन तत्वों का समायोजन व्यतिगत विचार क्षमता के आधार पर भिन्न भिन्न आचार्यों ने किया है। आधारभूत साहित्य का समाप्त होने पर भी उनमें परस्पर पर्याप्त मत विभिन्नता प्राप्त होती है। मध्य भी वेदांत-सम्प्रदाय का अन्तगन नवीन मत स्थापना का विषय से श्रुति-वाक्यों की प्रामाणिकता को पूर्वतः स्वीकार कर ही चुके थे। उपनिषद् वाक्य निष्पक्ष रूप से अद्वैत अथवा द्वैत मात्र प्रतिपादित करते हैं। ऐसा भी नहीं था। उनमें सभी प्रकार के वाक्यों के प्रयोग थे। मध्य की मायताओं के विरुद्ध भी असम्य श्रुतियाँ थीं। उनकी व्याख्या के लिए मध्य ने साक्षित को उपजीव्य प्रमाण माना है। प्रत्यक्ष की प्रामाणिक स्थिति का नियम करने वाला जीवस्थ चिद तत्व साक्षि है। अर्थात् शब्दांतर से शुद्ध प्रत्यक्ष को ही मध्य ने श्रुति के धारतव अर्थ का निर्णायक मान लिया। डा० बी० एन० के० शर्मा अपने साम्प्रदायिक उत्साह में इस वचारिकता का प्रशसनीय समर्थन मानें, किंतु वस्तुतः मध्य के इस नियम ने श्रुति की अधव्यवित की सीमाओं को बहुत सङ्कुचित कर दिया। साथ ही गुरु और रामानुज की तुलना में मध्य ने श्रुति व्याख्यान का सुगम माय भी खोज लिया। जो प्रत्यक्षसिद्ध है वही शास्त्र है अर्थ नहीं। जबकि अपनी विलक्षण प्रतिभा से गुरु तथा रामानुज ने समस्त श्रुतिवाक्यों की अवज्ञा किए बिना उनका यथासम्भव स्वमतप्रतिपादक व्याख्यान प्रस्तुत किया है। मध्य के लिए निगुण श्रुतियाँ साक्षि सिद्ध न होने के कारण मूल्य हीन हो गईं। यह दृष्टि भारतीय दगन के माय आचार्य की प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि एक ओर जहाँ मध्य श्रुतिवाक्यों की यथाशक्ती पर दृढता पूर्वक रु देह करते हैं वहीं वे उपनिषद् गीता एव ब्रह्मसूत्र के अनिरीचन अर्थ पौराणिक साहित्य महाभारत भागवत आदि को तथा पाचरात्र संहिताओं को भी प्रामाणिक मानते हैं। श्रुति सम्बोधक शास्त्र प्रमाण को वर्तमान प्रत्यक्ष-अर्थ ही मानते हुए उसकी सामा को सङ्कुचित करने में प्रयत्नशील है साथ ही पौराणिक प्रवृत्ति के प्रर्थों को शुद्ध दगन के क्षेत्र में आप्त वाक्य की स्थिति में स्थापित करके आप्त वाक्य की सीमा का विस्तृत करने का प्रयास भी करते हैं। इस अन्तविरोध का मध्य के पास क्या समाधान है ?

इसने विनाल साहित्य को आधारभूत प्रथम राशि के रूप में प्रमाणाय ग्रहण

करने में बल्लभ मम्प्रदाय का प्रभाव रहा होगा। इसके अतिरिक्त क्या यह सम्भव नहीं है कि मध्व को पूर्व स्वीकृत मायताओं की रक्षा के हेतु भी इतना व्यापक ध्येय निर्दिष्ट करना पड़ा हो। मध्व सांख्यदि की भेदात्मक दृष्टि से प्रभावित हैं यह प्रमाणित किया जा सकता है। महाभारत, भागवत, पद्म तथा अन्य पुराणों में इसी प्रकार की दार्शनिक दृष्टि के वाक्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं। अतः मध्व पर आशय किया जा सकता है कि वेदात्त-वाक्यों में विगुह्य भेदात्मकता की सिद्धि की असम्भावना के कारण उनके अर्थों को सीमित करने के लिए साहित्य-चतय की मायता तथा स्वसम्मत वाक्यों की प्राप्ति के हेतु महाभारतादि की प्रतिष्ठा मध्व ने की।

इस विवेचन का यह अभिप्राय नहीं है कि महाभारत अथवा पाचरण साहित्य दार्शनिक मायताओं की स्थापना के हेतु विवक्षणीय नहीं है। यहाँ आशय केवल यह है कि वेदात्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत उपमन मध्यापक एक आचार्य की दृष्टि उक्त दार्शनिक सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थों के प्रति कसी है? यह सम्पूर्ण में देह इनलिए विचार के विषय बनते हैं कि मध्व मत ही वेदात्त सम्प्रदाय में विगुह्य भेदवादी मत है।

आचार्य ग्रन्थ विषयक निर्वाचन में मध्व की दृष्टि की विवेचना के साथ मध्व द्वारा उद्धृत असंख्य सद्मों की प्रामाणिकता सम्बन्धी मीमांसा भी प्रसंग वाह्य नहीं होगी। मध्व के सम्पूर्ण साहित्य में अन्य आचार्यों की अपेक्षा विस्तृत त्रय-राशि की सदर्भित किया गया है। वे प्रकीर्ण सद्म न केवल आधुनिक अथि तु प्राचीन विद्वानों के लिए भी गम्भीर समस्या के रूप में थे। मध्व द्वारा प्रयुक्त ये सद्म तात्त्विक मीमांसा युक्ति के समथन, व्याकरण-आत्मक व्याख्या पुराणशास्त्र सम्बन्धी प्रतिपाल आचार्य सम्बन्धी निर्देणतादि का समथन करते हैं। सप्रथम अप्पय दीक्षित ने द्वत विरोधी ग्रन्थों में इस समस्या को पुर स्थापित किया है कि मध्व के द्वारा प्रयुक्त असंख्य सद्म सदर्भित ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होते अथवा वे ग्रन्थ ही अप्राप्त हैं। साथ ही उन ग्रन्थों की सत्ता को अप्प किसी समकालीन ग्रन्थ-सद्मों द्वारा प्रमाणित भी नहीं किया जा सकता।^१

विजयी-द्वितीय आदि प्राचीन आचार्यों न इसका समाधान प्रस्तुत किया है। आधुनिक विद्वान् डा० बी० एन० क० शर्मा भी विजयी-द्व का अनुसरण करते हुए ध्यान करते हैं कि सम्भव है व ग्रन्थ वाद में लुप्त हो गये हों। संस्कृत भाषा के असंख्य ग्रन्थों की ऐसी ही दुर्दशा हुई है। इन सद्मों के विच्छेद कोई भाषा शास्त्रीय आधार प्रस्तुत नहीं किया गया। सम्भव है विरोधी तक सांख्य-दार्शनिक आग्रह स ग्रन्थ हो। मध्व क काल में इन सद्मों पर किसी ने कदा उपस्थित नहीं की। इस कथन के साध्य में

१ मध्व—एय प्रकृति — । पगी श्रुति ब्रह्मसूत्रभाष्य १।४।२६ में उद्धृत।

‘एय’ होवाध्यकत । महीपतिपद् ब्रह्मसूत्रभाष्य १।४।२६ में उद्धृत।

डा० गर्मा ने मध्व विजय को प्रमाण के रूप में संकलित किया है।^१ किंतु यदि किसी दोष का उल्लेख किसी काल विशेष में न करें तो वह दोष गुण कैसे बन जावेगा? परवर्तीकाल में उस पर सादर किया जा सकता है साथ ही मध्व विजय तो मध्व की जीवनी का अत्यंत श्रद्धा एवं अतिरेक पूण वर्णन है। यदि कहीं शक्य उठाई भी गई होगी तो क्या उस भक्त गिण्य से उसका उल्लेख की अपेक्षा की जा सकती है?

डा० गर्मा के तक सत्य का पर्याप्त समीप भी हाता भी सत्त्व विषयक सत्त्व का निराकरण तो नहीं होता। आधार यथा के अभाव में जितनी सम्भावना उन सत्त्वों के स्थित होने की है उतनी ही उनके न रहने की भी है। वेदात के यापक सत्त्वों को छोड़कर ऐसे लुप्त प्राय सत्त्व दान की अभीप्सा मध्व की क्या रही?

वदिक साहित्य के प्राचीनतम स्तर से लेकर उत्तर वैदिक काल तक के यापक सत्त्वों का प्रयोग अत्यंत उत्तारतापूर्वक उपयोग मध्व ने किया है किंतु श्रुति वाक्यों का विषयपरक (आ-जेक्टिव) विवचन न करके अथवा आधारों के समान विषयीपरक (स-जेक्टिव) आधारान ही किया है। वक्त के मन सहिता एवं ब्राह्मण में यथावत प्राप्त तत्त्व-साहित्य को भेदात्मक दृष्टि से ही संकलित किया है अतः उनका दान श्रुति मूलक अवश्य है पर सवागत श्रुतिनुगत हो यह सदिग्ध है।

इसके अतिरिक्त विष्णु की प्रतिष्ठा अत्यंत महनीयता के साथ मध्व स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण श्रुतियों का प्रतिपाद्य विष्णु ही है। वदिक देवताओं में भी सर्वाधिक उत्कृष्टता विष्णु की ही मध्व ने स्वीकार की है। सहिता भाग में इन्द्र वर्णन रूप आदि प्रमुख देवताओं के समान ही विष्णु का भी वर्णन है। सहिता के हा उत्तरवर्ती भाग में एकदबवाद की भावना प्राप्त होन लगती है। कृष्ण पर भी केवल विष्णु का समी देवताओं के ऊपर अधिष्ठित होना प्राप्त नहीं होना। यही निष्कर्ष ग्रहण कर पाना सम्भव है कि सभी देवा में एक ही शक्ति है। इन्द्र मरुत आदि किसी को भी समान रूप से उस शक्ति का कद्र माना जा सकता है, अतः मध्व का विष्णु सर्वोत्कृष्टता अथवा देवों की उसका प्रति अधीनता के अवेपण का प्रयत्न में वैष्णव सम्प्रदाय से प्रभावित दृष्टि का अस्थान में विनियोग है। परकालीन धारणा के आधार पर पूर्वकालीन साहित्य की विवचना में दोष भले ही हो किंतु मध्व ने ही पहली बार समूचे साहित्य में भेद परक वाक्या के उद्धरण की विस्तृत परम्परा उपस्थित की।

मध्व ने पत्नियों के वर्गीकरण में पूर्ववर्ती दान सम्प्रदाय या यज्ञोपनिषादि का आधार के रूप में निसिद्ध्य रूप से ग्रहण किया है। वापिक द्वारा स्वीकृत प्राय सभी प्रकार के पदाय दान मत की पत्नय मीमांसा में है। उन पदार्थों के अतिरिक्त

१ डा० बी० एन० क० गर्मा—ए हिस्ट्री आव दंत स्कूल आफ वेदान्त एण्ड इटस लिटरेचर भाग १, पृष्ठ ११५

विशिष्ट द्रव्य के विभागा की स्वीकृति के रूप में भी प्राप्त होना है। पदार्थों की सभ्यता में वृद्धि, मीमांसा माध्य अग्नि के प्रति मध्य की अनुकूलता न ही सिद्ध कर किन्तु पदार्थ मध्य की अतिवादी दृष्टि के परिचायक है। विशिष्ट अथवा अग्नि को पृथक् पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? विभाजन की मत्ता स्वीकार कर लेने मात्र में विशिष्ट की सिद्धि हाँ जाती है। इसी प्रकार अग्नि की मान्यता की भी मुहूर्तवत्कृत सिद्ध कर पाना कठिन है। पदार्थों के स्वरूप विधारण में मध्य के इस आधार के मूल में, तत्त्वविशेषण में स्वीकृत, किसी स्वीकृत विधि को मध्य प्रमाणित करना है। विशिष्ट को पदार्थ पदार्थ इसलिए निरूपित किया कि विभाज्य नामक पृथक् महत्वपूर्ण मायता इन मत में प्रतिपादित है। इसी भाँति अग्नि के नवीन पदार्थ के रूप में ग्रहण करने में ईश्वर की स्वरूपीय एवं अग्नि की रूपता भी है। अवतार ईश्वर के स्वरूपीय एवं जीव उसके भिन्नांग माने गए हैं इन अंगों का अंगी की ही इस मत में नवनव तत्व के रूप में मूलन स्थिति में परिणामत उत्तर मायता की सम्पुष्टि के लिए पृथक् पदार्थ के रूप में अग्नि का ग्रहण किया है। द्रव्य के वर्गीकरण में भी वण प्रतिविम्ब तन्मी आदि का ग्रहण किया गया है, तन्मी की मायता तो रामानुज एवं वल्लभ मन के प्रभाव के रूप में समाहित भी की जा सकती है किन्तु वण के पृथक् द्रव्य के रूप में ग्रहण करना व्याकरण एवं मीमांसानुसूल आचरण मात्र है। वणों की अम प्रत्यावर्तन का ध्यान में रखते हुए मध्य न हमें भिन्न द्रव्य माना है। मीमांसा में श्रुति व्याख्यान के प्रति प्रमुपत प्रसक्ति हान के कारण वण और पदज्ञानकी की महत्वपूर्ण स्थिति है। व्याकरण मात्र ही वण और उसके सम्पुष्टि का अनुपासन ही है। इन दो मतों में वण के स्वरूप के विषय में विस्तृत विचारणा अपेक्षित है एवं उपपन्न है। माध्य मत में वण को महत्वपूर्ण मानने का कोई स्पष्ट कारण अतिशय नहीं होता। इसके विपरीत मीमांसानुसूल ने ही श्रुति सामान्य की परम प्रतिष्ठा के प्रतिपादन को लक्ष्य करते वण की विवेचना की है वहीं मध्य न उनमान पाति चतुर्थ के सम्मुख विरोध उपस्थित हान की स्थिति में श्रुति की अग्रगण्यता स्वीकार करत हुए भी वण नामक द्रव्य का भिन्न रूप से ग्रहण किया है।

अविद्या की भी मध्य गहर के समान सम्प्रतिपक्षण अविज्ञानीयन मानकर सम्मानन है। जीव के माय उगव सम्बन्ध को भी नित्य ही माना गया है। उपाधि भी निरूपित रूप का प्रकार की है। स्वस्वोपाधि को मध्य नित्य माने हैं। अविद्या एवं उपाधि की नित्यता मध्य सम्प्रति जीव की भिन्न स्थिति एवं पारमादिव सत्ता की ग्रहण करने के कारण स्वीकार करते हैं।

मध्य भी व्यापित मन के समान गुणा के विवेचन में भावात्मक गुणा का भी आवश्यकता है। गुणा की सभ्यता उहाँने अज्ञान मानी है। यदि यह अज्ञान नहीं है तो ईश्वर की अनन्यगुणकता की सिद्धि कत होगी?

पदार्थ-वर्गीकरण में मन्व अत्यन्त उत्साहपूर्वक सलग्न हैं। अनेक भेद एवं उपभेदों को वह स्वीकार करते हैं। इसके प्रति आप्रह्व कभी-कभी तर्कसिद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए मन्व बुद्धि को गुण और द्रव्य दोनों ही मानते हैं। इस प्रकार के अनेक तत्व हैं जो गुण भी हैं एवं द्रव्य भी। दोनों पदार्थों (गुण एवं द्रव्य) की परिभाषाएँ मन्व न भिन्न भिन्न निरूपित की हैं। यदि वे भिन्न न होते तो वे पदार्थों के रूप में उनका परिगणन कैसे होता? यदि वे भिन्न पदार्थ हैं तो इस सम्प्रदाय में बुद्धि आदि का एक साथ गुण और द्रव्य दोनों ही पदार्थों का प्रतिनिधि कैसे माना जा सकता? इसका समाधान भी युक्ति सगत रूप से द्वैत सम्प्रदाय के लखनो द्वारा नहीं किया जा सका है।

✓ पदार्थ विवेचन में विशेष नामक तत्व का परिगणन एवं व्याख्या मन्व की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। विशेष वस्तुओं के भेद का निवारण ही साथ ही वह भेद न होने पर भी भेद कथन की प्रतिपत्ति भी करता है। विशेषिक के विनाप से उसका यही अन्तर्ग है। गुण और द्रव्य में अभेद है कि तु अभेद होत हुए भी भेद कथन का निर्वाह करना अत्यन्त आवश्यक है। विनाप नामक तत्व उक्त कथन के निर्वाह को उपस्थित करता है। विशेष की मायता ही वस्तु में अमर्ग्य गुणों की परस्पर अविच्छेद रूप में स्थिति प्रमाणित करती है। स्वरूपभेद भी विनाप के कारण ही सिद्ध है। विशेषिक के विशेष का क्षेत्र केवल नित्य तत्वा तक ही है जबकि मन्व मत प्रतिपादित विशेषिक नित्य अनित्य सभी पदार्थों में है। यह विशेष नामक मायता दो दृष्टियों में उपयुगी है। एक तो वस्तुओं के परस्पर अन्विष्टों को इसी के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। दूसरा जन मत की वस्तु में अनन्त घमात्मकता की सिद्धि भी इसी के द्वारा सम्भव है। ईश्वर की मन्व गुण सम्पन्नता तथा जीव एवं जड की पारस्परिक स्पष्ट भिन्नता के प्रमाणीकरण में विशेषिक की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस प्रकार विशेषिक का यह स्वरूप जय पूर्ववर्ती मन की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एवं युक्ति सिद्ध है।

भेद को द्वैत मत के विचारक बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। इसीलिए भेद का पृथक् रूप से सिद्धि की विवेचना की गई है। वस्तु के स्वरूप से भेद को अभिन्न माना गया है। इसके विरोध में अद्वैत के श्रीहृषीकेश चिन्मुख नसिंहगामा आदि विद्वानों ने प्रबल युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उनके प्रत्युत्तर के लिये सन्नद्ध न होकर द्वैतानुयायी विचारक अभेद के खण्डन में ही व्यस्त रहे। भेद के स्वरूप के प्रति सन्नद्ध दृष्टिकोण पर्याप्त आप्रह्व है। खण्डन के प्रति अधिक उमुख न होकर स्वरूपभेद की भीमासा एवं स्थापना में प्रवृत्त होना चाहिये था।

वष्णुवमत एवं रामानुज के विष्णु का मन्व ने भी ग्रहण कर लिया। विष्णु सगुणब्रह्म अथवा ईश्वर के लिए ही प्रयुक्त है। निगुणता प्रतिपादक श्रुतियों के विष्णु

परक व्याख्यान के हेतु मध्व ने निगुणता का अथ अगुण्य का अभाव माना है। ईश्वर का स्वतन्त्रत्व मध्व सम्प्रदाय में इतनी उत्कटता से प्रतिपादित किया है कि कुछ विचारक इसे अद्वैतवादी दशा ही मान बैठे। इस भ्रान्ति के मूल में जीव और जड़ की ईश्वर के प्रति सत्ताविषयक अधीनता का विवेचन है। मध्व मानते हैं कि सत्ता की प्राप्ति का हेतु भी ईश्वर ही है। यह कथन जगत् के विषय में अधिक दृढ़ता से कहा गया है। जगत् की सत्ता की ब्रह्म से प्राप्ति मानने पर, अन्ततः उसका ब्रह्म में विलीन होना भी प्रमाणित होता है किन्तु जगत् की सत्ता की उपलब्धि का मध्व सम्मत दृष्टि में सम्भन का प्रयास करें तो उसका भ्रान्ति की सम्भावना ही नहीं रहेगी। सत्ता की प्राप्ति को 'पराधीनविशेषाप्ति' नामक पद से स्पष्ट किया गया है। पराधीनविशेषाप्ति का अभिप्राय ब्रह्म के अधीन विशेष रूप की प्राप्ति करना। अर्थात् विशेष रूप में परिवर्तित अथवा अभियन्त होने के लिए इन पदार्थों की स्थिति ब्रह्माधीन है। सत्ता तो इन पदार्थों की आत्यन्तिक रूप में है ही।

बदुत्त्ववादी दृष्टि में जीवा की परस्पर भिन्नता के प्रतिपादन का प्रयास किया जाता है। सांख्य ने भी कतिपय युक्तिवादी है। वे सभी देह की विविक्त स्थिति मात्र प्रमाणित करती हैं। मध्व ने अहंकार को जीव से अभिन्न माना है। अहंकार के आधार पर जीव के विषय की प्रतिष्ठा मध्व ने की है। जीव और ईश्वर में चतुःयात्मकता की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। जीव और स्वप्रकाशमयता ईश्वर के अधीन है। जीव की प्रकाशकता को ब्रह्माधीन मानने में उसकी चतुःयात्मकता की ब्रह्म से समानता कैसे प्रमाणित होगी? जीव के लिए देह की अनिवायता मध्व ने ग्रहण की है। यह देह चतुःयात्मक एवं आनन्दरमक है। पाचभौतिक मात्र नहीं। इसी पर जीव आश्रित है। यदि चित्त और आनन्द देह हैं तो फिर मध्व सम्मत जीव का स्वरूप क्या है? यदि यह उसका स्वरूप है तो फिर उसकी देह-सम्बन्धी नित्यता का भी व्याख्यान कैसे किया जा सकेगा? जीव विषयक विवेचना में मध्व की स्वरूप तारतम्य नामक उल्लेखनीय मायता है। जीव की भिन्नता के स्वीकार करते ही स्वरूप तारतम्य को ग्रहण करने की सम्भावना बढ़ जाती है। जीवा की शमताएँ परस्पर भिन्न हैं। व्यवहार क्षमता के बलाबल को ग्रहण करना आवश्यक है। मध्व ने दृष्टापूर्वक इस प्रकार के जीव वर्ग को माना है जो कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

स्वप्न एवं भ्रम के आधार पर अद्वैत वेदांती विचारक जगत् की सत्ता को मिथ्या प्रमाणित करते हैं। मध्व ने स्वप्न को भी सत् माना है तथा भ्रम में भी दो वस्तुओं की सत्ता का प्रसंग उपस्थित होने से दोनों के आधार पर जगत् मिथ्यात्व प्रमाणित कर पाना असम्भव है। जगत् की पूरा सत्ता प्रामाणिक मानने के कारण द्वैत विचारक ने दृष्टापूर्वक उसका समयन प्रवर्तन युक्तिवादी से किया है। इन अद्वैत

सम्प्रदाय के विचारका म इस तथ्य को लेकर भी गम्भीर मतभेद है। इस विषय में खण्डन मण्डन की विस्तृत परम्परा प्राप्त होती है। सृष्टि प्रक्रिया में मन्व सारय मम्मत् धारणाओं को ही स्वीकार करते हैं।

भेद, जगत ईश्वर आदि मायताओं के विषय में द्वैत एवं अद्वैत में अत्यन्त तीव्र विवाद हुआ है। अनेक प्रतिस्पर्धी आचार्यों ने अपनी सम्पूर्ण कृतियों में परम्परा विवाद का ही उपयोग किया है। इस सम्पूर्ण खण्डन मण्डनात्मक साहित्य पर दृष्टि पात करने से द्वैत मत से सहमत हो पाना कठिन है। मध्व का सम्पूर्ण विवेचन अद्वैत मत के व्यावहारिक सत्तावात् विषयों पर आधारित है। उस दशा में शंकर भी वस्तुओं का किसी प्रकार का अभाव या अयथायता नहीं मानते। जाग्रत अवस्थागत वस्तुओं का मिथ्यात्व पारमार्थिक क्यों देखा जाय? साथ ही क्या वस्तु का विवेचन एक ही दृष्टि से संभव है। सामान्य व्यवहार एवं पारमार्थिक सत्त्व दोनों के आधार पर भीमात्ता करने से ही वस्तु ज्ञान का स्वरूप निश्चित हो सकता है। मध्व ने दानों में कोई भेद न मानते हुए जगत् मिथ्यात्व का विरोध में जितने भी तक दिए हैं वे सभी शंकर के व्यावहारिक सत्त्व की प्रतिष्ठा से व्यथ हो जाते हैं। व्यवहारगत जगत सत्त्वा उपयोगी एवं तत्ता सम्पन्न है। आत्यन्तिक ज्ञान की उपलब्धि के उपरांत ही उसका मिथ्यात्व मायाजयत्व प्रमाणित होता है। इसीलिए प्रयत्न करने पर भी द्वैत मतवादी अद्वैत के विरुद्ध समय युक्तियोग की स्थापना नहीं कर सके।

भारतीय चिन्तन में यथाय एवं आदश दोनों प्रकार के चिन्तन क्रम प्राप्त होते हैं। साम्प्रदायिक बौद्धिक आदि यथायपरक पक्ष का प्रतिनिधि हैं। शंकर आदि आचार्य आदशवाद के पोषक हैं। मन्व भी शंकर के उपरांत उत्पन्न होने वाले यथायवादी चिन्तक हैं। शंकर के पूर्व अनेक मत मतान्तर आदशवाद के विरुद्ध प्राप्त होते हैं किन्तु उनके उपरांत उक्त पक्ष के प्रतिनिधि केवल मध्व हैं। मध्व ने पूर्व विचारका की स्थापनाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया अपितु अपनी मौलिक क्षमता का भी विनियोग यथाय की स्थापना में किया है।

ज्ञान और भ्रान्ति के स्वरूप के विषय में मध्व एवं पूर्ववर्ती यथायवादियों के विचारों में अन्तर है। सृष्टि की प्रामाणिकता साक्षि की सभी प्रकार के ज्ञान के प्रति आधारत्व ज्ञान के प्रामाण्य ग्रहण के हेतु, आदि विषयों में मन्व का महत्वपूर्ण योगदान है। समवाय की सत्ता भी मन्व ने ग्रहण नहीं की। गुण और द्रव्य का सम्बन्ध के विषय में न तो यह 'यथाय बौद्धिक' के समान उस सत्त्वा भिन्न मानते हैं और न रामानुज के समान समवाय रूप। इस प्रकार मध्व पूर्ववर्ती मायताओं में अनेक परिवर्तन सन्तान आदि करते हैं।

वर्णाश्रम मत के विकास में मन्व के योगदान की दृष्टि से भक्ति का अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण स्थान मध्व ने स्वीकार किया है। रामानुज के समान वह ज्ञान को महत्त्व नहीं देता। उनके अनुसार सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के मूल में भी भक्ति है। ज्ञान प्राप्ति के उपरांत भी भक्ति है। भक्ति के उपरान्त भी भक्ति की ही सवतो व्याप्त महत्ता प्रतिष्ठित है। भक्ति की दृढ़ता सगर्वन स्थापना अथ विसी बंधुव आचार्य ने नहीं की।

वदान्त का यह द्वैत सम्प्रदाय अपनी अनुपलक्ष्यता के कारण उपेक्षित न होकर अन्य मत के प्रति अधिक आस्थावान होने के कारण त्पाज्य रहा। एक आचार्य के समान समय आचार्य के द्वारा प्रतिपादित मायताओं के सब या विच्छेद नए मन के तूटपात का साहस मध्व की महत्त्वपूर्ण क्षमता है। इसके अनिर्वृत पयायवाद के क्षेत्र में मध्व ने अनेक उत्प्रेरणीय स्थापनाएँ प्रतिपादित की हैं। इसलिए इस मत का विधिवत एवं विद्वान् ब्रूत आवश्यक है।

4164

ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ -

मध्याचाय

—	ब्रह्मसूत्र भाष्य
—	भगवद्गीता भाष्य
—	छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य
—	तत्तिरीय उपनिषद् भाष्य
—	बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य
—	मण्डूक्य उपनिषद् भाष्य
—	अनुश्यायान
—	मायावादखण्डन
—	मिथ्यात्वानुमानखण्डन
—	तत्त्वोद्योत
—	तत्त्वविदम्ब
—	तत्त्वसरयान
—	याय विवरण
—	विष्णु-तत्त्व निणय
—	ब्रह्म निणय
—	प्रमाण लक्षण
—	भागवत तात्पर्य निणय
—	महाभारत-तात्पर्य निणय
—	गीता तात्पर्य
—	द्वादशस्तोत्र

प्रथम सूची

जयतीर्थ

,

"

जयतीर्थ

,
ध्यासतीर्थ

"

,

"

ध्यास रामाचार्य
 श्रीनिवासाचार्य
 वादिराज
 त्रिविक्रमपण्डित
 सुरोत्तम तीर्थ
 वेङ्गम पद्मनाभसूरि
 पद्मनाभसूरि
 छलारी शेषाचार्य
 पद्मनाभतीर्थ
 विष्णुदासाचार्य
 विजयी-द्वितीय
 वादिराजतीर्थ

,
 राघवे-द्वितीय
 वनमालिमिश्र

-यायमुषा

-तत्त्वप्रकाशिका

-उपाधिल्लण्डन टीका

-मिथ्यात्वानुमानल्लण्डन टीका

-तत्त्वोद्योत भाष्य

-तत्त्वविवेक भाष्य

-तत्त्वसंग्रह भाष्य

-यायामृत

-मन्दारमञ्जरी टीका

-मायावादल्लण्डन भाष्य

-तत्त्वविवेक पर मन्दारमञ्जरी टीका

-तात्पर्य चन्द्रिका

-तत्र ताण्डव

-भेदोज्जीवन

-न्यायामृतपदतरंगिणी

-यायामृत प्रकाश

-युक्तिमल्लिका

-तत्त्व प्रदीप

-भाव विलासिनी

-मध्वसिद्धांतसार

-पदाथ सग्रह

-प्रमाण चन्द्रिका

-संन्यायमुक्तावली

-वादरत्नावली

-मध्वाचक्रकण्ठकोट्टार

-तत्त्वप्रकाशिका गुबयनीपत्र

-मध्वमुक्तालकार

-युक्तिमल्लिका

-तत्त्वप्रकाशिकाभावदीप

-चण्डमारत

सदभ ग्रंथ—

अधिकरण-सग्रह	—	निभयराम
अद्वैत ग्रह्य सिद्धि	—	मधुसूदन
अरली हिस्टी आव द वणव सेक्ट	—	डा० हमन्नद्राय चौधरी
अष्टसाहस्रिकाप्रनापारमिता	—	ए० एस० कीष द्वारा प्रकाशित
इण्डियन फिलासफी	—	डा० सव पल्ली राधाकृष्णन्
,	—	डा० सी० डी० शर्मा
ए का सटबिटव सर्वे आव उप		
निपदिक फिलासफी	—	रानाडे
एन आउट लाइन आव मध्य फिलासफी		डा० ए० के० नारायण
एन एंट्रोडक्शन आव चतुस्सूत्री मध्वभाष्य		डा० बी० एन० के० शर्मा
एन इंट्रोडक्शन टू पावररात्र	—	श्र डर
ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी	—	डा० एम० एन० गुप्ता
ए हिस्टी आव द्वैत स्कूल आव	—	डा० बी० एन० के० शर्मा
वेदात् एण्ड इटस लिटरेचर		
कठोपनिषद् भाष्य	—	शकराचाय
	—	रामानुजाचाय
सण्डन सण्ड छाद्य	—	श्रीहृप
गीताभाष्य	—	शकराचाय
	—	रामानुजानाय
गोविन्दभाष्य	—	दत्तेव विद्याभूषण
चतुर्थ बद्रोदय	—	कविवणपूर
छाद्रोग्य उपनिषद्	—	आनन्दगिरि
शाकरभाष्य टीका		
डेवलपमेण्ट आव संस्कृत एण्ड विज्ञयनगर		श्रीकण्ठ शास्त्री
तकभाषा	—	वेगव मिथ
तकसग्रह दीपिका	—	अन्तम भट्ट
तत्वत्रय	—	सोकाचाय
तत्व प्रदीपिका	—	चित्मुख्याचाय
तत्व मुक्ताकलाप	—	वेदातदगिक
तत्व सग्रह	—	शातरक्षित

शुभ-सूची

तात्पर्य दीपिका
थीडजम इन मेडिकल इडिया
दगदलोकी
द साय सिस्टम
द फिलासफी आव भेदाभेद
द्वत फिलासफी एण्ड इटस प्लेस
इन द वेदात्त
नागवमनछ दस्तु
नेष्वम्य सिद्धि
यायबुमुमाजलि
यायकन्दली
यायमूत्रभाष्य
यायमकर द
यायवातिक
रत्नावली
प्रेसीडेन्सियल एङ्ग्लिस डिलीवर एट
इण्डियन काप्रेस, आगरा
ब्रह्मसिद्धि
ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मसूत्र अनुभाष्य
ब्रह्मसूत्रअणुभाष्य टीका
ब्रह्मसूत्रभाष्य
ब्रह्मसूत्रभाष्य
भक्तमाल
सर्व सवादिनी
भारतीयतरवविद्या
भारतीयदगन
”
माहूष्य कारिका भाष्य
मध्व द्व व्यास
मराठी वाङ्मय आणि वण्णव सम्प्रदाय

मुदगनाचाय
कारपेटर
निम्बार्काचाय
ए० बी० कीय
पी० एन० श्रीनिवासचाय
एच० एन० राघवेद्राचार

किटल
सुरेश्वराचाय
उदयन
श्रीधर
वात्स्यायन
आनन्दबोध
उद्योतकर
नागाजुन
टी० एन० रामच द्रन

मण्डनमिथ
बादरायण
बल्लभाचाय
पुरपोत्तम
भास्कराचाय
शकराचाय
नाभाजी
जीव गोस्वामी
प० सुखलाल सघवी
वासुचपति मेरोला
आचाय बल्देव उपाध्याय
शकराचाय
वी० वैकोतराव
एस० एन० बनहट्टी

महाराष्ट्र मारस्वत	—	बी० एन० भाव
माध्यमिक धारिका	—	तामगात्र
माण्डूक्य धारिका	—	गौडपात्र
मिलित्प ह।	—	तम० यो० इ०, भाग ३५
त्रिंशु मोनिज्म एण्ड मनूरतिज्म	—	मन्महण्टर हरीमा
वागवासिष्ठ		
रेन भाव रिद्यमिज्म द्वा इडियन	—	डा० नागराज गर्मा
पिनागपी		
नकावतार	—	ताजिओ बघोतो
लघुभागवतामल	—	रूप गोस्वामी
वामनपुराण		
विवरुधुडामणि	—	दात्राचाय
पचदगी	—	विद्यारण्य
वेणुतकौस्तुभ	—	वेणुय वादमीरी
वेणुतकौस्तुभप्रभा	—	”
वेणुतमर	—	रामानुजाचाय
वेणुनसार	—	सत्पान
वेणुयमार सग्रह	—	रामानुजाचाय
वेणुतसिद्धा त्रभुवनमञ्जरी	—	गणधर मरस्वती
वष्णुविम गविम एण्ड माइनर	—	डा० आर० जी० भण्डारकर
गिनिजिपस सिस्टम्स		
यामयोगचरित	—	सोमनाथ
गास्त्रनीपिका	—	पायमारथि मिथ
गुडाद्वनमातण्ड	—	गिरिधर
श्रीमद्भागवतपुराण	—	
पत्रसम्भ	—	जीवगोस्वामी
मोप नारीरिक्	—	मवज्ञात्म मुनि
सास्पकारिका	—	ईश्वरकृष्ण
सद्धमपुण्डरीक	—	स० एन० केन
सवदगन सग्रह	—	माधवाचाय
सर्वाथसिद्धि	—	पूज्यपाद दबनदी
साग्य प्रवचन भाष्य	—	विद्यानभिधु

ग्रन्थ सूची

सिद्धान्तलेशसंग्रह

—

अपव दीशित

सुबोधिनी टीका

—

बल्लभ (भागवत पर)

श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य

—

शंकराचार्य

हिस्ट्री आव सस्कृत लिटरेचर

—

ए० ए० मेकडानल

त्रिस्वभावनिर्देशकारिका

—

वसुदेव

□□□

१

५१६५

२४